काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

हिंदी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय

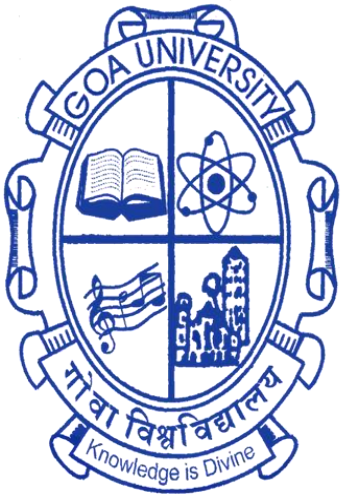

शोधार्थी

संदीप सो. लोटलीकर

जून - 2022

Declaration

I, Sandeep S. Lotlikar hereby declare that this thesis represents work which has been carried out by me and that it has not been submitted, either in part or full, to any other University or Institution for the award of any research degree.

Place: Taleigao Plateau.
Date:

Sandeep S. Lotlikar

Department of Hindi

Goa University, Goa

Certificate

We hereby certify that the above Declaration of the candidate, Sandeep S. Lotlikar, is true and the work was carried out under our supervision.

Research Guide
Prof. Ishrat Bi Khan
Former H.O.D.
Department of Hindi
Goa University
Taleigao Plateau - Goa

Co-Guide
Prof. Vrushali Mandrekar
H.O.D.
Department of Hindi
Goa University
Taleigao Plateau - Goa

प्रस्तावना

हिंदी के मूर्धन्य कथाकार काशीनाथ सिंह ने अपने कथा साहित्य में सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं का विस्तृत विवेचन किया है। समकालीन युग में भारतीय जनमानस में हो रहे बदलावों को वे अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में रेखांकित करते हैं। सन् साठ के बाद हिंदी कथा साहित्य में उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। इस दौरान जिन रचनाकारों ने अपनी अलग पहचान बनाई उनमें आपकी उपस्थिति महत्त्वपूर्ण है। काशीनाथ सिंह की रचनाओं में उनका अपना अनुभव संसार है जो बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है तथा उनकी कथा कृतियों में समाज में मौजूद अनेकानेक मुद्दों को गहराई के साथ उकेरा गया है।

काशीनाथ सिंह एक ऐसे रचनाकार हैं जो विगत छह दशकों से हिंदी साहित्य लेखन की दीशा में सक्रिय हैं। उन्होंने अपने लेखन का आरंभ कहानियों से किया था तथा अपने दौर के कहानीकारों में वे एक प्रमुख लेखक के रूप में उभर कर आए थे। रचनाकर्म के आरंभिक दौर में उन्होंने 'अपना मोर्चा' जैसा उपन्यास लिखा था। उसके बाद उन्होंने कई यादगार संस्मरण भी लिखे। अपने लेखन के उत्तरार्ध में उन्होंने कई सार्थक उपन्यासों की रचना की है। विशेष बात यह है कि वर्तमान समय में भी वे साहित्य लेखन में सक्रिय हैं और बराबर साहित्यिक चर्चा में बने हुए हैं। यह एक तरह से मेरे लिए आश्चर्य का विषय था क्योंकि उनके समकालीन लेखकों ने या तो लिखना बंद कर दिया था या फिर वे उतने क्रियाशील नहीं रहे थे।

काशीनाथ सिंह सही अर्थों में एक प्रयोगधर्मी रचनाकार हैं। विषय वस्तु ही नहीं बल्कि शिल्प विधान के क्षेत्र में भी उन्होंने नित्य नवीन प्रयोग किए हैं। भाषा को लेकर वे अत्यंत सतर्क लेखक रहे हैं। अपनी कहानियों में उन्होंने जिस गंभीर शैली से साहित्य सृजन किया था उसे वे 'कविता की नई तारीख' जैसी कहानी लिखकर तोड़ते हैं। आगे चलकर 'काशी का

अस्सी' उपन्यास में उनका हास्य-व्यंग्य शैली से भरा रूप सामने आता है। इस उपन्यास में उनकी रचनात्मकता का नया पहलू उभरकर आया है। प्रस्तुत उपन्यास की भाषा तथा कलेवर उनके अन्य उपन्यासों से एकदम अलग है। 'उपसंहार' जैसे उपन्यास में वे पौराणिक संदर्भों के माध्यम से उत्तर महाभारत कालीन कृष्ण जीवन की व्यथा को प्रस्तुत करते हैं। इस उपन्यास में रचनाकार का एक अलग रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके रचना संसार को देखकर यह अंदाजा लगाना कठिन है कि यह सारी रचनाएं एक ही लेखक की लिखी हुई हैं। वे एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने हिंदी कथा साहित्य को अपनी रचनात्मकता से समृद्ध किया है।

आज के संवेदनहीनता के ठंडे दौर में आत्मीयता, अपनत्व, आस्था और विश्वास जैसे मूल्य समाप्त हो रहे हैं। इसके बजाय अकेलेपन की त्रासदी, अजनबीपन, कुंठा, घुटन, हताशा, निराशा जैसी चीजें दिनोदिन बढ़ती जा रही हैं। शहरों तथा गांवों में रहने वाला व्यक्ति अपने आप में ही सिमटता जा रहा है। नव युग में विकसित प्रोद्योगिकी ने मनुष्य को अधिक से अधिक आत्मकेंद्रित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य को देखते हुए स्पष्ट होता है कि उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में सामान्य वर्ग से लेकर उच्च वर्ग के चरित्रों का उद्घाटन हुआ है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न आयामों को यथार्थवादी नजरिए से व्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में सामाजिक विसंगति, टूटते मूल्य, पारिवारिक विघटन तथा बिखराव, शोषण, उत्पीड़न, जातिगत समस्याएं आदि का वस्तुपरक चित्रण हुआ है।

साहित्य के मानदंडों को समझने के लिए समाज के सामूहिक जीवन, व्यवहार, आचार-विचार को जानना अपेक्षित है। समाज की संरचना में मूल्यों का विशेष स्थान होता है। विवेच्य

लेखक ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में नवमूल्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। उनकी रचनाओं में आधुनिक युग के विविध आयामों से हम रूबरू होते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। उपसंहार में शोध का निष्कर्ष दिया गया है। ये अध्याय निम्नलिखित हैं –

1.काशीनाथ सिंह: व्यक्ति एवं सृजन

2. समाज एवं संस्कृति: सैद्धांतिक विवेचन

3.काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य:सामाजिक पक्ष

4.काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सांस्कृतिक परिवेश

5.काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: भाषा-शैली

उपसंहार

शोधकार्य के प्रथम अध्याय में काशीनाथ सिंह का जीवन परिचय तथा कृतियों का परिचय दिया गया है। बनारस प्रवास के दौरान लेखक के साथ घूमने-फिरने एवं वार्तालाप करने का अवसर मुझे मिला था। बनारस नगर में अनेक लोगों से मेरी बातचीत भी हुई। काशीनाथ जी की पत्नी कुसुम देवी, अस्सी चौराहे पर रहने वाले उनके मित्रों-परिचितों, विद्यार्थियों एवं उनके मँझले भैया रामजी सिंह से भी मेरी लम्बी बातचीत हुई। इन लोगों के अलावा मैंने प्रो. नामवर सिंह से भी संपर्क किया जिनसे मुझे आवश्यक बातें ज्ञात हुई हैं। इस दौरान जो देखा-समझा गया उसे इस अध्याय में लिखा है।

शोध के द्वितीय अध्याय में समाज और संस्कृति के नियम निर्धारित किए गए हैं। इसमें समाज और संस्कृति की अवधारणा, अर्थ, परिभाषा, स्वरूप, समाज और संस्कृति के प्रकार, विशेषताओं का विवरण है।

तृतीय प्रकरण में काशीनाथ सिंह के कथा कृतियों के सामाजिक पक्ष को रेखांकित किया गया है। उनकी साहित्यिक रचनाओं में आधुनिक समाज में मौजूद आर्थिक समस्याएं, अर्थाभाव से जूझ रहे सामान्य व्यक्ति की पीड़ा तथा साधारण जनता की विवशता, घर परिवार में दांपत्य जीवन में आयी कटुता, आर्थिक विपन्नता के कारण पारिवारिक संबंधों में पनप रहा तनाव, अर्थगत अभावों से ग्रस्त परिवार, कामवासना के अपूर्णता के कारण संबंधों में आ रही तल्खी, यौन भावनाएं और सामाजिक दबाव, यौनिक भावनाओं के कारण उपजी समस्याएं, यांत्रिक जीवन से त्रस्त मनुष्य का अकेलापन, भारतीय समाज में विधवा जीवन की अंतराभिमुखता, निराशाग्रस्त व्यक्ति का एकाकीपन, युवा मन का रिक्तता बोध, वृद्धावस्था में अकेलेपन का दर्द, राजनीति का गिरता स्तर, आपातकालीन अन्यायपूर्ण नीति, क्रांतिकारिता का दिखावटीपन, नेताओं की अवसरवादिता, दांपत्य जीवन में उपेक्षित नारी, विधवा जीवन की त्रासदी, स्त्री जीवन की व्यथा, सामंतवादी मानसिकता एवं वंशवादी परंपरा, पतनशील सामंतवादी समाज, भयग्रस्त आम आदमी की व्यथा, निम्न वर्गीय समाज में व्याप्त विकृतियां, मनुष्य में नीहित मृत्यु भय, बेरोजगारी से चिंतित युवा पीढ़ी, बेरोजगारी के कारण फैला आक्रोश, युवा वर्ग में व्याप्त असंवेदनशीलता, देशज संस्कारों से कटता युवा वर्ग, आर्थिक विषमता और भ्रष्टाचार, प्रशासनिक एवं राजनीतिक स्तर पर बढ़ता भ्रष्टाचार, आधुनिक ढंग के स्वार्थी प्रेम की व्यंजना, प्रेम की अभिव्यंजना और जातीय संस्कार, स्वार्थांधता एवं पैसों का लालच, धन की चिंता में सुखों से वंचित जीवन, शैक्षिक परिवेश, विश्वविद्यालयों में फैली दुष्प्रवृत्तियां एवं छात्र आंदोलन, भाषा आंदोलन में आंदोलनकारियों का संघर्ष आदि समस्याओं

का निरूपण हुआ है। रचनाकार की कृतियों में समकालीन देशकाल का परिवेश स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। आपके कथा लेखन की विशेषता यह है कि उनकी रचनाओं में मनुष्य जीवन के विभिन्न आयाम जीवंत हो जाते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि लेखक युगीन परिस्थितियों के चित्रण में पूर्णरूपेण सफल हुआ है।

शोध प्रबंध के चतुर्थ अध्याय के अंतर्गत काशीनाथ सिंह के कहानियों एवं उपन्यास साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन है। इसके अंतर्गत ग्रामीण जीवन का कारुणिक पक्ष, गांव में गुजर-बसर कर रही जनता में उभर रही क्रांतिकारी चेतना, ग्रामीणजन में व्याप्त जातीय व्यवस्था, नगरीय संस्कृति, मानवीय मूल्यों का तेजी से हो रहा विघटन, टूटते मानवीय संबंध, यांत्रिक जीवन की त्रासदी, महानगरों में पनप रही अपसंस्कृति, प्रकृति और मनुष्य का पारस्परिक संबंध, विकास की अवधारणा और प्रकृति, जातीय दर्प की भावना, जातीय व्यवस्था में जकड़ा समाज, सामाजिक रूढ़ियां तथा अंधविश्वास, ईश्वर की अवधारणा, सड़ीगली मान्यताएं और अंधविश्वास, पितृसत्तात्मक संस्कृति, भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद, भूमंडलीकरण और बिखरते मानवीय मूल्य, सुदूर ग्रामीण इलाकों में बढ़ रहा उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव, लोक संस्कृति, बनारसी जीवन का लोकरंग, देशज जीवन पद्धति का लोप, बाजारवाद का उदय, विदेशी संस्कृति का वर्चस्व, मिथकीय परिप्रेक्ष्य, कृष्ण का कल्याणकारी रूप आदि विषयों पर चर्चा की गई है। काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य की खासियत है कि उनकी रचनाओं में सामान्य जनता की भी सक्रिय भागीदारी देखी जा सकती है। यही वजह है कि आपका साहित्य इतना प्रभावशाली तथा यथार्थ के निकट प्रतीत होता है।

पंचम अध्याय में लेखक के कथा साहित्य की कलात्मक विशेषताओं का विश्लेषण है। रचनाकार की कथा-यात्रा से गुजरने के बाद यह पता चलता है कि काशीनाथ सिंह हिंदी

साहित्य के बेहतरीन गद्य लेखकों में शुमार हैं। उनके गद्य का जो प्रारूप है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने लेखन कौशल के बदौलत वे हिन्दी के गिने-चुने गद्यकारों में विशिष्ट माने जा सकते हैं। आपकी कथा कृतियों की भाषा-शैली में निम्नलिखित बातों पर विमर्श हुआ है – कहानी और उपन्यास साहित्य की भाषिक संरचना, भाषा प्रवाह, शब्द सामर्थ्य एवं वाक्य विन्यास, मुहावरे एवं कहावतें, वाक्य विन्यास, शैली वैविध्य। शोध प्रबंध के अंत में उपसंहार के अंतर्गत समूचे शोध का निष्कर्ष दिया गया है।

काशीनाथ सिंह समकालीन कथा साहित्य में एक चर्चित एवं प्रतिष्ठित रचनाकार हैं। उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में आधुनिक युग के जीवन मूल्य उजागर हुए हैं। वर्तमान युग में देश में जो बदलाव आए हैं उन्हें आपकी रचनाओं में हम भली भांति देख सकते हैं। लेखन की उत्कृष्टता, परिवेश की जटिलता और मानवीय समाज और संस्कृति की विशिष्टता को दर्शाने वाली आपकी कथा कृतियां सही अर्थों में हिंदी साहित्य की धरोहर कही जा सकती हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबंध प्रो. इशरत ख़ान के निर्देशन में पूर्ण किया गया है। आपके मार्गदर्शन एवं प्रेरणा के कारण ही प्रस्तुत कार्य अपनी पूर्णता तक पहुँच सका है। प्रो. वृषाली मांद्रेकर भी मेरी मार्गदर्शिका रही हैं। उन्होंने समय-समय पर मार्गदर्शन कर मुझे सहयोग दिया है। हमारे महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. विकास पिसुर्लेकर के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूं। इसके अलावा मेरे समस्त सहयोगियों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूं।

इस शोध प्रबंध को पूर्णावस्था तक पहुँचाने में मुझे अनेक लोगों का बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इस प्रसंग में मैं परिवार के सभी सदस्यों को स्मरण करना चाहूँगा, जिनका सहयोग जीवन में प्रेरक तत्व रहा है।

इनके अलावा उन समस्त मित्रों, विद्वानों एवं शुभचिन्तकों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनका परोक्ष-अपरोक्ष रूप में मुझे सहयोग मिला है।

दिनांक: संदीप सो. लोटलीकर

काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

1. काशीनाथ सिंह – व्यक्ति एवं सृजन **1-52**

1.1 जीवन संदर्भ

1.2 चरित्र के विविध रूप

1.3 साहित्य सृजन के आयाम

1.4 साहित्यिक परिचय एवं पुरस्कार

संदर्भ सूची

2. समाज एवं संस्कृति: सैद्धांतिक विवेचन **53-84**

2.1 समाज:संकल्पना एवं स्वरूप

2.2 समाज:प्रकार एवं विशेषताएं

2.3 संस्कृति:अवधारणा एवं स्वरूप

2.4 संस्कृति: भेद एवं प्रवृत्तियां

संदर्भ सूची

3. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सामाजिक पक्ष **85-233**

3.1 पारिवारिक जीवन

3.2 स्त्री-पुरुष संबंध

3.3 अकेलेपन की त्रासदी

3.4 वृद्ध जीवन

3.5 राजनीतिक परिवेश

3.6 सामंतवादी व्यवस्था

3.7 आर्थिक समस्या

3.8 आम आदमी की पीड़ा

3.9 बेरोजगारी

3.10 युवा वर्ग में व्याप्त असंवेदनशीलता

3.11 भ्रष्ट व्यवस्था

3.12 प्रेम की अभिव्यक्ति

3.13 शैक्षिक परिवेश

संदर्भ सूची

4. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सांस्कृतिक परिवेश **234-342**

4.1 ग्रामीण परिवेश

4.2 नगरीय संस्कृति

4.3 प्रकृति और मनुष्य का पारस्परिक संबंध

4.4 जातीय संस्कार

4.5 सामाजिक रूढ़ियां तथा अंधविश्वास

4.6 पुरुष वर्चस्ववादी संस्कृति

4.7 भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद

4.8 लोक रंग

4.9 मिथकीय प्रयोग

संदर्भ सूची

5. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: भाषा-शैली **343-438**

5.1 भाषिक संरचना

5.2 शैली वैविध्य

संदर्भ सूची

उपसंहार **439-447**

संदर्भ ग्रंथ सूची **448-453**

आधार ग्रंथ सूची

सहायक ग्रंथ सूची

पत्र-पत्रिकाएं

कोश

1. काशीनाथ सिंह – व्यक्ति एवं सृजन

हिंदी कथा साहित्य में साहित्यकार काशीनाथ सिंह का योगदान उल्लेखनीय है। हिंदी रचनात्मकता को नई उर्वरा जमीन सौंपने का काम जिन रचनाकारों ने किया उनमें आपकी उपस्थिति देखी जा सकती है। उनकी कहानियों तथा उपन्यासों में उनका अपना अनुभव संसार बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है तथा उनके कथा वाड़मय में आधुनिक समाज एवं संस्कृति का दर्शन होता है। हिंदी साहित्यिक क्षेत्र में सातवें दशक में बदलाव की बयार बहने लगी थी। इस दौर में रचनाकारों की एक नई पौध लेखन कर्म में सक्रिय हो गयी थी। इस समय में हिंदी कथा लेखन में काशीनाथ जी ने अपनी एक अलग पहचान बनाई। उन्होंने हिंदी कथा के विकास में बहुमूल्य योगदान दिया है। पहले कहानीकार, फिर संस्मरणकार और बाद में एक उपन्यासकार के रूप में आपने हिंदी साहित्य जगत को समृद्ध किया है।

हिंदी साहित्य में आपको विशिष्ट शैली और प्रयोगात्मक क्षमता का रचनाकार माना जाता है। मार्क्सवादी विचारधारा एवं दर्शन की मान्यताओं के अनुसार मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निर्धारित करता है। अतः रचनाकार के सामाजिक अस्तित्व एवं परिवेश की ओर दृष्टिपात करना उचित माना जायेगा। आप जहाँ एक सामाजिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक चेतना के सजग रचनाकार हैं वहां पर आपकी सृजनात्मक चेतना सौन्दर्यबोधी आशंका से परिपूर्ण है । कहना न होगा कि यह सौन्दर्यबोधी सृजनात्मकता एक प्रकार से अपने अस्तित्व संघर्ष एवं परिवेशगत बोध की देन है ।

1.1 जीवन संदर्भ

किसी भी रचनाकार के साहित्य को ठीक से समझने के लिए उसके जीवन से परिचित होना आवश्यक होता है। रचनाकार की रचनाधर्मिता कहीं न कहीं उसके परिवेश की उपज होती है। विवेच्य रचनाकार भी अपने परिवेश से जुड़े हुए लेखक हैं।

1.1.1 जन्म, परिवार एवं परिवेश

लेखक का जन्म ग्रामीण परिवेश में हुआ था। बनारस शहर के लगभग पच्चीस मील के अंतर पर 'जीयनपुर' नामक एक छोटा-सा गाँव है। इसी गाँव में एक सामान्य किसान परिवार में दिनांक 1 जनवरी, 1937 को आपका जन्म हुआ । उनके पिता का नाम नागर सिंह था । नागर सिंह जीयनपुर के पहले मिडिल पास व्यक्ति थे। अपने पिता को याद करते हुए उन्होंने लिखा है "मेरे पिताजी मुदर्सिर थे। हम उन्हें बाबू बोलते थे। सीधे-सादे चुप्पा किस्म के आदमी। सोलह रूपये माहवार से नौकरी शुरू की थी उन्होंने। यह सदी जिससे हमारा अंत होने जा रहा है। उनके साथ शुरू हुई थी। सन् 84 में चौरासी साल की उम्र में चल बसे। उनकी कई खूबियां थीं। तेज इतना चलते थे कि उनके साथ चलनेवाले पीछे-पीछे दौड़ते से लगते थे। साल में कुछ एक मौकों पर हंस भी लेते थे। कभी बीमार नहीं पड़े, कोई दवा नहीं खाई, अस्पताल में मरने के सिर्फ एक दिन पहले गये अंतिम बार। एक बार सिला कुर्ता, धोती तब तक चलाते थे जब तक उसमें प्यौना और चकतियों के लिए जगह रहती थी। खुद सबुनाते और फींचते थे। बेटों की कमाई को कभी अपना नहीं समझा। कभी किसी से उधार नहीं लिया। मरे तो कफन और श्राद्ध के लिए पेंशन के पैसे छोड़कर।"[1]

लेखक के उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि उनके पिता एक स्वाभिमानी व्यक्ति थे। वे एक खुद्दार किस्म के चुपचाप रहने वाले आदमी थे। कह सकते हैं कि नागर सिंह के स्वभाव

की ये विशेषताएं उनके बेटों में भी उसी रूप में मौजूद हैं। चारित्रिक दृढ़ता उनके स्वाभिमान का मूलाधार रही है। अपने जन्मदाता सम्बन्धी संस्मरण विवेचन में वे आगे लिखते हैं- "उन्हें अपने बेटों पर गर्व था, लेकिन जाहिर नहीं करते थे । जब दूसरे उनके 'सौभाग्यशाली पिता' होने की चर्चा करते तो वे सिर झुका ऐसे सुनते जैसे उनसे कोई अपराध हुआ हो । कभी-कभी वे उनकी प्रशंसा सुनने की इच्छा से बेटों की भर्त्सना भी करते थे।"[२]

आपकी माता का नाम बागेश्वरी था । अपनी माँ के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है - "माँ पिताजी के एकदम उलट थी स्वभाव में भी आदतों में भी। नाम बागेश्वरी मगर अपढ़ । किसी की पढ़ाई का आतंक उस पर कभी नहीं देखा गया। बेटों को पढ़ाने के लिए गहना-गुरिया, बर्तन-भाड़ा सब कुछ बेचने को तैयार । अक्सर पिता ज़ी से झगड़ पड़ती इसके लिए । हमेशा खुशी, हँसी, उल्लास और उत्साह से भरी हुई । कोई ऐसा मौसम नहीं, कोई ऐसा मूरत नहीं जिसके लिए उसके पास गीत न हों । इतने कि रात बीत जाये और वे चूके नहीं । गाते-गाते रोती थीं और रोते-रोते गाने लगती थीं। कहानियाँ इतनी याद कि हर शामिल घराने से सारे बच्चे जुट जाते। अहिरान-लोहरान, कहरान कहीं भी चली जाती थीं उनके सुख-दुख में गाने बजाने । एकदम सरल और निश्छल । लोलार्क कुंड आने पर जब उसने देखा कि यहाँ लोगों को बुलाने के लिए नाम में 'जी' जोड़ते हैं तो वह हिन्दी विभाग के चपरासी को 'चपरासी जी' कहती थीं । हेलियों मेलियों से ही नहीं, कुंड पर आने वाले देशी-विदेशी लोगों से भी भोजपुरी में ऐसे बतियाती थीं जैसे एक जमाने का परिचय हो।"[३] आपके उपर्युक्त विवेचन एवं परिचयात्मक टिप्पणी में उनकी माताजी का सरल और निश्छल स्वभाव साफ झलकता है। उनकी मां में गांव के जीवन में पाती जाने वाली सरलता और गंवईपन था। जीवन की यही सरलता और गंवईपन का पुट आपके व्यक्तित्व में भी मौजूद है। वाराणसी जैसे शहर में रहने तथा विश्वविद्यालय की प्रोफेसरी के बावजूद उनमें गंवई संस्कार आज भी विद्यमान हैं।

बचपन में अपनी जन्मदात्री से मिले इन संस्कारों को वे बड़े ही जतन से अपने भीतर संजोए हुए हैं। लेखक से बातचीत करने से पता चलता है कि उन्हें अपने गाँव जीयनपुर से गहरा लगाव है । यहां की बात आते ही वे अतीत की स्मृतियों में खो जाते हैं और गाँव-देहात के किस्से सुनाने लगते हैं। कथाकार के व्यक्तित्व निर्माण में उनके गाँव जीयनपुर का योगदान उल्लेखनीय है । स्वयं के कथाकार बनने के संदर्भ में उन्होंने मुझे बताया कि – "जिसे हम प्रकृति कहते हैं उस प्राकृतिक सौन्दर्य से भरापूरा गाँव था । इसके सिवा शादी-ब्याह के मौकों पर, तीज-त्योहार पर कभी-कभी आते थे - नाई-कहार जो किस्से-कहानियाँ सुनाया करते थे - रात-रात भर। उन्हें सुनने में मेरी बड़ी दिलचस्पी थी । सोने से पहले मैं बराबर किस्से सुना करता था। वहाँ से जब शहर आया तो जाहिर है कि वे सारी यादें मेरे साथ आयीं। कहानी कहने का ढंग, कहानी कहने का शिल्प, ये उन्हीं नाई-कहारों से और माँ से मैंने सीखा । मुझे याद आ रहा है कि शुरुआत में मैंने एक कहानी लिखी थी - 'सुख' । और सुख कहानी में ताड़ों के पीछे डूबते हुए सूरज का दृश्य है । दरअसल वह कहानी लिखी गयी थी बनारस में लेकिन मेरी आँखों के सामने मेरे गाँव का डूबता हुआ वही सूरज था । इस कारण आप चाहे तो कह सकते हैं कि वे प्राकृतिक दृश्य, कहानी कहने की शैली, इन सबकी बड़ी भूमिका है – मेरे कथाकार होने में।"[4] यही परिवेश आज भी उनके साहित्य-सृजन की मूल धरोहर है । हर रचनाकार का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है जो उसके बचपन के अनुभवों से जुड़ा होता है। प्रारम्भ से ही देहात का सीधा-सादा और नैसर्गिक सौंदर्य से भरा पूरा जीवन उन्हें आकर्षित करता रहा है । जब भी वे अपने गाँव जाते हैं तब वहां के लोगों से बड़ी ही आत्मीयता के साथ मिलते हैं । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक होने पर भी खेतों में काम करने में उनका मन रमता था। इधर के लोगों से मिलने से उन्हें एक प्रकार की मानसिक तृप्ति मिलती है । इस सम्बन्ध में उनका कथन है – "गांव मेरी जिन्दगी का ऐसा हिस्सा है जिससे

मैं आज तक मुक्त नहीं हो पाया । आप शायद विश्वास न करें कि हिन्दी विभाग में अध्यापक होने के बावजूद जब मैं गाँव जाता था तो गन्ने की गुड़ाई करता था, गन्ने में पानी देता था, पानी चढ़ाता । इस जिन्दगी से इस तरह से जुड़ा रहा हूँ मैं कि ये चीजें बराबर मुझे हांट करती थी ।"[5]

आप परिवार में नागर सिंह और बागेश्वरी देवी के सबसे छोटे बेटे हैं । हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह उनके बड़े भाई हैं और रामजी सिंह मंझले भाई हैं । रामजी सिंह का जिक्र प्रसंगवश लेखक के लेखन में आया है । वे इस मामले में अपने दोनों भाइयों से एकदम अलग स्वभाव के हैं। बनारस प्रवास के दौरान मेरी रामजी सिंह से विस्तृत बातचीत हुई। इस बातचीत के दौरान उन्होंने मुझे बताया कि उन्हें लिखने-पढ़ने में बिल्कुल रुचि नहीं है। मोहल्ले के बच्चों के साथ गुल्ली-डण्डा खेलने में उन्हें विशेष रुचि थी । साहित्यकारों के बनावटीपन से वे बेहद चिढ़ते हैं। साहित्य में उन्हें कतई रुचि नहीं है, यहाँ तक कि काशीनाथ जी की कहानियाँ भी उन्हें अच्छी नहीं लगती। परन्तु उनका 'देख तमाशा लकड़ी का' संस्मरण तथा 'संतो घर में झगरा भारी' कथा रिपोर्ताज उन्हें विशेष पसंद है । लेखक के कुछ संस्मरण उन्हें विशेष पसंद आये हैं। रामजी भैया के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है – "मेरे मंझले भाई रामजी साहित्यकारों को निकम्मा, बेमतलब का, निरर्थक, फ़ालतू और गरजू समझा करते थे, वे कभी-कभी मुँह पर और कभी-कभी पीठ पीछे उनकी भयंकर भर्त्सना करते थे ।"[6]

1.1.2 साहित्यिक संस्कार

आपके अग्रज बंधू हिंदी साहित्य जगत् के सुप्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह हैं । नामवर जी उनके अग्रज बंधु होने के साथ-साथ अध्यापक भी रहे हैं । आपके साहित्यकार रूपी व्यक्तित्व निर्माण में नामवर जी का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है । स्वयं लेखक ने

स्वीकार किया है कि साहित्य के संस्कार तथा समर्पण का भाव उन्होंने नामवर सिंह से ही सीखा। अनेक स्थानों पर उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है। अपनी पुस्तक 'आलोचना भी रचना है' में उन्होंने लिखा है – "नामवर सिंह का भाई होने के नाते नुकसान चाहे जितना हुआ, लाभ यह हुआ कि साहित्य कर्म को मैंने गंभीरता से लेना सीखा । उसे पार्ट टाइम या शौकिया कभी नहीं समझा। साहित्य के प्रति समर्पण और पूर्ण समर्पण हमने उनसे सीखा ।"[7] विवेच्य लेखक को अपने बड़े भाई के कारणवश शुरू से ही साहित्यिक वातावरण प्राप्त होता रहा है । वे जब बनारस में रहते थे तब नामवर जी से मिलने तथा साहित्य संबंधी विचार-विमर्श करने के लिए उनके घर अनेक कवि-लेखक-रचनाकार आते रहते थे । इस दरम्यान उनका सम्पर्क कतिपय रचनाकारों तथा साहित्य में रुचि रखने वाले लोगों से होता रहता था। इस प्रकार निरंतर साहित्यिक माहौल में रहने के कारण उनके मन में भी हिन्दी साहित्य-सृजन के प्रति रुचि निर्माण हुई। साहित्य के विभिन्न विषयों पर उनकी अपने अग्रज भ्राता से बातचीत होती रहती थी । इस बातचीत के दौरान उन्हें साहित्य सम्बन्धी अनेक बातें सीखने को मिलती रहीं। प्रसंगवश रचनाकार ने इस वार्तालाप का ब्योरेवार वर्णन अपने संस्मरण 'गरबीली गरीबी वह' में किया है।

प्रारंभिक जीवन से ही आपकी रुचि कथा-साहित्य में अधिक रही है । लगभग उन्नीस सौ साठ के आस-पास वे लिखने लगे थे । यह उनके लेखन का आरम्भिक दौर था । उस दौर में डॉ. नामवर सिंह कहानियों पर लेख लिखा करते थे - 'हाशिए पर' । इस सम्बन्ध में नामवर जी ने मुझे एक रोचक किस्सा बयान किया जिसका उल्लेख यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा । उन्होंने बताया कि "उन दिनों मैं 'हाशिए पर' लिख रहा था, तब मज़ाक में मैंने एक दिन काशी से कहा कि अमरीकी साहित्य में दो लेखक हुए – हेनरी जेम्स और विलियम जेम्स, हेनरी जेम्स और विलियम जेम्स, दोनों भाई थे । विलियम जेम्स सायकॉलॉजिस्ट और फिलॉसॉफर थे, और

हेनरी जेम्स कथाकार थे। किसी पुस्तक में लिखा था कि फिलासॉफर विलियम जेम्स ऐसा गद्य लिखता था कि कहानी की तरह पढ़ा जा सके और कथाकार हेनरी जेम्स ऐसा गद्य लिखता था, लम्बे-लम्बे वाक्यों वाला, उलझा हुआ कि सरदर्द होने लगता था । तो मैंने कहा कि मैं आलोचक होते हुए 'हाशिए पर' के लेख लिख रहा हूँ और तुम कहानीकार होते हुए 'संकट' जैसी कहानियाँ लिख रहे हो । ये विडंबना दुहराई नहीं जानी चाहिए – हिन्दी में । शायद यह बात कहीं लगी होगी उनको और तब काशी अपनी भाषा और गद्य के प्रति बेहद सतर्क हो गये थे। ये नहीं कि मेरा अनुकरण किया बल्कि सीखा उन्होंने।"[8] इस तरह अपने कथा-सृजन में भाषा और गद्य के प्रति वे सतर्क होते गये तथा लेखन कला में परिपक्वता अर्जित करते रहे । जैसे कि हम पहले भी कह चुके हैं कि शुरू से ही रचनाकार की रुचि कहानियों में अधिक थी । आरंभिक दौर में वे कहानियाँ लिखते थे और भाई साहब के विचार जानने के लिए उन्हें अपनी कहानी दिखाते थे। वे लेखक की कहानियां पढ़ तो लेते थे लेकिन जगह-जगह सुधार हेतु पेंसिल से निशान अंकित कर देते थे। इस संदर्भ में उन्होंने अंकित किया है – "मैंने लग कर दो-तीन रातों में एक कहानी लिखी – छोटी-सी । मैंने बहुत कोशिश की लेकिन नाम नहीं सूझा। यह मेरा शुरुआती दौर था । जब कहानी बनती थी तो शीर्षक नहीं सूझता था और शीर्षक होता था तो कहानी नहीं बनती थी। मैंने उन्हें कहानी दी । जब पढ़ लिया तो बुलाया, 'देखो, मैंने कुछ नहीं किया है, कहानी को सिर्फ एक अर्थ दे दिया है । इसका शीर्षक है - 'सुख' । यही एक कहानी थी जिसमें पेसिल का कहीं निशान नहीं था । वरना वे पढ़ने के बाद अक्सर कहा करते कि ऐसे नहीं, ऐसे लिखा होता तो और बेहतर रहा होता, या इसमें सबकुछ है, कहानी नहीं है, या इसी थीम को जरा यूँ देखो, या इसका अंत ऐसा हो तो कैसा हो । मैं तंग आ जाता । उस आदमी को संतुष्ट कर सकना हमेशा मुश्किल रहा है मेरे लिए।"[9] लेखक इस बात को कबूल करते हैं कि आरंभिक लेखन-कार्य में आलोचक

नामवर सिंह को संतुष्ट करना उनके लिए अत्यंत दुष्कर कार्य रहा है । इस संदर्भ में उन्होंने बातचीत के दौरान बताया- "नामवर जी के दिल्ली जाने के बाद ही मैं सही अर्थों में स्वतंत्र होने लगा । उनके कारण मेरी जो प्रतिभा दब गयी थी या फिर उभरकर नहीं आ रही थी, उनके जाने के बाद वह सही अर्थों में प्रस्फुटित हो सकी। इस तरह मैं अपने विचारों को अधिक मुक्त रूप में प्रस्तुत कर सका ।"[10]

प्रस्तुत विवेचन में बताया जा चुका है कि कृतिकार के मँझले भैया रामजी सिंह अपने व्यवहार एवं चिंतन में अपने बड़े भाई से बिल्कुल अलग हैं । प्रस्तुत संदर्भ में हमें उनका कथन भी विशेष महत्त्व का लगता है । मैं बनारस में रामजी सिंह से मिलने गया था, बातचीत के दौरान जब मैंने इस संदर्भ में उनसे पूछा तो वे गंभीर से हो गये और उन्होंने बताया – "मैंने देखा कि काशी में प्रतिभा तो बचपन से ही थी। अपने विद्यार्थी काल से ही वे प्रतिभावान थे । काशी बचपन में हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी में कविताएं भी लिखते थे । काशी और नामवर तो पढ़ते रहते थे, लेकिन पढ़ाई में कभी मेरी रुचि नहीं रही । नामवर और काशी में अक्सर साहित्य को लेकर चर्चा होती थी, इस विषय में मुझे विशेष रस नहीं था । लेकिन एक बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि जिस तरह किसी वटवृक्ष के नीचे कोई पेड़ नहीं उगता कुछ ऐसा ही काशी के साथ हुआ । भैया (नामवर) के कारण इनका नुकसान हुआ है ।"[11]

प्रस्तुत संदर्भ में मैंने नामवर जी से उनके गोवा प्रवास के दौरान भेंटवार्ता की थी और पूछा था कि क्या आपको लगता है कि आपके कारण आपके छोटे भाई की प्रतिभा को उभारने का मौका नहीं मिल रहा था? इस संदर्भ में उनकी प्रतिक्रिया भी कम रोचक नहीं है। यथा – "कह सकता हूं कि उगते हुए उस अंकुर को स्वयं अपनी आँखों से मैंने देखा था । अब यह कहना कि मेरे व्यक्तित्व के कारण प्रभावित हुए हो, विकास में बाधा पड़ी हो इसका जवाब स्वयं

काशी दे सकते हैं । मेरी उपस्थिति से कितना लाभ हुआ और क्या हानि हुई इसका सही जवाब तो स्वयं काशी ही दे सकते हैं । मैं निष्पक्ष होकर इस पर कोई राय नहीं दे सकता । भाई के रूप में कोई उस तरह का दुराव नहीं था, लेकिन हम दोनों की उम्र में दस साल का फ़ासला तो था ही । हमारे साहित्यिक मित्र आते थे, हमारे साथ बैठते थे, सब कुछ करते थे । आमतौर पर काशी उन बैठकों में हिस्सा नहीं लेते थे । बाद के दिनों में जब कहानियाँ छपने लगीं तो कहानियों पर बातचीत होती, तब वे कहानियाँ पढ़ते थे । जैसे कि आप लोग जानते हैं- जब मेरी चिट्ठियाँ 'कहन' में छपेगी तो आपको लगेगा कि इस मामले में निर्मम आलोचक मैं हूँ । अपने लोगों के प्रति कुछ ज्यादा निर्मम होता हूँ, सख़्ती बरतता हूँ । इसलिए कि मैं कमज़ोरी की दाद नहीं दे सकता, पीठ नहीं ठोक सकता और यह मान के चलता हूँ कि कोई आदमी अगर इतना कमजोर है कि आलोचनाओं से टूट जायेगा, खत्म हो जायेगा तो फिर उसे लेखक होना ही नहीं चाहिए, यह मानकर मैं चलता हूँ । इन चीजों से उनकी बाढ़ रुकी हो, यह मैं नहीं मानता।"[12] आपके व्यक्तित्व निर्माण और कथा-लेखन संबंधी प्रारंभिक दौर के निर्माण क्षणों की जाँच पड़ताल जिज्ञासावश जब मैं आलोचक नामवर से कर रहा था, तब उनकी प्रतिक्रिया रही है कि "जिस प्रकार गजानन माधव मुक्तिबोध का संरक्षण एवं सहयोग उनके अनुज शरद मुक्तिबोध को प्राप्त होता रहा है लगभग वही प्रक्रिया नामवर सिंह की प्रेरणा प्रोत्साहन संदर्भ में सक्रिय दिखाई देती है । मुक्तिबोध बंधु सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना में सक्रिय रहे हैं । पर काशीनाथ सिंह आलोचना के बजाय कथा-लेखन एवं संस्मरण में सक्रिय हुए हैं । लेकिन जो प्रगाढ़ स्नेह और आत्मीय भाव नामवर सिंह के सतर्क नेत्रों में दिखाई पड़ रहा था वह क्षण उनके आलोचक स्वरूप से बिल्कुल भिन्न ध्रुवान्त का रोमांचक क्षण रहा है। नामवर सिंह अपनी बात कहने और लिखने में अत्यधिक सतर्क रहते हैं। पर अनुज के प्रति आत्मीय भाव उनके नेत्रों में छलक ही गया।"[13] यह भाव पार्थक्य संबंधी निरीक्षण तथा एक

आलोचक द्वारा अपने अग्रज आलोचक के मनोविश्लेषण की थाह का क्षण रहा है । जिस लेखक को आलोचना के शिखर पुरुष के रूप में 'लौह प्रतिमा' माना जाता है उनके सीने में भाई के रूप में कोमल और संस्पर्शी हृदय है इसकी गवाही उपर्युक्त भाव-विवेचना में देखी जा सकती है।

दरअसल लेखक का अपने भ्राता के प्रति भातृ प्रेम विलक्षण तथा औरों के लिए अनुकरणीय रहा है। इन तीनों भाइयों में जो भातृत्व भावना है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वर्तमान समय में देश में जहां रिश्ते-नाते बेहद कमजोर होते जा रहे हैं, वहां इन भाईयों का आपसी बंधु प्रेम किसी सूखते हुए तालाब में खिले कमल जैसा प्रतीत होता है। एक बड़े भाई का अपने छोटे भाई के प्रति चिंता और प्रेम उनके द्वारा विवेच्य लेखक को लिखे गए पत्रों में व्यक्त हुआ है जो उन्होंने काशीनाथ जी को समय-समय पर लिखे थे। रचनाकार ने नामवर सिंह के पत्रों को 'काशी के नाम' पुस्तक में संकलित किया है।

आपके छोटे सुपुत्र सिद्धार्थ सिंह ने इन तीनों बंधुओं के बीच के प्रेम को लेकर बड़ी मार्मिक बात कही है – "माँ बचपन से एक बात बताती हैं कि जब वे पापा से ब्याह कर घर पर आयीं तो पापा ने जो पहली बात उनसे कही थी, वह थी 'देखिये, मैं किसी भगवान को तो मानता नहीं हूँ। मेरे लिए जो कुछ भी हैं, वे मेरे भैया हैं, उन्हीं को मेरा भगवान समझ लीजिए। ध्यान रखियेगा, कभी उनको कोई कष्ट न हो।'

नामवर बाबू जी का स्वास्थ्य, उनकी खुशियां, उनकी चिंताएं, उनके जीवन के हर उतार-चढ़ाव पापा और रामजी बाबू जी के जीवन का अभिन्न अंग हैं और हम लोगों को तो उनका पूरा व्यक्तित्व ही अतर्कावचर रहा है। यह बात हम सभी भाई-बहन पूरे विश्वास से कह सकते हैं कि नामवर बाबू जी का जो सम्मान हम सभी के दिल में है उसमें उनके बड़ा आदमी होने या

महान आलोचक होने की कोई भूमिका नहीं हैं, बल्कि पापा के दिए गए संस्कारों की भूमिका है। नामवर बाबू जी कुछ नहीं होते, कुछ भी नहीं होते तो भी इन संस्कारों के साथ हम उन्हें उतनी ही श्रद्धा देते । भाइयों के प्रेम का इससे बड़ा उदाहरण इस दुनिया में कोई दूसरा होगा, संभव नहीं लगता। होगा भी तो अब तक की उम्र में मुझे तो दिखाई नहीं पड़ा। अभी कुछ ही दिनों पहले घर में एक रोचक वार्तालाप देखने को मिला। रामजी बाबू जी और पापा गंभीर हो कर चर्चा कर रहे थेः 'का हो काशी, यदि भैया दू-तीन महीना के लिए बनारस आ जातें त हम दूनों भाई ओनकर गोड़-हाथ देबा कर सेवा कर देवल जात।'

राम जी बाबू जी की उम्र चौरासी वर्ष और खुद का स्वास्थ्य भी कुछ अच्छा नहीं पापा की उम्र छिहत्तर साल और एक जबरदस्त व्यवस्थित दिनचर्या के आदतीय और दोनों वृद्ध बड़ी मासूमियत से आपस में बातें कर रहे हैं कि बड़े भाई के हाथ-पांव दबा कर सेवा करने का मौका मिल जाता तो कितना अच्छा होता। बात सुनने-देखने वाले की आंखों में आंसू छलक जाएं। आज भी यदि नामवर बाबू जी को छींक भी आने का समाचार दिल्ली से बनारस पहुंच जाता है तो तूफान मच जाता है। रामजी बाबू जी और पापा में मंत्रणा शुरू हो जाती है कि दिल्ली चला जाए क्या? नमवर (नामवर बाबू जी के परम प्रिय मित्र, उन्हें डांटने का पेटेंट अधिकार रखने वाले, विख्यात वकील नगेन्द्र प्रसाद सिंह उन्हें नमवर कहते हैं) कहने वाले, खुद नब्बे साल के, वकील बाबू जी का फोन भी आने लगता है। तीनों भाई लोग ऊँचा सुनने लगे हैं, हम लोगों का खानदानी गुण है बुढ़ापे में केवल अति आवश्यक बातों को सुनना। राम जी बाबू जी और पापा में जब तक नामवर बाबू जी पर बात होती है, दोनों एक दूसरे को बराबर सुनते हैं, उसके बाद 'गूंगा-बहिरा क सनेस' (अम्मा के शब्दों में) शुरू हो जाता है ... पापा प्रायः हर इंसान की तरह ही एक बेटा, भाई, पति, पिता और बाबा आदि हैं और हर भूमिका में

उन्होंने भरसक न्याय करने की कोशिश की है, लेकिन भाई के रूप में जो उनका रूप रहा है, वह विराट है।"[14]

1.1.3 शैक्षिक उपलब्धियां

लेखक की आरम्भिक दौर की पढ़ाई उनके पैतृक गांव जीयनपुर में हुई है । यहां के 'अमर शहीद विद्या मंदिर' से हाईस्कूल पास करने के बाद सन् उन्नीस सौ तिरपन में वे अपने मंझले भैया के साथ बनारस आये। शहर आने के बाद यह क्षेत्र उनके शिक्षा-दीक्षा का केंद्र बन गया । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् 1949 से लेकर सन् 1964 तक वे 'ऐतिहासिक व्याकरण कार्यालय' में शोध-सहायक रहे । 'हिन्दी में संयुक्त क्रियाएं' विषय पर उन्होंने शोध-प्रबंध लिखा, प्रस्तुत शोध प्रबंध पर उन्हें सन् 1963 में विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि प्रदान की गयी । सन् 1964 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में उन्हें अस्थायी तौर पर 'लेक्चररशिप' मिल गयी । उसके बाद जुलाई 1965 में उन्हें पुनः प्राध्यापक पद पर नियुक्त किया गया । इस बीच उन्हें अनेक संघर्षों से भी गुजरना पड़ा। इन संघर्षों तथा आर्थिक परेशानियों की चर्चा लेखक ने अपने संस्मरण 'गरबीली गरीबी वह' में की है। आप सन् 1965 से लेकर सन् 1996 तक बी.एच.यू. के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक से लेकर प्रोफेसर के रूप में कार्यरत रहे । सन् 1991 से लेकर सन् 1994 तक हिन्दी विभाग में वे आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर बने रहे । एक समय वह भी था जब इसी विश्वविद्यालय से आपके अग्रज बंधू को निष्कासित किया गया था । यह भी नियति का खेल ही कहा जायेगा कि जिस यूनिवर्सिटी से अपनी तमाम प्रतिभाओं एवं योग्यताओं के बावजूद नामवर जी को निष्कासित किया गया था, उसीमें उन्हीं के छोटे भाई हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर आसीन हुए और दिसम्बर 1996 में वे सेवानिवृत्त हो गये। यहां से निवृत्त होने के बाद भी वे अपने साहित्य

सृजन में सदैव तत्पर रहे हैं। साहित्य उनकी श्वास और प्रश्वास में निहित है। वर्तमान समय में भी आप अपने लेखन में सक्रिय हैं ।

1.2 चरित्र के विविध रूप

कहा जाता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ही उसके चरित्र, व्यवहार और कृतित्व का परिचायक होता है । मनुष्य की आकृति हाव-भाव, चाल-चलन, व्यवहार से उसके व्यक्तित्व की थाह पायी जा सकती है । रचनाकार के अग्रज बंधू का व्यक्तित्व एक गंभीर शैल-शिखर का आभास देता रहा है, समुद्र में तैरते हुए ग्लेशियर जैसा आभासित होता है । यह उनके गंभीर व्यक्तित्व का बाहरी लक्षण है। लक्ष्य-लक्ष्य लहरें रूपी भाव विक्षुब्ध है, लेकिन शब्द-शब्द विस्तृत में सावधानी। जबकि विवेच्य रचनाकार का व्यक्तित्व एक शांत, प्रकृत, निर्झर झरने की तरह कल-कल बहता हुआ जैसे कोई सोया हुआ ज्वालामुखी और दूसरा रेगिस्तान के भीतर प्यासी आत्माओं के लिए मीठे पानी का झरना। इन दोनों भाइयों के व्यक्तित्व रूपक सादृश्य कहे-अनकहे में रोमांचित कर देता है।

1.2.1 व्यक्तित्व की खूबियां

काशीनाथ सिंह वैसे तो बड़े ही गंभीर भाव से बोलते हैं लेकिन उनके स्वभाव में एक खास तरह का खिलंदड़ापन भी मौजूद है। अंग्रेजी में जिसे 'विट्' कहते हैं, यह भाव उनमें विद्यमान है। दरअसल उनका अंदाज-ए-बयां ही अलग है, यही वजह है कि उनसे बातें करते हुए सुखद अनुभव होता है। आपके स्वभाव की कुछ विशेषताएं हैं जिसका जिक्र उनके बड़े बेटे पुरुषार्थ सिंह ने किया है – "पिताजी हमेशा अपनी शर्तों पर जीने में विश्वास रखते हैं चाहे इसका नुकसान किसी दूसरों को ही क्यों न उठाना पड़े। पिताजी का शुरू में इस बात में गहरा विश्वास रहा है कि जीवन एक मिला है उसे भरपूर जीना चाहिए, और ये जीवन में लोगों के

आने की खुशी तो भरपूर मनाते हैं मगर इनके जीवन से चले जाने वाले का गम मनाते मैंने कभी नहीं देखा। जीवन जीने की कला लाख कोशिश के बाद भी ज्यादातर लोग नहीं सीख पाते और मुझे यह पूरा विश्वास है जो पिता जी को करीब से जानते हैं वे इस बात को मानेंगे।

ज्यादातर लोग पैसा कमाने और गंवाने के घनचक्करों में परेशान रहते हैं या अपने स्वास्थ्य, बेटे-बेटियों, पत्नी की परेशानियों को अपने गले में हार समझ कर जहरीला सांप लपेटे घूम रहे होते हैं पर पिता जी ने पैसे जैसी चीज को केवल जीवन चलाने का जरिया समझा । स्वास्थ्य अस्सी से लंका और लंका से सुन्दरपुर पैदल चलकर ठीक रक्खा, बेटे-बेटियों को कभी चाह कर पैदा नहीं किया वो तो बस चाहे अनचाहे पैदा होते चले गये पल और बढ़ तो खुद ही जाएंगे और परेशानियों को खुद ही देखना समझना सीख जाएंगे, जो शायद कुदरती तौर पर हुआ भी। पत्नी घर देखभाल और बच्चों को पालने के लिए होती है उसको ज्यादा महत्त्व देना खुद की खुशियों को ग्रहण लगाने जैसी बात होती है, तो अब बताइये, दुःख और परेशानी की गुंजाइश कहां रहती है? पिताजी को तीन चीजें बेहद अजीज है सोना, पढ़ना-लिखना और अपने शिष्यों और मित्रों से गप्पे करना। यदि इन कामों में से किसी एक को भी कर रहे हों और उस वक्त उनके पास या कमरे में आग भी लग जाये तो वे फौरन जगह बदल देंगे मगर आग बुझाने की जहमत उठाने की कोशिश नहीं करेंगे और अगर आग फैलते-फैलते उस दूसरी जगह पर भी आ गयी तो वो फौरन तीसरी जगह चले जायेंगे। यही बात मेरी मां अक्सर कहती है कि जब पिताजी इन तीनों में से किसी एक में व्यस्त होते थे और उस दौरान हम भाई-बहन बचपन में उनके सामने गूह-मूत के लिपटे भी रहे हो तो पिताजी यह देखते हुए भी यथावत आना काम जारी रखते थे।"[15] लेखक के व्यक्तित्व को सिद्धार्थ सिंह इस प्रकार व्यक्त करते हैं - "पापा ने अपनी जिंदादिली, मस्ती और खिलंदड़ स्वभाव से कभी समझौता नहीं किया, न तो

विश्वविद्यालय की प्रोफेसरी या विभागाध्यक्षी आड़े आयी और न ही परिवार । उनका मूल तत्व किन्हीं भी परिस्थितियों में मस्ती और हास्य ढूंढ लेना है और उनके भीतर के कहानीकार के लिए यही ईंधन का काम करता है। पापा को प्रारम्भ से ही मस्ती भरे किशोर कुमार, गीता या आशा भोंसले के गाने पसंद रहे हैं और नामवर बाबू जी को पंडित भीमसेन जोशी, पंडित जसराज का शास्त्रीय संगीत और मेंहदी हसन की गजलें। ये पसंदगी ही बहुत कुछ कह देती है कि किसको लेखक बनना था और किसको आलोचक। हालाँकि माँ बताती हैं कि अस्सी के लोलार्क कुंड पर रहने के दिनों में पापा और चौथीराम चाचा जी ध्रुपद मेला (तुलसी घाट पर होने वाला विख्यात शास्त्रीय संगीत समारोह) के दौरान पूरी--पूरी रात ध्रुपद गायन सुनने के लिए गायब रहते थे। पापा के संगी-रुझान को देखते हुए मुझे शक है कि वे वास्तव में संगीत के ही लिए गायब रहते थे या उनके लिए यह एक स्वर्णिम अवसर होता था छह बच्चों (जिसमें हमारी समीक्षा दीदी भी शामिल थीं, जो इंटरमीडिएट के बाद नामवर बाबू जी के पास चली गयीं) समेत पूरे परिवार के कौवा-झामर से बच कर पूरी रात आवारगी करने का। यह फ़क्कड मस्ती ही पापा का निर्वाण है, मोक्ष है, कैवल्य है और इन सबके ऊपर, उनकी प्राणवायु है।"[16]

1.2.2 शारीरिक गठन एवं अभिरुचि

गोवा-विश्वविद्यालय में हिन्दी एवं कोकणी विभाग द्वारा संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी एवं आत्मकथा आदि साहित्यिक विधाओं पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ था, जिसमें विवेच्य कथाकार आमंत्रित थे। गोवा विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में उनके कतिपय व्याख्यान आयोजित किए गए थे। तब हमने पहली बार लेखक को प्रत्यक्ष रूप में देखा था । निखरा हुआ गेहुंआ रंग, लंबा कद, इकहरा शरीर, सिर पर पतले होते सफेद बाल, सफेद दाढ़ी । धोती और कुर्ता पहने, आँखों में चश्मा लगाये, अधरों पर पान की ललाई और पान खाते हुए वे

विभाग में चले आ रहे थे। एकदम सीधे चलने की आदत। बनारस में भी मैं उनके साथ गोदौलिया, अस्सी-चौराहे, लोलार्क कुण्ड घूमा हूँ । जितनी देर तक हम घूमते रहे मैंने देखा कि एक समान गति से बिल्कुल सीधे चलने की उनकी आदत है, कहीं भी लचीलापन देखने को नहीं मिलता। उनकी यह चलने की आदत बेहद आकर्षित करती है। अपने भ्रमण के दौरान वे लेखन संबंधी सूत्र संजो लेते हैं। जितने समय तक मैं उनके संपर्क में रहा उसमें एक चीज मैंने गौर की कि वे बनारसी पान के विशेष शौकीन हैं। गोवा विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में जब आप व्याख्यान देने कक्षा में आये थे तब भी कुछ ही देर पहले पान खा चुके थे। अधर और जीभ बिल्कुल लाल थी। वे जब अपना व्याख्यान दे रहे थे तब उनके दाँतों में पान के कुछ टुकड़े फँस जाते थे, उन फंसे हुए टुकड़ों को वे कुर्सी के पीछे धीरे से फेंक देते थे। यह बात हम सभी छात्रों को बड़ी मजेदार प्रतीत हुई थी। क्योंकि पान खाते हुए कक्षा में बोलने वाले अध्यापक को गोवा के विद्यार्थी संभवतः पहली बार देख रहे थे । शायद हम जिस क्षेत्र में रहते हैं वहाँ यह प्रचलन अत्यंत विरल रूप में होने के कारण ऐसा लगा हो। आप बनारसी पान के बड़े शौकीन हैं। उनके पान खाने की आदत को लेकर उनकी बेटी रचना ठाकुर लिखती हैं – "पापा की एक खास आदत है, वह आपसे कोई बात शुरू करते हैं और जब आप कुछ कह रहे हों तो मुंह में पान भरे हुए वह अचानक कहेंगे 'जरा रुको तो' और पान थूकने चले जाएंगे। अब आप अपनी बात पर 'पॉज़' लगाए उनके आने का इंतजार कीजिए। पापा की इस आदत पर सबसे अधिक अम्मा नाराज होती हैं – हमेशा तो मुंह में पान भरे रहते हैं।"[17] उनकी इसी आदत को लेकर कथाकार देवेंद्र इस प्रकार बयान करते हैं – "किसी छात्र की एकदम निजी बात गौर से सुनते हुए बीच में अचानक उठ कर थूकने चले जाते और इतनी देर बाद लौटकर आते कि तब तक वह सीरियस बात दम तोड़ देती। घर की एकदम गम्भीर समस्याओं में भी उनकी यही शैली।"[18] मैं लेखक से मिलने वाराणसी उनके घर नं गया था । शाम के वक्त हम

उनके सुंदरपुर वाले घर से टहलते हुए अस्सी चौराहा पहुँचे । इस दरम्यान मेरी उनसे खूब सारी बातें हुईं। उन्होंने बताया कि इसी तरह पैदल चलना उन्हें ज्यादा अच्छा लगता है और चलते-चलते बातें करना उन्हें विशेष प्रिय है । बातचीत के दौरान उन्होंने बताया कि, "मैंने पाया कि इत्मीनान से बैठकर लिखना मेरे लिए संभव नहीं है । सोचने की प्रक्रिया चलने के क्रम में होती रहती है। बैठकर सोचना मुझे बहुत मुश्किल लगता है । चलता रहता हूँ तो दिमाग काम करता रहता है । मुझे क्या लिखना है उसी दौरान सूझता है और ढेर सारे सूत्र ऐसे मिलते हैं, जिन्हें मैं चलने के दौरान, पद यात्रा के दौरान ही सोच पाता हूं। कभी-कभी ट्रेन में सफर करते हुए भी वे बातें मेरे दिमाग में घूमती रहती हैं ।"[19] रचनाकार से मेरी बातचीत लगभग पूरा रास्ता तय होने तक होती रही। उन्होंने विभिन्न विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये। उनके साथ कुछ दिनों तक संपर्क में रहने के बाद लगा कि वे मात्र साहित्य पर ही नहीं बोल रहे बल्कि बातचीत के लिए उनके पास विषयों की कमी नहीं है। जिसमें राजनीति, भारत की आर्थिक स्थिति, बनारस के लोग, फिल्म-अभिनेता के साथ-साथ साहित्य के विभिन्न रोचक किस्से भी मौजूद हैं। एक बात मैंने अनुभव की कि उन्हें फिल्मों में भी अच्छी खासी रुचि है। फिल्में देखना वे पसंद करते हैं। इसका उल्लेख उन्होंने अपने संस्मरण में भी एकाध प्रसंग में किया है । ऐसा नहीं है कि वे मात्र कलात्मक फिल्में देखना ही पसंद करते हैं बल्कि व्यावसायिक फिल्में भी उन्हें उतनी ही पसंद हैं जितनी कि कलात्मक फिल्में । हिन्दी फिल्मों के प्रसिद्ध चरित्र अभिनेता 'बलराज साहनी' उनके प्रिय अभिनेता हैं। बलराज साहनी की फिल्में आपको विशेष रूप से पसंद आती हैं। मनोज वाजपेयी के अभिनय की उन्होंने विशेष प्रशंसा की थी। हिंदी फिल्मों से सम्बन्धित अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि, "मनोज वाजपेयी और आशुतोष राणा जैसे अभिनेताओं ने अपने अभिनय से फिल्मों में एक प्रकार से

अभिजात्य को तोड़ा है । सुदूर गाँव से आने के बावजूद ये लोग हिन्दी फिल्मों में सफल हुए हैं । इन कलाकारों का इस क्षेत्र में सफल प्रवेश भविष्य की ओर संकेत करता है।"[20]

आप बचपन में अध्ययन के साथ-साथ खेलकूद में भी रुचि रखते थे । बाल्यकाल के दिनों में वे कबड्डी के अच्छे खिलाड़ी भी रहे हैं । यह उनका सबसे प्रिय खेल रहा है। बच्चों के साथ कबड्डी खेलने में उनका मन विशेष रमता था । ऐसा नहीं है कि बाल्यावस्था में उन्हें केवल खेलकूद में ही रुचि थी, खेलकूद के साथ-साथ वे अध्ययन में भी गहरी रुचि रखते थे । शुरुआत से ही वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत जैसे विषयों में अच्छे नंबर प्राप्त करते रहे हैं। अगर किसी विषय से बैर था, तो वह था गणित । गणित शास्त्र में वे अक्सर फेल हो जाते थे । इस विषय में वे बेहद कमजोर थे और गणितीय आंकड़ों से हमेशा भयभीत रहते थे । इस संदर्भ में ध्यान देने लायक बात यह है कि संख्याओं के गुणा भाग में भले ही वे फेल हो गए हों लेकिन साहित्य के अंक गणित में वे उत्तीर्ण हो गये और वह भी अच्छे नंबरों से। गणित के रूक्ष नंबरों से दूर रहते हुए उन्होंने अपने कर्मक्षेत्र के लिए मनुष्य के हृदयगत स्पंदनों को अभिव्यक्ति देना अधिक उपयुक्त समझा। उनके समग्र साहित्य में मनुष्य के विविध रूप स्पष्टता से दृष्टिगोचर होते हैं।

1.2.3 अध्यापकीय व्यक्तित्व

आप केवल सफल कथाकार ही नहीं बल्कि वे एक सहृदय इंसान और लोकप्रिय अध्यापक भी रहे हैं । आजकल के विश्वविद्यालयीन माहौल में ऐसा व्यक्तित्व मिलना विरल है। उनके विद्यार्थियों से बातचीत के दौरान पता चला कि वे अपने छात्रों में एक सहृदय और संवेदनशील अध्यापक के रूप में जाने जाते हैं। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शिष्यों के चहेते शिक्षक रह चुके हैं। आपके अध्यापन कार्य सम्बन्धी बनारस के एक छात्र ने बातचीत के

दौरान मुझे बताया कि, "कक्षा में पढ़ाते समय वे धीरे-धीरे तथा सोच-विचार कर ही अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। बोलते समय वे बेहद सतर्क रहते हैं । विषय के साथ एकरूप हो जाते हैं । व्याख्यान को प्रस्तुत करते समय उनका ध्यान शब्दों की सुंदरता एवं सटीकता पर अधिक रहता है । उनकी कोशिश हमेशा से यह रही है कि जो कुछ बोला जाये वह सार्थक हो।"[21] लेखक के व्यक्तित्व सम्बन्धी मेरी उनके कतिपय शिष्यों से भी बातचीत हुई। आपके व्यक्तित्व को लेकर कुछ महत्त्वपूर्ण बातें मुझे उनसे ज्ञात हुईं । यथा "ऐसा नहीं है कि उनके विद्यार्थी होने के नाते बातचीत का विषय मात्र साहित्य होता है बल्कि किसी भी विषय पर उनसे बातें हो सकती हैं । राजनीति पर, आर्थिक समस्याओं पर, पारिवारिक समस्याओं पर, यहाँ तक कि नितांत व्यक्तिगत समस्याओं पर भी उनसे बातें होती रहती हैं । काशीनाथ सिंह जैसा सहज और सरल व्यक्तित्व मिलना अत्यंत कठिन है । उनका व्यक्तित्व इतना सरल और सहज है कि पता ही नहीं चलता कि हम लोग उनके शिष्य हैं और वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रह चुके हैं । अन्य अध्यापकों के साथ जहाँ एक दूरी सदैव बनी रहती है वहाँ काशीनाथ सिंह के साथ वैसी दूरी नहीं रहती, सम्बन्ध जैसे दोस्ताना हो जाते हैं । यही उनके व्यक्तित्व की खासियत है।"[22]

आपके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में मेरी प्रो. कमलाप्रसाद से भी वार्ता हुई थी । इस संदर्भ में उन्होंने बताया कि, "आज जहाँ हिंदुस्तान में सखाभाव गायब हो रहा है, उन्मुक्त निरलंकृत भाव से अपने आप को खोलने की प्रवृत्ति का लोप हो रहा है वही सारी महत्वाकांक्षाओं तथा दुरभिसंधियों को छोड़कर मिलने वाला आदमी है – काशीनाथ सिंह। जहां लोग चाहते हैं कि अपने व्यक्तित्व से सामने वाला व्यक्ति प्रभावित हो और उसके दबाव में आ जाए वही काशीनाथ एक ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने व्यक्तित्व से दूसरों को भयभीत नहीं करते बल्कि एकदम सामान्य रूप से पेश आते हैं । यही वजह है कि उनसे मिलना हमेशा एक सुखद

अनुभव रहा है ।"[23] प्रोफ़ेसर कमला प्रसाद जी के वक्तव्य से पता चलता है कि आप अपने मित्रों, लेखकों एवं शिष्यों से सम्यक सखाभाव से मिलते रहे हैं ।

कहना न होगा कि लेखक उन अध्यापकों में शामिल नहीं है जो अपने आप को विश्वविद्यालयीन कक्षाओं तक ही सीमित रखते हैं और उसके बाहर अपनी जिम्मेदारियों के प्रति ईमानदारी नहीं बरतते। प्राध्यापकों को अपने उत्तरदायित्व के प्रति अवगत कराते हुए उन्होंने लिखा है – "1. अन्य पेशों की तरह अध्यापन पेशा नहीं है। 2. कक्षा का अध्यापन ही अध्यापन नहीं है। ये बातें अभिन्न हैं। अध्यापन अंशकालिक रोजगार नहीं, एक घंटे के लंच की छुट्टी के साथ दस बजे से साढ़े चार बजे तक अफसरी नहीं, समूचा जीवन चक्र है । छात्र कक्षा में ही नहीं, सड़क, फुटपाथ, मैदान, बाजार और शहर में भी होते हैं और कक्षा में कही हुई बातों को प्राध्यापकों के आचरण में भी देखना चाहते हैं। बाहर और भीतर के बीच किसी भी तरह का अंतर्विरोध अध्यापक की असलियत का पर्दाफ़ाश करता है और कौन जाने कि बाहर का अध्यापन कक्षा के अंदर के अध्यापन से अधिक स्फूर्त, सच और जीवंत हो। इसी तरह बेहतर हो, प्राध्यापक अपने अन्तर्विरोधों और मुक्त-चितंन के संकट को छिपाने के बजाय ईमानदारी से खुलकर कहे। उनका कर्मक्षेत्र केवल निर्धारित पाठ्यक्रम पढ़ाना नहीं है । अपने स्वार्थ या वेतनमान के लिए अधिकारी के सम्मुख घिघियाना-भर नहीं है, किसी वैचारिक आदर्श के लिए चलने वाले संघर्ष में शरीक होना नहीं है । यह मात्र सुविधाजनक भगोड़ापन है – क्योंकि विचार या आदर्श आकारहीन नहीं होता, उसका आकार है आदमी और आदमी के विरुद्ध किसी लोलुप साजिश को उघाड़ना और जनमत तैयार करना भी उसी के कर्म के दायरे में आता है। अपनी टूटती हुई मूर्ति को बचा लेने का – खड़ी कर लेने का अब भी वक्त है और हम अपने को इतना ही तो कर ही सकते हैं – सच को कह ही सकते हैं।"[24] इस प्रकार अध्यापक एवं अध्यापन के अंतर्संबंधों को लेकर उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । आपके

छात्र रहे दिनेश कुशवाहा जी ने इस संदर्भ में लिखा है – "कितनी बार मैंने महसूस किया है कि गुरूदेव के साथ रहने पर हृदय के विमल विलोचन खुल जाते हैं। लगभग दस वर्षों तक मैं काशीनाथ जी के साथ विश्वविद्यालय से अस्सी पैदल आता-जाता रहा हूँ। उन्होंने मुझे कक्षा में भले पढ़ाया हो पर स्नातक मैं उनकी सत्संग विद्या का ही हूँ। गुरू घर से निकल कर लंका पर दो भुट्टे, सौ-दो सौ ग्राम मूंगफली या लाई-चना लेते। ठोंगा मेरे हाथ में पकड़ा देते। और चर्वण करते-कराते – बतियाते-गपियाते अस्सी। पूर्णाहुति अस्सी पर चाय और पान से होती। एक बार मैंने कहा कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वरिष्ठ आचार्य और अध्यक्ष का यह चर्वण कुछ सज्जनों को दुराचरण लग सकता है तो गुरू ने हंसते हुए कहा, मैं अध्यक्षी का चोला छोड़ सकता हूँ पर अस्सी और यह झोला नहीं। अस्सी चौराहे-मुहल्ले में गुरू के प्राण बसते हैं।"[25]

आपके संदर्भ में उनके प्रिय शिष्य रहे हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार देवेन्द्र ने लिखा है – "काशीनाथ सिंह मेरे अध्यापक और गुरू रहे हैं। वह कैसे अध्यापक थे, बता पाना मेरे लिए मुश्किल है । लेकिन मेरे गुरू ने मुझे इसी तरह पढ़ाया। एक ऐसी पढ़ाई जिसकी परीक्षा देनी शेष है। हाँ, हिन्दी विभाग में उनका सिर्फ़ फ्लैप पढ़ा जा सकता था। अगर पूरी किताब पलटनी है तो आपको उनके साथ अस्सी और लंका का खूब चक्कर मारना होगा। बीच-बीच में अपमान की हद तक उपेक्षा भी सहनी पड़ेगी। जाड़े की लम्बी रातों में जब सारा शहर कोहरे की सफेद चादर ओढ़े उकडू पड़कर सो जाता तब धूमिल के साथ वह सिनेमा देख कर लौटते हुए देर तक सड़क पर घूमा करते थे।"[26] इस प्रकार वे अध्यापन को मात्र एक पेशा नहीं मानते बल्कि अध्यापक और अध्यापन के उच्चादर्शों को समझाते हुए उसे व्यापक रूप में देखते हैं। जबकि इसी महान देश भारत में ऐसे अध्यापकों की कमी नहीं है जिनके रुझान नये चिंतन, विचार, आदर्श, प्रतिबद्धता और तत्व दर्शन की अपेक्षा केवल स्वार्थ साधन और अपने

व्यक्तिगत विकास तक सीमित हैं । अतः उनका यह आत्मीय व्यक्तित्व कहीं-कहीं अपने आदर्श शिक्षक के करीब लगता है।

1.3 साहित्य सृजन के आयाम

प्रत्येक चेतस रचनाकार अपनी रचनाओं के निर्माण के लिए अपने इर्द-गिर्द के परिवेश को देखता है, उसका अवलोकन करता है और साहित्य सृजन करता है। सृजन प्रक्रिया के इस मार्ग में अनेक घटक कार्य करते हैं। लेखक के संदर्भ में भी कहा जा सकता है कि उनके साहित्यकार बनने में अनेक घटक उल्लेखनीय रहे हैं।

1.3.1 लोक संदर्भ

साहित्यकार के रूप में प्रख्यात होने के बावजूद आप सामान्य जीवन में एक सहज एवं सरल व्यक्ति हैं । उनके व्यक्तित्व में दुर्लभ सहजता है जो दूसरों को आकर्षित करती है । उनके मिलने वालों में सभी वर्ग के लोग शरीक हैं । जितनी आत्मीयता के साथ वे अध्यापकों तथा साहित्यकारों से मिलते हैं उतने ही अपनत्व के भाव से वे साधारण-से-साधारण आदमी से भी मिल लेते हैं, जिनमें पान वाले, चाय वाले, सब्जी वाले, मज़दूर, किसान, छात्र एवं पाठक आदि भी शामिल हैं । इसका कारण यह है कि उन्हें लोकजीवन से गहरा लगाव है। वे उन लेखकों-अध्यापकों में नहीं हैं जो अपने ड्राइंग-रूम में बैठे-बैठे ही साहित्य सृजन में लगे रहते हैं। आपकी व्यक्तिगत पहुँच लोक जीवन के आम और ख़ास आदमी के दिल-दिमाग तक है । मनुष्य की संवेदनाओं को वे दर्पण में देखने के क़ायल नहीं हैं अपितु वे उसे प्रत्यक्ष, गतिशील तथा अपने वास्तविक रूप में देखना चाहते हैं । और यह तभी संभव है जब लेखक लोक जीवन के विभिन्न अंगों से रूबरू होता रहे ।

कहना न होगा कि लोक-जीवन से आमने-सामने हुए बिना कोई रचनाकार सक्रिय एवं मूल्यवान लेखन कदापि नहीं कर सकता । आपने आम आदमी के जीवन को समझा है, परखा है, महसूस किया है और तभी वे अपने लेखकीय-कर्म की ओर अग्रसर हुए हैं। यही वजह है कि उनका साहित्य पाठकों के हृदय को स्पर्श करता है, उसे सोचने-विचरने के लिए मजबूर करता है । यह सब उनके सामान्य आदमी में आस्था का ही परिणाम है । इस संदर्भ में लेखक के अंतरंग मित्र और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक चौथीराम यादव का मत उल्लेखनीय है । यथा - "वर्षों से लेखक चौराहे की होली में सक्रिय भागीदारी करता आया है | होली के दिन जब शाम को लोग अपने-अपने ड्राइंग रूम में बैठकर होली-मिलन के लिए आने वालों की प्रतीक्षा करते रहते हैं, उस समय लेखक अस्सी चौराहे की भीड़ में अपने शुभचिंतकों, दोस्तों-मित्रों, शिष्यों और बहुत सारे चाहने वालों से गले मिल रहा होता है - अबीर-गुलाल से पूरी तरह लाल । उसे मालूम है कि होली एकांत मिलन का त्योहार नहीं, बल्कि सामूहिक मिलन का जीवनोत्सव है । उसके मिलने वालों में पान वाले, चाय वाले, सब्जी वाले और खोमचे वालों को लेकर छोटे-छोटे दुकानदार किरानी, मजदूर आदि सभी शामिल होते हैं ।"[27]

प्रो. चौथीराम यादव के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि लेखक को साधारण आदमी से गहरा लगाव है । आम जनता की जिंदगी में आपकी गहरी दिलचस्पी रही है। यही वजह है कि आपका लेखनकार्य जिंदगी की आपाधापी से सम्बन्धित है और जो उनकी अनुभूति का सच भी है । जीवनानुभूति की गहरी प्रामाणिकता के कारण ही वे इतने यथार्थवादी एवं प्रामाणिक लेखक प्रतीत होते हैं । जीवन के यथार्थ को उन्होंने देखा और भोगा है । तभी अपने लेखन-कर्म की सार्थकता की ओर वे सक्रिय हो सके हैं । अपने लेखन-कर्म सम्बन्धी रचना-प्रक्रिया और सोद्देश्यता को स्पष्ट करते हुए उनका हल्फिया बयान है - "मैं वही लिखता हूँ जो बखूबी जानता हूँ । जिसे नहीं जानता हूँ या कम जानता हूँ, उसमें हाथ नहीं डालता । कोशिश तो

यहाँ तक रहती है कि लिखी जा रही चीज को जितना मैं जानूँ उतना और कोई न जानता हो, और अगर जानता भी हो तो कम-से-कम पढ़ते समय उसे लगे कि हाँ, यह रही वह चीज जिसे वह जानता तो था लेकिन कह नही पाता था या इस सफाई से नहीं कह पाता था।"[28]

1.3.2 रचना-प्रक्रिया

आपकी यह कोशिश रही है कि जो लिखा जाये उसे वे पहले समग्र रूप में जान सके। लेखक के उपर्युक्त भावों की प्रतीति उनकेे रचनाओं में बखूबी देखी जा सकती है । जिन चरित्रों का रेखांकन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है उससे प्रतीत होता है कि लेखक उन चरितनायकों को अच्छी तरह से जानता-पहचानता है । अपनी कथा कृतियों में वे चरित्रों को जिस रूप में चित्रित करते हैं उससे उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा कलात्मक रूप को सहज ही देख सकते हैं। उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्बन में देखा जा सकता है ।

रचनाकार की रचना-प्रक्रिया के बारे में कथाकार देवेंद्र लिखते हैं – "जिस समय काशीनाथ सिंह पर लिखने का मूड सवार होता है, वह महीनों लगातार लिखते चले जाते हैं। बल्कि कुछ इस तरह कि एक कहानी के पूरा होने से पहले दूसरी कहानी की रचना-प्रक्रिया शुरू हो जाती है । वह लगातार चार-पाँच कहानियाँ लिख जाते हैं। उस समय वह सबसे ज़्यादा आत्मविश्वास से भरे किशोर प्रेमी की तरह उन्मुक्त, निश्छल और प्रफुल्लित होते हैं। अपने पुराने दिनों की खूब चर्चा करते हैं। धूमिल, नागानन्द, महेश्वर आदि-आदि की।"[29] रचनाकार ने अपने लेखन को गति देने वाले प्रेरणा स्रोतों के बारे में लिखा है – "मेरे लेखक का सबसे बड़ा दुश्मन मेरा अध्यापक रहा है। जब मैंने लिखना शुरू किया, उन्हीं दिनों मैंने गोर्की की आत्मकथा पढ़ी थी। 'मेरा बचपन', 'मेरे विश्वविद्यालय' और 'जनता के बीच'- तीन भागों में। इसे पढ़ने के बाद मैंने निष्कर्ष निकाला कि मेरे लेखक का विश्वविद्यालय वह नहीं है जहां मेरा अध्यापक पढ़ाता है।

मेरे लेखक का विश्वविद्यालय मेरा गांव है, सड़कें हैं, बाज़ार है और वह प्रकृति है जिसे मैं देखता हूं। किताबी भाषा से मुझे चिढ थी। मैंने भाषा, लहजा चारदीवारी के बाहर की सड़कों और बाजारों से सीखे।...जाने क्यों लिखने की शुरुआत से ही मेरे दिमाग में यह बात बैठ गई थी कि कोई भी आदमी परिचित और जानी-पहचानी चीजो के बारे में नहीं जानना चाहता। वह, देखना चाहता है जिसे न देखा हो। वह सुनना चाहता है जिसे उसने न सुना हो। वह असामान्य या असाधारण भी हो सकता है, और ऐसा सामान्य या साधारण भी जो अदृश्य या अनसुना रह गया हो। यथार्थ का चुनाव करते समय ये बातें बराबर मेरे दिमाग में रहती रही हैं। कभी-कभी ये फ्लैश के रूप में आती हैं और कभी बड़ी मशक्क़त के बाद।"[30] इससे साफ जाहिर है कि आप लोक संदर्भों से जुड़े हुए रचनाकार हैं। यह लोक रंग उनकी कहानियों और उपन्यासों में भरसक आया है। जनता के बीच रहकर उन्होंने भारतीय सामान्य जन के जिंदगी को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है।

1.4 साहित्यिक परिचय एवं पुरस्कार

आप उन कथाकारों में हैं जिन्होंने सातवें दशक के बाद कथा जगत् को उल्लेखनीय योगदान दिया है। हिंदी कथा वांग्मय को विकसित करने का कार्य उन्होंने किया है। आपका कथा जगत में प्रवेश कहानी विधा के माध्यम से हुआ था। उनके अफसानों में सामान्य वर्ग से लेकर उच्च वर्ग के चरित्रों का उद्घाटन हुआ है तथा उन्होंने समाज के विभिन्न आयामों को यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। उनके अफसानों में सामाजिक विसंगति, टूटते मूल्य, पारिवारिक विघटन, शोषण, उत्पीड़न, पारिवारिक बिखराव, जातिगत समस्याएं आदि का वस्तुपरक चित्रण मिलता है।

विवेच्य लेखक ने अपने उपन्यासों में सामाजिक पहलुओं को बखूबी उठाया है। इन उपन्यासों के चरित्र समाज के बीच से आए हैं तथा वे सामाजिकता तथा आर्थिक मुद्दों से गहरी मुठभेड़ करते हैं। विगत छह दशकों से वे साहित्य सृजन में कार्यरत हैं। विशेष बात यह है कि आज के समय में भी वे उतने ही सक्रिय हैं जितने कि वे पहले के जमाने में थे। उनके अधिकतर समकालीन लेखकों ने कब की कलम से विदाई ले ली है । लेकिन आप अब भी साहित्य सृजन में सक्रिय रूप से अपना योगदान दे रहे हैं। आपकी ख़ासीयत यह है कि कहीं भी वे अपने आप को दोहराते हुए नजर नहीं आते। वे अपनी प्रयोगधर्मिता के लिए भी जाने जाते हैं। इस रुप में वे एक विलक्षण और अनूठे लेखक हैं । लेखक का महत्त्व इस बात में भी है कि वे निरंतर कथा साहित्य में नित्य नवीन प्रयोग कर रहे हैं। उनके साहित्य का परिचय इस प्रकार है।

1.4.1 कहानी साहित्य

आपने लेखन की शुरुआत कहानियों से की थी। आपके अब तक अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

1.'लोग बिस्तरों पर' (1968) : अभिव्यक्ति प्रकाशन, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद ।

काशीनाथ जी का यह प्रथम कहानी संग्रह है । इस संग्रह में दस कहानियाँ संकलित हैं - 'संकट', 'आखिरी रात', 'कस्बा जंगल और साहब की पत्नी', 'अपने घर का देश', 'सुख', 'चायघर में मृत्यु', 'तीन काल कथा', 'अपने लोग', 'आदमी का आदमी', 'लोग बिस्तरों पर'।

संकट

इस संग्रह की यह पहली कहानी है जो एक फौजी के संशय एवं कामवासना को अभिव्यक्त करती है। कामेच्छाओं की अतृप्ति मनुष्य को मानसिक अवसाद में डाल देती है। इसमें मनुष्य के साधारण से लगने वाले दुख को बड़ी संजीदगी के साथ व्यक्त किया गया है।

आखिरी रात

यह पति-पत्नी के अंतर्संबंधों को संबोधित करती है। पैसों की कमतरता के कारणवश सामान्य आदमी की जिंदगी तनावग्रस्त होती जा रही है। आधुनिक शहराती जीवन में अर्थाभाव के कारण उपजी मुसीबतों को यहां विवेचित किया गया है।

कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी

यह एक ऐसी औरत का किस्सा है जो उम्र के ऐसे दौर में आ चुकी है जिससे उसे हमेशा यह भय बना रहता है कि उसका शौहर उससे प्रेम नहीं करता। वह कस्बे के लोगों को समझाने की चेष्टा करती है कि उनका दांपत्य जीवन बहुत सुखमय है। वह स्वयं को ही तसल्ली देने की कोशिश करती है। उसे हमेशा यह भय रहता है कि कहीं उसका पति उसे छोड़कर चला न जाए। ऐश्वर्य में डूबी होने के कारणवश वह कोई काम भी नहीं करती। इसलिए उनके मस्तिष्क में इस प्रकार की बातें घूमती रहती हैं।

अपने घर का देश

यह आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त व्यक्ति की विवंचना है । इसका नायक एक ओर अपने घर वालों से परेशान है तो दूसरी ओर पड़ोसी से भी तकलीफ झेल रहा है। यहां आधुनिक शहरीकरण के चलते निर्मित जीवन की पीड़ाएं व्यक्त हुई हैं।

सुख

आधुनिक युग में यांत्रिकी जीवन में जीने वाले मनुष्य के एकाकी पन की व्यथा को यहां दर्शाया गया है। प्रस्तुत रचना में मनुष्य जीवन के यांत्रिक वैयक्तिकता को सामूहिकता से जोड़ने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा यह कृति शहरीकरण के वास्ते उपजी मनुष्यों की पीड़ा को भी उजागर करती है। मनुष्य जीवन में आए मशीनीकरण को 'सुख' में दर्शाया गया है।

चायघर में मृत्यु

इसमें एक स्त्री है जो भरी जवानी में ही विधवा बन चुकी थी। प्रस्तुत कृति ग्राम जीवन में एक विधवा के जीवन की पीड़ा को वाणी देती है।

तीन काल-कथा

इसके अंतर्गत तीन प्रसंगों का उल्लेख है। लेखक ने अकाल, पानी और प्रदर्शनी इन शीर्षकों के अंतर्गत तीन किस्से बयान किए हैं। आजादी के उपरांत राजनीति में आयी अवनति और वर्तमान समय में नेतृत्वकर्ताओं की असंवेदनशीलता को यहां दिखाने की कोशिश की गई है।

अपने लोग

यह दफ्तर में काम करने वाले दो व्यक्तियों की कथा है। प्रस्तुत रचना इंसान के मन में स्थित भय को उजागर करती है। इस कथा कृति के माध्यम से लेखक कहना चाहता है कि मनुष्य के मस्तिष्क में घुसा अनावश्यक डर उसकी ज़िंदगी को बर्बाद कर सकता है। दफ्तरों में ऊपरी पदों पर आसीन अधिकारी अपने मातहतों का शोषण करते हैं। इसका चित्रण यहां पर हुआ है। दरअसल अवशोषण भी उन्हीं व्यक्तिओं का किया जाता है जो शोषण होने पर विरोध

नहीं जताते। लेकिन जो लोग बिना डरे प्रतिरोध करते हैं उनका शोषण कोई नहीं कर सकता। इसलिए बहुत जरूरी है कि शोषणकारियों के खिलाफ आवाज उठाई जाए।

आदमी का आदमी

यह एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जिसकी बीवी उसे छोड़कर किसी दूसरे मर्द के साथ भाग गई है। वह इस घटना के बाद सनक जाता है। उस आदमी की पीड़ा को लोग हंसी मजाक का विषय बना लेते हैं।

लोग बिस्तरों पर

यह कहानी 1960 के बाद आए अकहानी आंदोलन के प्रभाव में लिखी गई थी। पूंजीवादी व्यवस्था ने देश के नौजवानों को आत्महीन बना दिया था। प्रस्तुत रचना पूंजीवाद के इसी शोषण की ओर संकेत करती है। इसमें एक वर्ग ऐसा है जिसके हाथ में सत्ता और दौलत की ताकत है जिसके बलबूते पर वह देश के युवा वर्ग के साथ खिलवाड़ कर रहा है तथा उन्हें पंगु बनाया जा रहा है।

2. 'सुबह का डर' (1975) : रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद।

यह रचनाकार का दूसरा कहानी संग्रह है। इस संग्रह में 'सुबह का डर', 'हस्तक्षेप', 'एक बूढ़े की कहानी', 'दलदल', 'चोट', 'बैलुन' आदि रचनाएं संकलित हैं।

सुबह का डर

इसमें मनुष्य के भीतरी विघटन को विवेचन है। कृति में आए पात्रों के आपसी संबंध भी ऐसे हैं जिसमें आत्मीयता और अपनापा नहीं है। मनुष्य अपने स्वार्थवश मानवीय रिश्तों नातों से दूर हो रहा है और सहयोग की भावना को धक्का सा लगता है। स्थितियां इस कदर बदल रही

हैं कि हमारा समाज और विशेषकर शहरों में रहने वाले शहराती परस्पर सहकारिता की भावनाओं से कटते जा रहे हैं।

हस्तक्षेप

यह रचना निम्नवर्गीय समाज के विकृतियों से भरे जीवनशैली को प्रस्तुत करती है। गंदी बस्तियों में रहते और नारकीय जीवन जीने के लिए विवश यहां के निवासी यह भी नहीं जानते कि जिंदगी को बेहतर ढंग से कैसे जिया जाता है। सामाजिक परिवेश हमें इस कदर प्रभावित करता है कि इससे बाहर निकलना असंभव हो जाता है। इन परिस्थितियों से बाहर निकलने की मानसिकताओं को वह खो बैठता है।

एक बूढ़े की कहानी

यह आख्यायिका बलात्कार जैसे घृणित अपराध को लेकर युवा वर्ग की बेपरवाह और असंवेदनशील वृत्ति को रेखांकित करती है। प्रस्तुत रचना में कहानीकार यह बताने की कोशिश करता है कि युवा वर्ग सेक्स को लेकर कितना कुंठाग्रस्त हो गया है।

दलदल

इसके अंतर्गत एक ओर वे लोग हैं जिनके लिए प्राकृतिक सुंदरता ही जीवन का वास्तविक आनंद है तो दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जिनके लिए प्रकृति जीवन जीने का परम आवश्यक साधन है। ऐसे लोग प्रकृति से हमेशा संघर्ष करते आए हैं। प्रकृति से कुछ पाने के लिए मनुष्य को अक्सर जूझना पड़ता है। मानव के कुदरत के साथ चल रहे संघर्ष को यहां उजागर किया है।

चोट

यह जातीय भावनाओं को व्यक्त करती रचना है। स्वतंत्रता के बाद भारत में राजनीतिक, सामाजिक स्थितियां बदलती गयीं। इसके साथ ही आर्थिक मामलों में भी बदलाव आने लगे थे। परिस्थितियों के बदलने के बावजूद गांव में रचे बसे संस्कार अभी गए नहीं हैं। इसमें भारतीय समाज में आए सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों को लेखक ने यथार्थवादी ढंग से पेश किया है।

बैलून

यहां किशोर मन में उपजे प्रेम को अभिव्यक्ति मिली है। आधुनिक युग में स्थितियां ऐसी बन गयी है कि प्रेम की भावना टिकाऊ नहीं रह गयी है। एक तरह से प्रेम एडवेंचर का रूप धारण कर रहा है। कथाकार कहना चाहता है कि नवयुवकों के लिए प्रेम जैसी भावना दिखावा मात्र है।

3. 'आदमीनामा' (1978) : प्रकाशन संस्थान, 4715/21 दयानंद मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली।

उपरोल्लिखित आपका तीसरा कहानी-संग्रह है। इस संग्रह में 'सूचना', 'निधन', 'जंगल जातकम्', 'अपने लोग', 'माननीय होम मिनिस्टर के नाम', 'आदमी का आदमी', 'मीसाजातकम्', 'लाल किले के बाज', 'मुसइचा', 'सुधीर घोषाल', 'बैल', 'अधूरा आदमी' आदि कहानियाँ संकलित हैं।

सूचना

इसमें कहानीकार ने शहर में हो रही कुछ घटनाओं का वर्णन करते हुए गिरते मानवीय मूल्यों पर चिंता जताई है। बढ़ते शहरीकरण के कारण लोग धीरे-धीरे आत्मीयता, बंधुत्व, उदारता,

मानवतावादी मूल्यों को खोते जा रहे हैं। माववोचित मूल्यों का क्षरण बहुत तीव्र गति से हो रहा है। प्रस्तुत रचना इसी की ओर संकेत करती है।

निधन

मनुष्य के प्रकृति से जुड़ाव तथा पर्यावरणीय चेतना को यह कथा दर्शाती है। इसमें संदेश भी यही है कि अगर हम आने वाली पीढ़ियों के भविष्य को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो इस सुंदर प्रकृति को संभाल कर रखना अवश्यंभावी है।

जंगलजातकम्

यह अनेक अर्थों से भरी हुई कथा कृति है। इसमें प्रकृति और मनुष्य के संबंधों को उजागर करने की चेष्टा की गई है। मानव प्रकृति का विध्वंस करने पर तुला है इस कटु सत्य को यहां रेखांकित करने का प्रयास है।

अपने लोग

एक दफ्तर में काम करने वाले दो कर्मचारियों का किस्सा यहां दर्ज है। प्रस्तुत कृति के अंतर्गत आदमी के मन में बैठे दहशत को प्रतिपादित किया गया है। इस कृति के माध्यम से लेखक कहना चाहता है कि मनुष्य के मन में बैठा हुआ बेकार का डर उसकी बर्बादी का सबब बन सकता है। अगर हम इससे मुक्ति चाहते हैं तो बिना डरे इस दमन के विरुद्ध लड़ना जरूरी है।

माननीय होम मिनिस्टर के नाम

सरकारी कार्यालयों में फैली सड़ांध का चित्रण इसमें हुआ है। सरकारी कार्यालयों की हालत यह है कि घूस लिए बिना यहां कोई काम नहीं करना चाहता। ऊपर से लेकर नीचे तक सभी इस भ्रष्ट तंत्र में आकंठ डूबे हुए हैं। प्रशासन में फैले बेईमानी, फरेब, भ्रष्टाचार का चित्रण यहां हुआ है।

आदमी का आदमी

यह एक ऐसे व्यक्ति की व्यथा को बयान करती है जिसकी बीवी किसी गैर मर्द के साथ भाग गयी है और वह इस घटना के बाद सनक गया है। समाज के अत्यधिक दबाव के फलस्वरूप आदमी पागलपन की हद तक चला जाता है। इस विडंबना को प्रस्तुत रचना में दिखाया गया है।

मीसाजातकम्

यह एक राजनीतिक चेतना की दास्तान है। इसमें इमरजेंसी के दहशतपूर्ण वातावरण का प्रतीकात्मक रूप में चित्रण हुआ है। आपातकाल के दौरान मीसा कानून के अंतर्गत भारतीय जनता पर हुई जुल्म और ज्यादतियों को यहां दर्शाया है।

लाल किले के बाज

क्रांति के प्रति क्रांतिकरियों के रूमानी भाव को व्यक्त करती यह रचना कृति है। कहानीकार ने ऐसे झूठे इंकलाबी की पोल खोल दी है जो वैचारिक स्तर पर क्रांतिकारी बने हैं लेकिन जमीनी स्तर पर हो रही क्रांति से इनका कोई वास्ता नहीं है।

मुसइ चा

यह तत्कालीन समय की बेकारी का विदारक चित्र प्रस्तुत करती साहित्य कृति है। देश में गिरते राजनीति का स्तर और भ्रष्ट प्रशासन व्यवस्था के कारण युवाजन की हालत एकदम पस्त हो चुकी थी। देश में बेरोजगारी की समस्या विकट रूप धारण कर रही थी। इसी विषय को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है।

सुधीर घोषाल

यह नक्सली आंदोलन के तासीर में लिखी गयी कथा कृति है। यह क्रांतिकारी चेतना को अभिव्यक्त करती है। प्रस्तुत रहा के माध्यम से लेखक ने मजदूरों के संगठन की बात की है। आजाद भारत में अब मजदूरों में चेतना जागृत हुई है।

बैल

इसके अन्तर्गत आर्थिक विपन्नता झेल रहे एक स्कूल मास्टर की टीस को प्रकट किया है। यह रचना अर्थाभाव से जूझ रहे एक सामान्य व्यक्ति की तकलीफ़ को उजागर करती है।

अधूरा आदमी

इसमें एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उभर कर सामने आया है जो देश से दरिद्रता मिटाना चाहता है। उसे भली भांति मालूम है कि आर्थिक वैष्यम्य ही इस देश के पिछड़ेपन की मुख्य वजह है। इसलिए इस अफसाने में वर्णित ज्वान उपेक्षित-शोषित वर्ग के लोगों को संगठित करने का प्रयास करता है। उसके भीतर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विडंबना को लेकर आक्रोश है और वह इस समाज को बदलना चाहता है।

4.नयी तारीख (1979) : राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2।

इस संग्रह में केवल दो लम्बी कहानियाँ प्रकाशित हैं। 'कविता की नई तारीख', और 'मंगलगाथा'।

कविता की नई तारीख

यह कहानी मनुष्य के भीतर पैदा हुए विचलन से गुजरते हुए मुक्ति की बात करती है। इसमें चित्रित लेखक साढू भाई की शानोशौकत को देखकर विचलित होता है। प्रस्तुत रचना में यह दर्शाने की कोशिश की गई है कि कैसे एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति ठाट-बाट के आगे कमजोर पड़ जाता है।

मंगलगाथा

स्वाधीनता के उपरान्त नेताओं ने गलत तौर तरीकों को अख्तियार कर ढेर सारी साधन-संपत्ति इकट्ठा की तथा देश को लूट कर ढ़ेर सारी धन-दौलत जुटाई। यही वजह है कि देश का सही मायनों में विकास न हो पाया। अपने अपने स्वार्थ तथा पाखंड के चलते देश को कमजोर बनाया गया। यह दास्तान स्वार्थी और धूर्त नेताओं की पोल खोल देती है और उनके तमाम पाखंड और झूठ का पर्दाफाश करती है।

5. 'सदी का सबसे बड़ा आदमी' (1986) : राजकमल प्रकाशन--1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।

प्रस्तुत कहानी संग्रह की कृतियां हैं – 'कहानी सरायमोहन की', 'सिद्दीकी की सनक', 'मौज मस्ती के दिन', 'वे तीन घर', 'पहला प्यार', 'संतरा', 'अपना रास्ता लो बाबा', 'बायोस्कोप का लल्ला', 'सदी का सबसा बड़ा आदमी', 'इक्कीसवीं सदी के देश का सफर'।

कहानी सरायमोहन की

इस साहित्यिक रचना में दो बुजुर्गों के विपदाओं को मार्मिकता के साथ दर्शाया गया है। यहां सामाजिक स्थिति में आए रद्दोबदल को रेखांकित करते हुए वर्तमान जातीय संस्कारों में हो रहे फेरबदल की ओर संकेत है। सवर्ण कहीं जाने वाली जातियों के चरित्र में आए अवनति को यह कथा दर्ज करती है। कहीं न कहीं यह भी बताने की चेष्टा है कि उच्च जातियों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता का फायदा उठाकर निम्न जातियों के लोगों को हमेशा दबाए रखा और निरंतर उन पर ज्यादतियां करते रहे। कृतिकार ने सवर्ण जातियों की कुटिलता एवं धोखेबाजी की पोल को बड़ी ही खूबी के साथ खोला है।

सिद्दीकी की सनक

इसमें तत्कालीन विडंबनापूर्ण स्थिति का चित्रण है। अंग्रेजी शासनकाल के समाप्ति के बाद स्थितियां इतनी खराब हो चुकी हैं कि हत्या, खून, डकैती, बलात्कार, आगजनी, लूटपाट जैसी बेहद संगीन घटनाएं देश में रोजमर्रा की हो गई हैं। समाज के पतनशीलता का दौर यहां स्पष्ट रूप से दीखता है। यह कृति सत्य की खोज में निकले एक संवेदनशील व्यक्ति के कश्मकश को व्यंजित करती है। सिद्धिकी वर्तमान स्थितियों से दुखी है। इन सारी घटनाओं से वह हताश है और प्रयत्नशील है कि कैसे मानवीय जीवन सुखद हो सकता है।

मौज मस्ती के दिन

व्यक्ति के भीतर बसे मृत्यु भय को इस रचना में अभिव्यक्ति मिली है। एक सामान्य निम्न वर्ग के व्यक्ति तकलीफदेह स्थिति तथा उच्च मध्यवर्गीय समाज की निम्नवर्गीय समाज के प्रति अवहेलना को यह रचना दिखाती है। उच्च मध्य वर्ग की निष्ठुरता एवं एक सामान्य व्यक्ति के मृत्यु बोध को बड़ी ही मार्मिकता से पेश किया गया है।

वे तीन घर

साठ के दशक के बाद आए सामाजिक-सांस्कृतिक तब्दीलियों का चित्रण यह कथा कृति करती है। प्रस्तुत कलाकृति तथाकथित दलित नेताओं के स्वार्थ, चालाकी और मक्कारी की पोल खोलती है। वर्तमान युग में दलित नेतृत्व ने दलितों का मसीहा बनकर सामान्य गरीब पददलितों को ठगा है। इन नेताओं की अवसरवादी प्रवृत्ति का अवलोकन यहां हुआ है। यह वर्तमान समय का कड़वा सच है जो इस रचना में उद्‌घाटित हुआ है।

पहला प्यार

यह एक किशोर युवक के प्रथम प्रेम की कहानी है। एक किशोरावस्था में पहुंचे लड़के के मन में उपजे स्त्री के देहाकर्षण को मार्मिकता से रेखांकित किया गया है। यहां एक किशोर मन की भावनाओं की टूटने की प्रक्रिया को बड़ी ही निर्दयतापूर्वक दर्शाया गया है।

संतरा

आर्थिक अभावों में जूझते एक निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति की पीड़ादायक स्थिति का यह किस्सा है। इसमें एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की पीड़ादाई परिस्थितियों को अभिव्यंजित किया गया है। आर्थिक अभावों के कारण व्यक्ति के भीतर हीनता बोध उत्पन्न होता है। यह दर्शाने की कोशिश इस रचना के माध्यम से हुई है।

अपना रास्ता लो बाबा

यह टूटते मानवीय रिश्तों का आख्यान है। रिश्ते-नातों में आए फासलों को यहां चित्रित किया गया है। कहानीकार ने बड़ी गंभीरता के साथ शहरों में आपसी संबंधों में आए दूराव को दर्शाया है। यह रचना समय के साथ टूटते-बिखरते सम्बन्धों को दर्शाती है।

बाइस्कोप का लल्ला

यह साहित्यिक कलाकृति प्रतिपादित करती है कि कैसे स्वतंत्रता के बाद भी इस देश में सामंतवाद अभी उपस्थित हैं। रचना का संदेश स्पष्ट है कि एक बड़े जमींदार के अल्प बुद्धि वाले बालक को बढ़ा चढ़ाकर दिखाने की चेष्टा की जाती है। यह भारत की वर्तमानकालीन स्थिति पर करारा व्यंग्य है। भारतीय सियासी दुनिया में आए स्खलन को यहां रोचकता के साथ चित्रित किया गया है।

सदी का सबसे बड़ा आदमी

लेखक की यह एक विलक्षण कथा रचना है। यह कहानी प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई है जिसमें वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य रचा गया है। इसमें मौजूद नौजवान इसी स्वाभिमानी और संघर्षशील लोगों का प्रतीक है।

6. 'पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा' (2016) राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।

यह आपकी संकलित रचनाओं का संग्रह है। इसमें उनकी कहानियों के साथ अन्य गद्य रचनाएं भी शामिल हैं। इस संग्रह में प्रकाशित कहानियां हैं – 'पायल पुरोहित', 'बालकांड', 'जोतसी ने कहा था', 'एक है वर्मा जी', 'तलाश', 'हवेली', 'दौलत का दुखड़ा', 'खरोंच', 'बीमारी', 'हरी घास पर', 'गरीबी में आटा गीला', 'एक गुड्डी', 'जाड़ा', 'कोंपलें', 'जरा-सी बात', 'मेरा भी हाथ है', 'समस्या', 'स्वागत', 'वर चाहिए तो इधर आइए'।

पायल पुरोहित

उक्त रचना एक युवती के जीवन के त्रासदपूर्ण स्थितियों को उजागर करती है। हिन्दुस्तानी समाज में अकेली युवती के लिए जीवनयापन बेहद मुश्किल है इसका चित्रण इस कथा में आया है। लड़कियों का यौनिक शोषण अक्सर उनके निकट के रिश्तेदारों तथा परिचित लोगों द्वारा ही अधिक होता है, इस भयावह स्थिति की ओर यह रचना इशारा करती है।

बालकांड

यहां पर एक बेबस औरत के दर्द को वाणी मिली है। भारतीय जनमानस में स्त्री वर्ग को लेकर जो पिछड़ी मानसिकता है उसे यहां रेखांकित किया है। कुलदीपक को लेकर पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता को यहां उजागर करने का प्रयास है। बेटियां जनने वाली महिलाओं को भयानक मानसिक यंत्रणाओं का शिकार होना पड़ता है। अतएव ऐसी महिलाओं की पीड़ादायक स्थितियों से गुजरना पड़ता है।

जोतसी ने कहा था

सामंतवादी सोच के कारण व्यक्ति कैसे विनाश की ओर अग्रसर होता है इसका यह रचना कृति मार्मिक अंकन करती है। इसमें यह संदेश है कि सामंती संस्कारों के कारण एक बाप अपने बेटे की बर्बादी का कारण बनता है।

एक हैं वर्मा जी

यहां निराशाग्रस्त व्यक्ति की तकलीफों का वर्णन है। मनुष्य के भीतर विद्यमान निराशा, कुंठा, अजनबीपन, अकेलेपन को इस कहानी के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

तलाश

यह व्यक्ति की दारुण दशा की दास्तान है। वह अर्थाभाव में जी रहा है और इसके चलते वह लगातार अपमानित होता है। लेखक मनुष्य की बेबसी को अच्छी तरह से समझते हैं और बड़े ही मार्मिकता से अभिव्यक्त करते हैं।

हवेली

इस कहानी में ध्वस्त हो चुके सामंतीय संस्कारों के दर्शन होते हैं। यहां पर जीवन की विकट परिस्थिति को गहरे प्रभाव के साथ देखा जा सकता है। यह जिंदगी की वास्तविकता के दंश झेलते हुए उसे दूर न कर सकने वाले एक निरीह व्यक्ति की दास्तान है। सामंतवादी संस्कारों से पीड़ित व्यक्ति की मनोदशा का प्रस्तुतीकरण यहां हुआ है।

दौलत का दुखड़ा

इसमें एक दौलतमंद शख़्स की जिंदगी का वृतांत है जिसकी नींद गायब हो गयी है। शोहरत, पैसा, नाम के पीछे भागता व्यक्ति जिंदगानी के असली सुख-चैन से महरूम होता है। इसके बावजूद वह अपने धन से चिपक कर बैठा है। धन-दौलत का नशा मनुष्य के जीवन के सूकून को नष्ट कर देता है, यहीं इस रचना का संदेश है।

खरोंच

इसमें दिखाया गया है कि कैसे मनुष्य के भीतर मौजूद उच्चतम मानवीय भावनाओं का ह्रास होता है और हमारे रक्षणीय मूल्य धराशायी हो रहे हैं।

बीमारी

यह कहानी पति-पत्नी के संबंधों को रुपायित करती है। इसमें यह बताने की चेष्टा की गई है कि इच्छाओं के दमन के कारण व्यक्ति मानसिक रूप में बीमार पड़ने लगता है। इसलिए जरूरी है कि वह अपनी रूटीन जिंदगी से बाहर निकले और कुछ अलग करने का प्रयास करें वरना रोज़मर्रा की एकरसता से भरी जिंदगी उसके जीवन की शांति छीन लेती है।

हरी घास पर

स्त्री के रिक्तता बोध को यहां अभिव्यक्ति मिली है। यह एक स्त्री की व्यथा है जो जीवन में अधूरेपन को लिए जी रही है। जीवन की एकरसता से वह हमेशा ऊबती रहती है। जीवन में आए इस खालीपन को वह किसी दूसरे पुरुष के माध्यम से दूर करने का प्रयास करती है।

गरीबी में आटा गीला

ग्रामीण जीवन के संवेदनात्मक पक्ष को इस रचना में उजागर किया गया है। लोक जीवन के हृदयस्पर्शी भाव को इसमें देखा जा सकता है। संक्रमण के दौर से गुजरते ग्रामीणों की जिंदगी को इस कथाकृति में बखूबी देखा जा सकता है।

एक गुड्डी

अपने दैनिक जीवन की व्यस्तताओं के कारण घर परिवार के लोग छोटे बच्चों की ओर भी ठीक से ध्यान नहीं दे पाते इसका चित्रण प्रस्तुत रचना में हुआ है। यही वजह है कि हम शीलवान, संस्कारशील पीढ़ी का निर्माण नहीं कर पा रहे हैं। इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर यह कहानी संकेत करती है।

जाड़ा

आर्थिक अभावग्रस्तता में जी रहे पति-पत्नी के संबंधों को उजागर करने की कोशिश इसमें की गयी है। आर्थिक तंगहाली के चे उनके रिश्ते में कड़ुवाहट घुल जाती है। इस तथ्य को यहां व्याख्यायित किया गया है।

कोंपलें

यह एक युवा मन के खालीपन को अभिव्यक्त करती है। समाज से दूर रहकर व्यक्ति उदासी, उकताहट का अनुभव करता है। यह सोच मनुष्य को रिक्तता बोध से भर देती है। मनुष्य के भीतर के शून्यता को इस कृति में दिखाने की कोशिश है।

जरा -सी बात

यह वैवाहिक संबंधों को उजागर करती रचना है। यह नवविवाहित पति-पत्नी का किस्सा है जो नदी के घाट पर बैठे हैं। इसके माध्यम से दंपति के संबंधों में भावनाओं के नाजुक रेशे को पकड़ने की कोशिश है। छोटी-छोटी बातों को लेकर मनुष्य बेकार का परेशान रहता है । इसमें इसी स्थिति का चित्रण है।

मेरा भी हाथ है

यह किस्सा पुरुष द्वारा स्त्री के शारीरिक शोषण के दर्द को चित्रित करता है। स्त्री देह को लेकर पुरुष के भीतर जो रहस्यात्मकता का भाव अन्तर्भूत होता है उसे दिखाने का प्रयास किया गया है। यह कहानी पुरुषवादी सोच पर कड़ा प्रहार करती है और पुरुषों को अपने अंदर झांकने के लिए उद्वेलित करती है।

समस्या

इसमें एक ऐसे व्यक्ति का जिक्र है जो पैसे के मामले में बेहद कृपण आदमी है। उसका दिमाग हरदम पैसे के इर्द-गिर्द लगा रहता है। इस प्रकार संकेत स्पष्ट है कि कैसे कृपण व्यक्ति जीवन में सामान्य चीजों का भी आनंद नहीं उठा पाते।

स्वागत

शहरों के बनने के कारण गांवों के उजड़ने का मार्मिक अंकन इस कहानी में है। सच तो यह है कि शहर ग्रामवासियों के मेहनत के बदौलत विकसित हुए हैं। लेकिन इसके बदले में उन्हें कुछ प्राप्त नहीं होता। जब तक ग्रामीण जनता इस अन्याय के विरुद्ध खड़ी नहीं होती तब तक उसका अधिकार उसे प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार यह ग्रामीण जनता के क्रांतिकारी चेतना का आख्यान है।

वर चाहिए तो इधर आइए

भारत में और खासकर उत्तर भारत में विवाह संबंधों को लेकर पुरुष वर्चस्ववाद किस प्रकार कार्यरत है इसका लेखा जोखा इस कहानी में है। शादी ब्याह के रिवाज़ में दूल्हों की धड़ल्ले से खरीद-फरोख्त होती है। इस अनुचित रीति रिवाज़ को समाप्त करने के लिए जो मानसिकता चाहिए वह अभी तक विकसित नहीं हो सकी है। प्रस्तुत रचना के माध्यम से लेखक ने इस अनीतिपूर्ण व्यवहार पर व्यंग्य किया है।

इन कहानी संग्रहों के अलावा रचनाकार के निम्नलिखित कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ‘कल की फटेहाल कहानियाँ’, ‘प्रतिनिधि कहानियाँ’ (1982) ‘दस प्रतिनिधि कहानियाँ’ (1994), ‘कहनी उपखान’ (समग्र कहानियाँ) (2003), ‘संकलित कहानियाँ’ (2008), 'कविता की नई

तारीख' (2010), 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (2011), 'खरोंच'(2014) आदि कहानी संग्रहों में प्रकाशित कहानियां पहले ही अन्य संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

1.4.2 उपन्यास साहित्य

विवेच्य लेखक के अब तक पांच उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इन उपन्यासों का परिचय निम्नलिखित है –

1. 'अपना मोर्चा' (1972) : रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद इलाहाबाद।

आपका यह प्रथम उपन्यास है जो सन् अड़सठ में समूचे हिन्दी भाषी प्रदेशों में हुए भाषा आन्दोलन, विशेषत: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुए भाषा आन्दोलन को केन्द्र में रखकर रचा गया है। इसके अंतर्गत नई युवा पीढ़ी के प्राध्यापक वर्ग, विद्यार्थियों, प्रशासक जिसमें विश्वविद्यालय का प्रशासन और पुलिस भी शामिल है का चित्रण किया गया है। उच्चतम शिक्षा के केन्द्र बिंदु रहे विश्वविद्यालयों में फैलती गंदी प्रवृत्तियों को दर्शाने की कोशिश इस कथा कृति में हुई है। आज़ का युवा वर्ग राजनीति के सहारा लेकर भ्रष्टाचार के गलत मार्ग पर चलने के लिए आतुर हो रहा है। युवा आंदोलन का दिग्भ्रमित सैलाब भाषा समस्या को केन्द्र में रखकर उमड़ा था उसके खोखलेपन को, उसकी व्यर्थता को उपन्यासकार ने संजीदगी के साथ अनुभव किया था। इन्हीं ज्वलंत मुद्दों को वे इस उपन्यास में लिपिबद्ध करते हैं।

2. 'काशी का अस्सी' (2002) : राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-2।

यह कथाकार का दूसरा उपन्यास है । इसमें काशी नगरी के अस्सी मोहल्ले में वास्तव्य करते लोगों की बतकही को रोचक अंदाज में रखा गया है। नवीन परिस्थितियों के कारण आम

आदमी के जीवन में होने वाले परिवर्तनों की ओर संकेत करने का प्रयास लेखक ने किया है। उपन्यासकार बदलते समय को सही संदर्भों में पकड़ने की कोशिश करता है। हम देख रहे हैं कि वैश्वीकरण के युग में देश में अनेक तब्दीलियां हो रही हैं। इसका गहरा असर समाज और संस्कृति पर भी पड़ रहा है । इस प्रभाव के फलस्वरूप एक वैश्विक संस्कृति की मान्यता को बल मिल रहा है । भारतीय संस्कृति का क्षरण बहुत ही तीव्रतम गति से हो रहा है। इसके चलते आम आदमी बुरी तरह प्रभावित हो रहा है, इसका चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है।

3. 'रेहन पर रग्घू' (2008): राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2।

इक्कीसवीं शताब्दी में प्रकाशित यह एक उल्लेखनीय उपन्यास है। यह आज के भूमंडलीकरण के दौर में एक मध्यवर्गीय परिवार की मार्मिक गाथा को लेकर आता है । वैश्वीकरण एवं बाजारवाद ने मध्यवर्गीय समाज की जड़ों को जैसे मूल से ही उखाड़ने काम कर दिया है । उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण मानवीय रिश्ते-नाते तबाह हो रहे हैं। इसमें ग्रामीण जीवन के क्षरण का अंकन भी हुआ है। यहां के जीवन में भी भूमंडलीकरण और बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण लोगों में आत्मीयता, भाईचारा, सौहार्द जैसे मूल्य समाप्त हो रहे हैं। इसी द्वंद्वात्मक संघर्ष को इसमें देखा जा सकता है।

4. 'महुआचरित' (2012): राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-2।

अपने कलेवर में यह एक लघु उपन्यास है। इसमें महुआ नामक युवती का आख्यान है जिसके भीतर उत्पन्न देहासक्ति से विवाह तक की यात्रा और फिर उसमें जगते अस्मिता बोध को सामाजिक संदर्भों में प्रस्तुति का प्रयास उपन्यास में किया गया है। आज भी भारतीय मानस और विशेष रूप से पुरुष मानसिकता स्त्री के शरीर के इर्द-गिर्द मंडराती रहती है। विवेच्य उपन्यास में महुआ, हर्षुल और साजिद के बीच की प्रेमकथा बड़ी ही संजीदगी के साथ वर्णित

है । भारतीय समाज की समग्र सोच देह तक आकर ठहर जाती है, यौन संबंधों को लेकर आज भी हमारे दिलोदिमाग में विभिन्न प्रकार की कुंठाएं विद्यमान हैं। समाज की इसी पुराणपंथी-पोंगापंथी सोच को यह उपन्यास उजागर करता है।

5 .'उपसंहार' : (2014) : राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-2।

विवेच्य लेखक का यह अंतिम उपन्यास है। इसमें द्वारकाधीश की कथा है। हम सभी उस भगवान कृष्ण को जानते हैं जिन्होंने महाभारत के महायुध्द में पांडवों का साथ दिया था। इस युद्ध के समाप्ति के बाद के कृष्ण को हम प्रायः नहीं जानते। कुरुक्षेत्र में हुए युद्ध के उपरान्त वे सुख शांति की प्राप्ति हेतु द्वारका गए। लेकिन जिस सुख और शांति भरी जिंदगी की चाह में वे गए थे ऐसी जिंदगी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी। इसमें मुख्य रूप से कृष्ण के अंतिम दिनों की गाथा प्रस्तुत की गई है । वे जीवन के अंतिम पड़ाव में जिस मानसिक द्वंद्व से गुजरे हैं उस द्वंद्व को उपन्यासकार ने बहुत बारीकी से उद्घाटित करने की कोशिश की है। वृद्धावस्था में कदम रख चुके कृष्ण के अंतर्द्वंद्व से पीड़ित मन की व्यथा को उपन्यास में व्यक्त किया गया है।

1.4.3 संस्मरण साहित्य

समकालीन संस्मरण साहित्य में लेखक का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। कहना न होगा कि हिंदी कहानी को वयस्कता प्रदान करने के उपरांत वे संस्मरण जैसी आत्मनिष्ठ गद्य विधा की ओर उन्मुख हुए थे। अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर संस्मरणों के प्रवाह को बदलकर उन्होंने अभूतपूर्व हलचल पैदा की थी। संस्मरण विधा जो लंबे समय तक सुप्तावस्था में थी उसे पुनर्जीवित करने का श्रेय आप ही को जाता है। उनके द्वारा लिखित संस्मरणों ने हिंदी संस्मरण साहित्य में संजीवनी बूटी का काम किया है। आपके संस्मरणात्मक लेखन की

तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'याद हो कि न याद हो', 'आछे दिन पाछे गए', 'घर का जोगी जोगड़ा'।

1 .'याद हो कि न याद हो' (1992):राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली ।
यह विवेच्य साहित्यकार की पहली संस्मरणात्मक पुस्तक है। इस पुस्तक के कारण वे संस्मरणकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। इसमें उनके निम्नलिखित संस्मरण प्रकाशित हुए हैं- 'होल्कर हाउस में हजारीप्रसाद द्विवेदी', 'दंतकथाओं में त्रिलोचन', 'नागानन्दचरितम् वल्द अस्सी चौराहा', 'जी ही जाने है आह मत पूछो', 'किस्सा साढ़े चार यार', 'देख तमाशा लकड़ी का', 'गरबीली गरीबी वह', 'धुआं-धुआं यादें', 'नामवर के झक्कड़ बाबा', 'काची बाबू की चुहलें', 'लंका बाँके चारि दुआरा'।
इसके पहले संस्करण में प्रथम सात संस्मरण संग्रहित थे। लेकिन बाद के संस्करणों में 'धुआं-धुआं यादें', 'नामवर के झक्कड़ बाबा', 'काची बाबू की चुहलें', 'लंका बाँके चारि दुआरा' आदि संस्मरणों को जोड़ दिया गया।

2. 'आछे दिन पाछे गए' (2004) : वाणी प्रकाशन, 21--ए, दरियागंज नई दिल्ली-2।
संस्मरणों पर आधारित लेखक की यह दूसरी पुस्तक है। इसमें उनके निम्नलिखित संस्मरण प्रकाशित हुए हैं – 'रहना नहीं देस बिराना है', 'कलकत्ता में बांकेलाल', 'मुसाफिरखाना में चार दिन', 'कहानी की वर्णमाला और मैं', 'इक्कीसवीं सदी के देश का सफर', 'परिवेश स्मृतियों में', 'या तरुवर महँ एक पखेरू', 'तीसरे भाई की खोज में प्रानपियारे'।

3. 'घर का जोगी जोगड़ा' (2007): राजमकल प्रकाशन, 1-बी. नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक और आपके अग्रज बंधु नामवार सिंह के पारिवारिक जीवन पर प्रकाश डालती है। इसमें नामवर जी के पारिवारिक रिश्ते उभरकर सामने आए हैं। इस पुस्तक के संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र का कथन है – "काशीनाथ सिंह का आख्यानक उनके रचनात्मक गद्य की पूरी ताकत के साथ सामने आया है। काशी के पास रचनात्मक गद्य की जीवंतता है – गहरे अनुभव-संवेदन हैं। उनकी भाषा को लेकर और अभिव्यक्ति-भंगिमाओं को लेकर काफी कुछ कहा गया है, परंतु जो बात देखने की है वह यह है कि अपनी जमीन और परिवेश से काशी का कितना गहरा रिश्ता है। संस्मरण को जीवंत बना देने का कितना माद्दा है। काशी पूरी उर्जा में बहुत सहज होकर भी लिखते हैं और जब भइया सामने हों तो वे अपनी रचनात्मकता के चरम पर पहुंचते हैं और महत्वपूर्ण के साथ-साथ तमाम मार्मिक और बेधक भी हमें दे जाते हैं।"[31]

1.4.4 नाटक साहित्य

'घोआस' (1982): प्रारूप प्रकाशन, 64 चौक गंगदास, इलाहाबाद।

आपने घोआस नामक केवल एक नाटक लिखा है। यह नाटक प्रारूप प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। यह एब्सर्डिटी शैली में लिखा गया नाटक है। निर्देशक राजीव गोयल ने इसका मंचन किया था।

1.4.5 समीक्षा साहित्य

'आलोचना भी रचना है' (1996): किताबघर, 24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

आपकी पहचान मुख्यतौर पर कथा लेखक और संस्मरणकार के रूप में है। लेकिन उनकी 'आलोचना भी रचना है' नामक आलोचनात्मक पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक में उन्होंने कुछ आलोचनात्मक लेख लिखे हैं जो इस प्रकार हैं – 'विपक्ष का कवि धूमिल',

'जनवादी लेखन कितना जनवादी?', 'आज की कविता का व्याकरण कुछ संकेत-सूत्र', 'कहानी की वर्णमाला और मैं', 'प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन और हम', 'गोदान तीस साल बाद', 'हिंदी कहानी पर गार्डन रोडारमल के विचार', 'परमाणु युद्ध और समकालीन साहित्य', 'लोक साहित्य और साहित्य: संकट और दायित्व', 'लेखक की भूमिका का भारतीय संदर्भ', 'बातें कुछ यहां की कुछ वहां की' आदि।

साक्षात्कार

गपोड़ी से गपशप (2013) : संपादक-पल्लव, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-2।

शोध - समीक्षा

1.हिन्दी में संयुक्त क्रियाएँ (1976): रचना प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. आलोचना भी रचना है (1996): किताबघर, 24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

3. लेखक की छेड़छाड़ (2013): किताबघर, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-2।

संपादन

1.परिवेश (अनियतकालीन पत्रिका-1971-76) : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित।

2.काशी के नाम (नामवर सिंह के पत्रों का संचयन-2007): राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2

सम्मान

1. 2001, शरद जोशी सम्मान, संस्कृति विभाग मध्य प्रदेश।

2. 2003, साहित्य भूषण पुरस्कार, हिन्दी सम्मान, उत्तर प्रदेश।

3. 2004, कथा सम्मान दिल्ली।

4. 2010, राजभाषा पुरस्कार, बिहार सरकार।

5. 2011, साहित्य अकादमी पुरस्कार, भारत सरकार।

6. 2012, सृजन सम्मान आसनसोल, पश्चिम बंगाल।

7. 2013, रचना समग्र पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता।

8. 2013, मीरा स्मृति सम्मान, मीरा फाउण्डेशन एवं साहित्य भण्डार, इलाहाबाद।

संदर्भ सूची

1. सं. राजेन्द्र यादव, आत्मतर्पण, पृ. 238

2. सं. राजेन्द्र यादव., आत्मतर्पण, पृ. 239

3. सं. राजेन्द्र यादव, आत्मतर्पण, पृ. 239

4.काशीनाथ सिंह से साक्षात्कार: बनारस आवास पर

5.काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है, पृ. 160

6.काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है, पृ. 52

7.काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है, पृ. 181

8. डॉ. नामवर सिंह के साथ बातचीत : गोवा प्रवास दौरान

9. काशीनाथ सिंह, याद हो कि न याद हो, पृ. 221

10. काशीनाथ सिंह से बातचीत: बनारस आवास पर

11. रामजी सिंह से बातचीत: अस्सी चौराहा

12. डॉ. नामवर सिंह से बातचीत : गोवा प्रवास के दौरान

13. डॉ. रोहिताश्व से वार्ता : दोना पावला आवास पर.

14. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, चौपाल, अंक 1, पृ. 21, 22

15. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, चौपाल, अंक 1, पृ. 17, 18

16. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, चौपाल, अंक 1, पृ.25

17. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, चौपाल, अंक 1, पृ.11

18. सं. मनीष दुबे, कहन, अंक 4, पृ. 65

19. काशीनाथ सिंह से साक्षात्कार: बनारस आवास पर

20. काशीनाथ सिंह से बातचीत: बनारस

21. बी. एच. यू. के विद्यार्थी प्रदीप भारती से बातचीत (बिरला होस्टल)

22. बी.एच. यू. के विद्यार्थी प्रदीप भारती से बातचीत (बिरला होस्टल)

23. प्रो. कमला प्रसाद से वार्ता : गोवा प्रवास दौरान (पणजी).

24. काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है, पृ. 120

25. सं. मनीष दुबे, कहन, अंक 4,पृ. 49, 50

26. सं. मनीष दुबे, कहन, अंक 4,पृ. 64

27. चौथीराम यादव, हंस, मार्च, 1999, पृ. 37

28. काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है, पृ. 136

29. सं. मनीष दुबे, कहन, अंक 4, पृ. 65, 66

30. सं. मनीष दुबे, कहन, अंक 4, पृ. 208

31.काशीनाथ सिंह, घर का जोगी जोगड़ा, फ्लैप कवर से

2. समाज एवं संस्कृति: सैद्धांतिक विवेचन

समाज मानव प्राणी की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है जो उसके सामूहिक जीवन का प्रतिबिंब है। समाजवैज्ञानिकों के अनुसार इसका अर्थ व्यष्टि से नहीं बल्कि समष्टि के बीच पाए जाने वाले अंतर्संबंधों के प्रबंध से लिया जाता है। सामाजिक प्रबंध और इस प्रबंधन की निर्मिति मनुष्यों के बीच उत्पन्न हुए असंख्य संबंधों से होती है।

समाज वैज्ञानिक इसे सामान्य क्षेत्र, सहभागिता और संस्कृति से युक्त व्यक्तियों का एक समूह मानते हैं। किसी भी समाज में दो या दो से अधिक लोग होते हैं जो आपस में बातचीत करते हैं और एक दूसरे को जानते हैं। इसके निर्माण के लिए एक-दूसरे के संपर्क में आना अवश्यंभावी है। यदि किसी देश के लोगों के समूह का दूसरे के साथ कोई नियमित संपर्क नहीं है, तो उन्हें उसी समूह का भाग नहीं माना जा सकता है। भौगोलिक दूरियां और भाषा का अवरोध किसी देश के भीतर जनसाधारण को अलग कर सकता है। उदाहरण के लिए बांग्लादेश बनने के पहले पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान एक देश हुआ करता था। लेकिन पूर्वी पाकिस्तान के निवासी बंगाली भाषा बोलते थे, जबकि पश्चिमी पाकिस्तान के जनता की जबान उर्दू थी। भौगोलिक दूरी, बोली भाषा में अंतर और दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक भिन्नता के कारणवश पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान सन् 1971 में दो देशों में विभाजित हो गए, जिसमें पश्चिमी पाकिस्तान को अब पाकिस्तान कहा जाता है और पूर्वी पाकिस्तान बांग्लादेश हो गया। इस प्रकार प्रत्येक नवगठित समाज के भीतर, जनसमूह के पास एक सामान्य संस्कृति, इतिहास और भाषा होती है। एक ही समुदाय के लोग अपने जीवनशैली के विभिन्न पक्षों को साझा करते हैं, जैसे कि बोली, खान-पान, रहन सहन, विश्वास आदि। संस्कृति

मुख्य रूप से भाषा, मूल्यों, विश्वासों, व्यवहार और भौतिक वस्तुओं को संदर्भित करती है जो जनसाधारण के जीवन के तौर-तरीकों का निर्माण करती है।

2.1 समाज: संकल्पना एवं स्वरूप

समाज शब्द का प्रयोग मानव समूह के लिए किया जाता है। अतः यह मानव समूह के अंतर्गत व्यक्तियों के आपसी संबंधों की व्यवस्था का नाम है । यह अनेक लोगों का संगठन है, इसके अंतर्गत इसमें रहनेवाले लोगों के क्रियाकलाप अक्सर एक दूसरे से संबंधित होते हैं।

यह शब्द संस्कृत भाषा के दो शब्दों 'सम्' एवं 'अज' से बना हुआ है। सम् का अर्थ है एकत्रित तथा अज शब्द का आशय है साथ रहना। इस प्रकार समाज शब्द का मतलब है एक साथ रहने वाला समूह।

प्रामाणिक हिंदी कोश में समाज शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है – "समूह, गिरोह, एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह।"[1] कालिका प्रसाद जी द्वारा संपादित बृहद हिंदी कोश में इस शब्द का अर्थ है – "मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति, समान कार्य करने वालों का समूह, विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित संस्था।"[2] नालंदा विशाल शब्द सागर में समाज से तात्पर्य है – "समाज का अर्थ एक स्थान पर रहने वाला समूह अथवा एक ही प्रकार का कार्य करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह-समुदाय।"[3] इस शब्द का अभिप्राय पूरे विश्व से लिया जा सकता है क्योंकि आधुनिकीकरण के चलते इंसान घर बैठे संचार माध्यमों की सहायता से दुनियाभर के किसी भी छोर से अपने संबंध स्थापित करने में सक्षम है।

इसलिए कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में समाज केंद्रिभूत हो गया है। इस तरह यह एक जाल के समान है जिसमें व्यक्ति अंतर्संबंधों के जरिए अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए आपसी संबंधों की बुनावट करता है। यह संबंध आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक हो सकते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएं होती हैं और इन्हें परिपूर्ण करने के लिए उसे इतर लोगों की गरज पड़ती है। इसके बनने के लिए इंसानों के बीच आपसी सहयोग जरूरी है। लेकिन सहयोग के साथ मानसिक जागरूकता भी अनिवार्य है। हम सोच सकते हैं कि यदि दुनिया के लाखों करोड़ों लोगों से हम जुड़ जाएंगे तो हमारे बीच इतना बड़ा जाल बुना जाएगा और इसे सुव्यवस्थित रखने के लिए अनेक तरह के प्रबंधन होने चाहिए । इस तरह से समाज संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है जिसे महसूस किया जाता है इसे हम देख नहीं सकते और न तो इसे हम छू सकते हैं।

ध्यातव्य है कि विभिन्न विचारकों द्वारा इस पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में कतिपय विद्वानों की परिभाषाएं विशेष महत्त्व रखती हैं। इसको लेकर गिन्सबर्ग महोदय का मत है "समाज सुनिश्चित संबंधों एवं व्यवहार की पद्धतियों से सुसंबद्ध व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो दूसरे व्यक्तियों से सहज ही अलग पहचाना जा सके।"[4] रयूटर के अनुसार समाज एक अमूर्त शब्द है जो एक समूह के दो या दो से अधिक सदस्यों के बीच स्थित पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है। अर्थात अगर दो से कम व्यक्ति हो तो उसे समाज नहीं कह सकते। उदाहरणस्वरूप जब दो व्यक्ति आपस में विवाह करते हैं तब वे एक समाज का निर्माण करते हैं। गौरतलब है कि इसके सृष्टि के लिए एक से अधिक व्यक्ति अपेक्षित है। यह संबंधों की जटिलता का बोध कराता है। रयूटर कहते हैं कि मनुष के संबंध अपने कुल के साथ-साथ बाहर के अन्य सदस्यों से भी रहते हैं।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर तथा पेज के मुताबिक – "समाज रीति-रिवाजों, कार्य-प्रणालियों की अधिकार और पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके विभाजनों, मानक व्यवहारों के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और सदैव परिवर्तित होता रहता है।"[5] इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज कुछ रीतियों और कार्य प्रणालियों से आबद्ध होता है। इसके जीवन यापन के अपने नियम और तौर तरीके होते हैं। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत वह जिस समूह से जुड़ा होता है उसके नियमों का उसे पालन करना पड़ता है। इसके बदले में समुदाय हर शख्स को कुछ मौलिक अधिकार भी देता है। इन अधिकारों के दायरे में रहकर वह अपने कार्यकलाप करता है। इसे व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए आपसी सहयोग की गरज पड़ती है। इसके अंतर्गत हर एक इंसान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में एक-दूसरे से जुड़ा रहता है। इसका एक रुप समूहों और विभाजनों में भी दिखाई पड़ता है। गौरतलब है कि लोग अगर समूह में रहते हैं तो इनका विभाजन भी किया जाता है। अतः इसके अंतर्गत हमें जीने की आजादी है लेकिन इसके साथ ही वह जनसाधारण पर नियंत्रण भी रखता है। इसके द्वारा दी जाने वाली आज़ादी का अगर उल्लंघन होता है तो यह मुश्किलें पैदा कर सकता है। इसलिए यह आशंका बनी रहती है कि ऐसी स्वाधीनता कहीं समाज के लिए घातक न बन जाए। यही वजह है कि सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप में चलाने के लिए लोगों पर स्वतंत्रता के साथ-साथ नियंत्रण भी रखना लाजिमी है। इसमें रहकर मनुष्य को कुछ कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है। इसीलिए सामाजिक नियंत्रण जरूरी है। यह निरंतर परिवर्तनशील होता है तथा समय के साथ है सदैव परिवर्तित होता है। यह कोई स्थिर वस्तु नहीं है, उसमें धीरे-धीरे बदलाव होते रहते हैं। मनुष्यों के आचार-विचार समय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इसके अंतर्गत रहने वाले लोगों को इसे सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ सामान्य तत्व कार्यरत होते हैं। यह तत्व निम्नलिखित हैं –

2.1.1 कार्य प्रणाली

इन नियमों में पहला और महत्त्वपूर्ण नियम है समुदाय द्वारा निर्धारित कार्य प्रणालियों का पालन। इसके द्वारा नियमित कार्य विधियों का समस्त जनता द्वारा पालन किया जाता है। यह रीतियां हैं – संस्कार, शिक्षा, विवाह। इसके सदस्य इन विधियों का जीवन में पालन करते हैं। उदाहरण स्वरूप हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, जैन, पारसी आदि धर्मों का पालन करने वाले लोगों ने विवाह को लेकर कुछ नियम बनाए हैं। इसलिए यह तय किया जाता है कि उस धर्म के लोगों को कहां ब्याह करना है और कहां नहीं करना है। अधिकांश लोग चाहते हैं कि उनके संप्रदाय को मानने वाला व्यक्ति उसी में शादी ब्याह संपन्न करे। अगर कोई व्यक्ति अपने संप्रदाय के बाहर विवाह करता है तो इस कार्य को सहज रूप में नहीं लिया जाता। हालांकि वर्तमान युग में इन कठोर नियमों को लेकर काफी नरमी आयी है फिर भी ज्यादातर लोग चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति इन नियमावलियों का पालन करें। इसी तरह हिंदुओं में जब किसी की मृत्यु हो जाती है तब उसे चीता पर लिटाकर जलाया जाता है। वही इसाइयों और मुसलमानों में शव को जमीन में दफनाया जाता है। इस तरह जो नियम समाज ने बनाए हैं उनका पालन करने के लिए लोगों को बाध्य किया जाता है।

2.1.2 जीवन पद्धति

इसका दूसरा नियम है जीवन पद्धतियों का पालन। मनुष्यों में संगठन बनाए रखने के लिए कुछ कार्य प्रणालियों को अपनाने पर बल दिया जाता है ताकि लोग अपनी जरूरतों को पूर्ण कर सके। इन्हें अधिकतर लोग व्यवहार में लाते हैं। यह जीवन शैलियां मानव के अतिरिक्त स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगा कर रखती हैं। जैसे कि विवाह करते वक्त व्यक्ति को अनेक विधियों को मानते हुए समाज निर्धारित रीति-रिवाजों के अनुसार चलना पड़ता है और इन

कार्य पद्धतियों तथा निषेधों को आत्मसात करके मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

2.1.3 अधिकार

इसका तीसरा और महत्त्वपूर्ण नियम है अधिकार। दरअसल इसमें अनेक प्रकार के कार्यों को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए कुछ लोगों को विशेष अधिकार दिए जाते हैं। उदाहरणस्वरूप प्राचीन काल में राजा के पास कुछ ऐसे अधिकार होते थे जिनके आधार पर वे अपनी प्रजा को नियंत्रित करते थे। वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिए शासन तंत्र के अंतर्गत कुछ लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिससे कि वे समाज का संयोजन ठीक से कर सके। गांवों के व्यवस्थित प्रबंधन के लिए मुखिया को कुछ विशेष अधिकार दिए जाते हैं। उसी प्रकार भारतीय परिवार में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अंतर्गत पिता को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं, जिनका उपयोग कर वह अपने परिवार को चलाने के लिए करता है। कुछ अधिकार ऐसे भी होते हैं जो समाज सर्वसामान्य लोगों को देता है तथा कतिपय अधिकार संवैधानिक होते हैं जो शासन और कानून के द्वारा लोगों को प्राप्त होते हैं। दोनों प्रकार के नियमों के माध्यम से समाज नियंत्रित रहता है और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है ताकि उसके उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

2.1.4 सहयोग

इसका चौथा नियम है पारस्परिक सहयोग। व्यक्ति समाज से बंधा हुआ है और आपस में सहयोग करता है क्योंकि बिना सहयोग के हम किसी मानव समुदाय की कल्पना नहीं कर सकते। इसमें विचरण करने वाला आदमी पारस्परिक सहयोग के बिना अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुत: सहयोगिता दो प्रकार की होती है। प्रथम प्रत्यक्ष सहयोग और दूसरा

अप्रत्यक्ष सहयोग। पारिवारिक सहभागिता पहले के अंतर्गत आती है। समाज के अंतर्गत लोग परस्पर संबंधों द्वारा संचालित होते हैं और अपनी जरूरतों को पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार हमारी शिक्षा, व्यवसाय तथा अन्य जरूरतें जो काफी विस्तार में फैली होती हैं इन्हें पूर्ण करने के लिए हमें अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग करना पड़ता है। वर्तमान समय में सहयोगिता का अप्रत्यक्ष क्षेत्र अधिक महत्त्व रखता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोगिता के द्वारा हम अपने जीवन की कतिपय जरूरतों की पूर्ति करते हैं।

2.1.5 नियंत्रण

मानव व्यवहार का नियंत्रण इसका पांचवां नियम है। देखा जाए तो मनुष्य स्वभावत: बहुत स्वार्थी प्राणी है। अपने हितों की पूर्ति करने के लिए दूसरों को दरकिनार कर वह अपने स्वार्थ की रक्षा करता है। इसलिए इसके व्यवहार पर नियंत्रण रखना अत्यंत लाजिमी होता है। पुलिस प्रशासन, नियम, कायदे-कानूनों के माध्यम से व्यक्तियों पर नियंत्रण रखा जाता है। इस प्रकार एक व्यवस्था बनी होती है ताकि लोग एक दूसरे के साथ सुनियोजित रूप में कार्य कर सके।

2.1.6 स्वतंत्रता

इसका छटा और उल्लेखनीय नियम है स्वतंत्रता का। इसे गतिशील रखने के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया है। लेकिन लोगों को दिए गए इन अधिकारों को नियंत्रित भी किया जाता है ताकि कोई अराजकता पैदा न हो। इस प्रकार आजादी और नियंत्रण में निरंतर तालमेल बना रहना आवश्यक है। इसी के आधार पर समाज विकसित हो सकता है। स्वतंत्रता का उपभोग एक जिम्मेदारी के तहत किया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति की आजादी के कारण अन्य व्यक्तियों को हानि न पहुंचे यह देखना भी जरूरी है। व्यष्टि और समष्टि के विकास के लिए स्वतंत्रता आवश्यक तत्त्व है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह हमेशा से ही सोच-विचार कर आगे बढ़ने का प्रयास करता रहा है । उसने अपने लिए एक संगठन का निर्माण किया है। वह अपने बुद्धि के बलबूते सदैव प्रगति की ओर उन्मुख हुआ है। पृथ्वी पर विचरण करने वाले अन्य प्राणियों के मुकाबले उसे एक अद्भुत शक्ति मिली है और वह है उसका प्रगत मस्तिष्क। मनुष्य ने अपनी बुद्धिमत्ता का उपयोग करते हुए स्वयं को विकसित किया है। समयानुसार उसकी जीवनशैली बदलती गयी और इस कारण उसके जीवन उद्देश्यों में भी परिवर्तन हुआ। इससे मानव जाति ने स्वयं को एकसूत्रता के बंधन में बांधकर जीने की कला में माहिर बनाना प्रारभ्म किया। एकता के सूत्र से संघटन बने और इस तरह एकत्रित रहने की पद्धति को समाज कहा गया। धीरे-धीरे मनुष्य इन्हीं संगठनों में बंधता चला गया और इसके अंतर्गत वह इसकी उपयोगिता को समझने भी लगा। इस तरह एक-दूसरे के साथ रहने के कारण उसकी अपेक्षाएं बढ़ती गईं और इन बढती हुई अपेक्षाओं के कारणवश उसे विभिन्न समूहों एवं व्यवसायों को अपनाना पड़ा है। वह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त होने लगा लेकिन इसके साथ उसकी आपसी निर्भरता और अधिक बढती गयी है। समय के साथ वह अपनी ज़रूरतों के लिए दूसरों का सहारा लेने लगा, साथ ही साथ दूसरों के लिए सहारा भी बनता गया। इन परिस्थितियों ने मजबूत सामाजिक संबंधों को स्थापित कर दिया।

दरअसल व्यक्तियों द्वारा समाज जैसे संगठन का सृजन विचारपूर्वक ही किया गया है। चूंकि इसका सृजनकर्ता स्वयं मनुष्य है अतः इसके निर्माण के पीछे मुख्य उद्देश्य मानव हितों की रक्षा करना है। दूसरे शब्दों में हमने इस संस्था का निर्माण अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया है। व्यष्टि से समष्टि की निर्मिति होती है इसलिए इसके अंतर्गत व्यक्ति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक सृष्टि में व्यक्तिगत मान्यताएं भी अपनी विशेष पहचान

रखती हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थक व्यक्ति को महत्त्व देते हैं। साथ ही यह भी मानते हैं कि हर शख्स समाज-रचना में अपनी भूमिका अदा करता है। अत: सामाजिक निर्णय एवं व्यक्तिगत निर्णय के बीच भेद हो सकता है एवं सामाजिक निर्णय के विरुद्ध हर शख़्स को फैसला लेने का अधिकार है। यही कारण है कि व्यक्तिगत मान्यताओं और सामाजिक मान्यताओं में संघर्ष होता रहता है। संसार में ऐसे दूरदर्शी लोग हुए हैं जो रूढ़ हो चुकी मान्यताओं से अलग सोच-विचार रखते हैं और यह विचार बृहद परिप्रेक्ष्य में मानवजाति के लिए उपयोगी भी साबित होते हैं। लेकिन अक्सर यह देखा गया है कि समकालीन दौर में ऐसे विचारों को तत्काल ग्रहण नहीं किया जाता। परंतु आने वाले समय में विकसित मस्तिष्क द्वारा दिए गए विचार अगली पीढ़ियों के लिए मान्य हो जाते हैं। इसीलिए इसके विकास के लिए व्यक्तिगत मान्यताएं एवं विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण साबित होते रहे हैं।

मनुष्य समाज में जन्म लेता है और उसी के मध्य विभिन्न क्रियाकलाप करता हुआ जीवन यापन करता है। वह इस घेरे में स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है तथा इसमें रहने के कारण अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहता है। वास्तव में यह मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग का ही परिणाम है। व्यष्टि के अभाव में समष्टि की स्थिति एवं अस्तित्व अकल्पनीय है। प्रत्येक समुदाय के जीवन संबंधी, कुछ नियम, परंपराएं और रीति-रिवाज होते हैं और उसमें निवास करने वाले प्रत्येक आदमी के लिए उन नियमों का अनुपालन जरूरी होता है। यह उल्लेखनीय है कि आकस्मिक रूप से इकठ्ठा हुए लोगों को समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसकी निर्मिति असंख्य मनुष्यों द्वारा सार्वजनिक हितों के उद्देश्य तथा पारस्परिक संबंधों की स्थापना के लिए की जाती है। यह केवल समय पर आधारित नहीं होता बल्कि इसका विकास अल्प अवधि के लिए न होकर अविराम गति से होता है।

व्यक्ति समुदाय में रहकर अपने कार्यों के बल पर समृद्ध एवं सुदृढ़ बनता है। वह अपनी बुद्धिमत्ता का उपयोग कर यश का अधिकारी हो सकता है। वस्तुतः उसका समाज के विभिन्न रूपों तथा संदर्भों से संबंध होता है। सामाजिक कार्यों के माध्यम से वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है। उसकी चेतना की आधारशिला भी ये संबंध ही होते हैं जिसे वह अभिव्यंजित करता है तथा इससे दूर रहकर व्यक्ति का जीवन संभव नहीं । इसमें रहते हुए उसकी जिंदगी में सुख एवं दुख का रेला लगा रहता है अर्थात मनुष्य की जिंदगानी प्रकृति के नियमानुसार परिवर्तनशील है, जिससे इसके स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है।

2.2 समाज: प्रकार एवं विशेषताएं

आदिम काल से लेकर अद्यतन युग तक मनुष्य सभ्यता विकसित होती रही है। तब से लेकर आज तक समाज के विभिन्न प्रकार एवं उसकी विशिष्टताएं पायी जाती हैं।

2.2.1 प्रकार

मनुष्य ने आरंभ से लेकर अब तक कई प्रकार के समुदायों की स्थापना की है, लेकिन विशेषज्ञ मुख्य रूप से सात प्रकारों को रेखांकित करते हैं। यह निम्नलिखित हैं –

2.2.1.1 शिकार तथा संग्रहण समाज

शिकार और संग्रहण करने वाले लोग मुख्य रूप से जानवरों का शिकार कर अपनी जीविका चलाते थे। वे मछलियां पकड़ते थे, जंगल में रहने वाले पशुओं का शिकार करते थे, इसके अलावा पौधों को इकट्ठा करके जीवित रहते थे। जंगली पशुओं का आखेट करने वाले लोग प्राचीन काल में मौजूद थे। वर्तमान समय में यह लगभग विलुप्त होने के कगार पर है। आज बहुत कम लोग इसका हिस्सा हैं। प्रारंभिक मानव समूह जिंदा रहने के लिए पूरी तरह से

अपने आसपास के वातावरण पर निर्भर करता था। उस क्षेत्र में रहने वाले जानवर जब एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में चले जाते या उस क्षेत्र के पेड़-पौधे खत्म हो जाते, इसके अलावा जब उस इलाके का पानी का स्त्रोत समाप्त हो जाता था तब उस क्षेत्र में निवास करने वालों को भी एक ऐसे क्षेत्र से स्थानांतरित होकर दूसरे क्षेत्र में जाना पड़ता था जहां उन्हें जीवित रहने के लिए भरपूर मात्रा में संसाधन उपलब्ध होते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पशुओं का शिकार करने वाले मानव आमतौर पर बड़ी मात्रा में स्थानान्तरण करने लगे । जिन स्थानों पर खाद्यान्न सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी वहां छोटे-छोटे समूह बसने लगे। लेकिन अधिकांश शिकारी लोग खानाबदोशी का जीवन जीते थे। भोजन और पानी की तलाश में वे लगातार स्थानांतरण करते रहते थे।

इसकी एक खासियत यह थी कि श्रम को सदस्यों के बीच समान रूप से विभाजित किया जाता था। इस यायावरी प्रकृति के कारण, ये लोग खाद्य पदार्थों का बहुत कम भंडारण करते। इसलिए आगे चलकर वह मछली, फल और सब्जियों को इकट्ठा कर, इन चीजों का संग्रह करने लगा। इस प्रकार की व्यवस्था में लिंग के आधार पर श्रम का विभाजन होता था। पुरुष बड़े पशुओं को मारते एवं इन्हें पकड़ने के लिए लंबी दूरियां तय करते थे। उनकी तुलना में महिलाएं छोटे जानवरों का शिकार करती थीं। पौधों को इकट्ठा करने, बच्चों की रक्षा करने और पुरुषों को प्रतिद्वंद्वी समूहों से बचाने में महिलाएं मदद करती थीं। यह एक प्रकार से आदिवासी समुदाय था। इन्होंने अपनी विरासत, परंपराओं और रीति-रिवाजों को संभाल कर रखने की भी भरसक कोशिश की।

2.2.1.2 चरवाहा समाज

शिकारी के बाद चरवाहों का युग दिखाई देता है। चरवाहा के सदस्य, भोजन और परिवहन के लिए पशु पालन करने लगे थे। उत्तरी अफ्रीका के रेगिस्तानी इलाकों में जहां बागवानी संभव नहीं है वहां आज भी इस प्रकार के लोग दिखाई देते हैं। इन्होंने हाथ से बने औजारों से खेती करना सीख लिया था। यह लोग अब जानवरों का आखेट करने के साथ-साथ उन्हें पालने भी लगे थे। उन्हें यह ज्ञात हुआ था कि पशुओं का आखेट करना अत्यंत कठिन काम है। जानवर का शिकार करने की तुलना में उन्हें पालना ज्यादा सुविधाजनक था। इन पशुओं का वह भोजन के रूप में भी उपयोग करने लगे थे। पशुओं को मारकर जो भोजन प्राप्त होता था उसे संचय करना संभव नहीं था। लेकिन इन पशुओं का आगामी समय के लिए पशुधन के रूप में संचय करना संभव था। इसलिए ये लोग पशुओं को पालने लगे थे। इस कारण वे एक ही स्थान पर बसने लगे और उन्होंने एक ही स्थान पर अपनी बस्तियां बनायीं। बस्तियों को विकसित करने के कारण एक ही स्थान पर लंबे समय तक रहना उनके लिए संभव हो सका। इस स्थिरता के कारण वे अपने इर्द-गिर्द के समुदायों के बीच व्यापार भी करने लगे। उस समय जिनसे संपर्क हुआ, उनके साथ विविध प्रकार के व्यवसाय भी विकसित होने लगे और लोगों ने अपने आसपास के स्थानीय समूहों के साथ व्यापार शुरू किया। कभी-कभी किसी स्थान पर पशु चराने के अधिकार को लेकर इनके बीच लड़ाइयां भी होती थीं। इन लड़ाइयों में जो लोग हार जाते थे उन्हें गुलामों के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। इस दौरान कुछ सामूदायिक अधिक तेज गति से विकसित होने लगे थे। इन समुदायों में आर्थिक संस्थान उन्नत अवस्था में पहुंचने लगे। क्योंकि बाकियों पर विजय प्राप्त करने के कारण उनके संबंध अधिक लोगों से होने लगे थे और यह समूह तेज गति से उन्नत होने लगा था।

2.2.1.3 बागबानी समाज

चरवाहा समाज जिस समय विकसित हो रहा था, उसी समय एक और प्रकार का समूह उन्नत हुआ जो पौधों को उगाने और खेती करने की नई तकनीक सीख गया था। जानवरों को पालतू बनाने पर निर्भर रहने वाले चरवाहों के विपरीत बागबानी करने वाले लोग फलों, सब्जियों और पौधों की खेती पर निर्भर रहने लगे थे। शिकार करने वालों की तरह ही बागबानी करने वालों को स्थानांतरित होना पड़ता था। संसाधनों की कमी या घटती जल आपूर्ति लोगों को अपने स्थान छोड़ने के लिए मजबूर करती थी। पहले किसी क्षेत्र में पानी की आपूर्ति में कमी ने जनसमूह को अपने पशुधन के लिए खाद्य स्रोतों की तलाश में स्थानांतरित किया था। बागबानी समाज का विस्तार उन क्षेत्रों में अधिक हुआ जहाँ वर्षा और अन्य प्राकृतिक स्थितियों के कारण वे अच्छी तरह से फसल उगा सकते थे। इन परिस्थितियों के कारण वे एक स्थान पर स्थिर हो सके। शिकारी एवं बागबानी करने वाले अपने अस्तित्व के लिए पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर थे। बागबानी में उन्हें अपना स्थान छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। वे स्थायी बस्तियों में रहने में सक्षम थे। इसने इन लोगों को अधिक स्थिरता देने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

2.2.1.4 कृषि समाज

लगभग 3000 ई.पू., मनुष्य ने कृषि करने के सरल तंत्र को अपनाया था। कृषि के इस नई तकनीक ने बड़ी मात्रा में खेती को संभव और लाभदायक बना दिया। किसानों ने अपने खेतों पर उगाई जाने वाली फसलों को पुन: उपयोग करना भी सीखा, जिससे बेहतर फसल कैसे उगाई जाती है यह वे जान गए थे। खेती के लिए इस्तेमाल होने वाले खुदाई और कटाई के नए उपकरण धातु से बने थे। यह उपकरण अधिक प्रभावी और लंबे समय तक चलने वाले थे। इन नवीन औजारों के कारण खेतीबाड़ी करना मनुष्य के लिए आसान हो गया था। नवीन

पद्धति को अपनाने के कारण मानव बस्तियां एक जगह पर एकत्रित होने लगीं। धीरे-धीरे नगरों की संख्या में बढ़ोतरी हुई। खाद्य आपूर्ति में वृद्धि होने के कारण पहले के समुदायों की तुलना में एक ही जगह पर बढ़ी हुई आबादी का निर्माण हुआ। जिसके परिणामस्वरूप ऐसे नगर बन गए जो विभिन्न शासकों, शिल्पकारों, व्यापारियों और धार्मिक नेताओं का समर्थन करने वाले केंद्र बन गए, अब उन्हें पोषण का पता लगाने की चिंता नहीं थी।

कृषि में महिलाएं भी पुरुषों के साथ खाद्य सामग्री एकत्रित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाती थीं। लेकिन जैसे-जैसे खाद्य भंडारण में सुधार हुआ स्त्रियां परिवार के लिए खाद्य पदार्थ एकत्रित करने में कम भूमिका निभाने लगीं, वे पुरुषों पर अधिक निर्भर होती गयीं। गाँवों और नगरों का विस्तार हुआ, इस विस्तार के कारण अन्य समुदायों के साथ उनका संघर्ष होने लगा। विरोधियों के आक्रमण से निपटने के लिए किसानों ने योद्धाओं का निर्माण किया। अपने लोगों को आक्रमण से बचाने के लिए युद्धवीरों का आयोजन किया गया था। कुछ कृषि समूह ऐसे भी थे जो सतत युद्ध में लगे रहते थे तथा उन्होंने धीरे-धीरे अपने साम्राज्य स्थापित कर लिए। जैसे-जैसे संसाधन उपलब्ध होते गए, सामाजिक वर्ग अधिक विभाजनकारी होते गए। जिनके पास संसाधनों की अधिकता थी वे बेहतर जीवन यापन कर सकते थे और वे एक प्रकार के कुलीन वर्ग में समाहित हो गए। पुरुषों और स्त्रियों के बीच सामाजिक प्रतिष्ठा में अंतर बढ़ गया। नगरों के विस्तारीकरण से प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व और संरक्षण एक चिंता का विषय बनता गया।

2.2.1.5 सामंती समाज

नौवीं शताब्दी के आसपास सामंतीय समाज का निर्माण होने लगा था। इसमें भूमि के अधिकार और संरक्षण के आधार पर सत्ता की एक नई प्रणाली शुरु हुई थी। नौवीं शताब्दी से

लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक सामंतवाद भूमि वर्चस्व पर आधारित समुदाय का एक रूप था। आज के किसानों के विपरीत, इसके तहत किसान अपने स्वामी की भूमि पर खेती करने के लिए बाध्य थे। इस व्यवस्था में किसानों को सैन्य सुरक्षा, भोजन, फसल और अन्य सेवाएं प्रदान की जाती थीं। लेकिन इसके बदले में कृषकों का बहुत बड़ी मात्रा में शोषण किया जा रहा था। इसके अन्तर्भूत जाति व्यवस्था भी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती थी। किसानों ने अनेक पीढ़ियों तक अपने स्वामियों की भूमि पर खेती की। चौदहवीं और सोलहवीं शताब्दी के बीच, एक नई आर्थिक प्रणाली उभरी जो सामंतवाद की जगह लेने लगी। मुक्त बाजार व्यवस्था के तहत व्यापार के क्षेत्र में एक खुली स्पर्धा का माहौल पैदा किया। जिसमें उत्पादन के साधन निजी स्वामित्व के अधीन थे। यूरोप द्वारा अमेरिका जैसे प्रदेश की खोज के बाद पूंजीवाद के विकास के लिए नया प्रोत्साहन मिला। विदेशी धातुओं और मसालों के व्यापार की शुरुआत ने यूरोपीय देशों में बडी मात्रा में वाणिज्यिक गतिविधियों का आरंभ हुआ। आगे चलकर इसकी सामाजिक और आर्थिक प्रणाली विफल हो गई और इसकी जगह पूंजीवाद और औद्योगिक युग के तकनीकी विकास ने ले ली।

2.2.1.6 औद्योगिक समाज

इसका उदय लगभग अठारहवीं शताब्दी में दिखाई पड़ता है। यह वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए मशीनों का उपयोग करने पर आधारित था। अठारहवीं शताब्दी के दौरान कारखानों में विविध वस्तुओं का उत्पादन औद्योगिक क्रांति के रूप में शुरु हुआ था। इस दौर में औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज गति से शुरू हुई थी।

अठारहवीं शताब्दी में, यूरोप ने तकनीकी क्रांति में एक बहुत बड़ी वृद्धि का अनुभव किया, जिसे औद्योगिकृत क्रांति के रूप में जाना जाता है। इस युग में नए-नए आविष्कारों ने लोगों

के दैनिक जीवन को बड़ी मात्रा में प्रभावित किया। पूर्ववर्ती युगों में जो काम महीनों तक चलते थे वह काम कुछ ही दिनों में पूर्ण किए जाने लगे। यह क्रांति सर्वप्रथम इंग्लैंड में दिखाई दी और फिर तेजी से दुनिया के बाकी हिस्सों में फैल गई। औद्योगिकीकरण के कारण जैसे-जैसे उत्पादकता बढ़ी, परिवहन के साधनों को जगह-जगह से उत्पादों के हस्तांतरण को बेहतर बनाने के लिए सुधार हुआ।

इससे पहले काम काफी हद तक व्यक्ति तथा पशु आधारित था। भाप इंजन के खोज ने मनुष्य के शारीरिक श्रम को काफी मात्रा में कम कर दिया। हर जगह वाष्प की शक्ति का असर दिखाई देने लगा था। पहले कपड़ों के बुनाई का काम कारीगरों द्वारा किया जाता था और यह काम बड़ा ही श्रमसाध्य हुआ करता था। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद लोगों ने कपड़ा मिलों की ओर रुख किया, जो बेहतर मूल्य पर कपड़े का उत्पादन करते थे और अक्सर बेहतर गुणवत्ता के साथ वस्तुओं का निर्माण करते थे। किसान अब हाथों से खेतों की बुआई और कटाई करने के बदले मशीनों को खरीदने लगे, जिससे कृषि उत्पादकता में बढ़ोतरी हो गई। कागज और कांच जैसे उपयोगी उत्पाद औसत व्यक्ति के लिए उपलब्ध हो गए। शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता बढ़ गई। इसी दौरान बल्ब के खोज के कारण रात का अंधेरा गायब होने लगा। बल्ब ने अंधेरे को दूर कर शहरों में रोशनी फैला दी। औद्योगिक अन्वेषण के परिणामस्वरूप शहरी केंद्रों का उदय हुआ। श्रमिकों ने नौकरियों के लिए कारखानों का सहारा लिया और शहरों की आबादी तेजी से बढ़ती गई। उद्योगीकरण में नई पीढ़ी व्यस्त हो गई और अधिक धन प्राप्त करने तथा अपने और परिवार की ओर अधिक ध्यान केंद्रित कर सकी। लोग चाहते थे कि उनकी संतानें भी ऊपर की ओर बढ़ते रहे। जैसे-जैसे पूंजीवाद बढ़ता गया वैसे-वैसे सामाजिक गतिशीलता भी बढ़ती गई। इस व्यवस्था के तहत जिनके पास कारखाने थे उन्होंने संपत्ति अर्जित की और यह लोग धनीक बनते गए। औद्योगीकरण ने

समाज के लगभग हर पहलू में बदलाव लाया। शहर में स्थित कारखाने उत्पादन के केंद्र बनते गए और लोग अपने जीविकोपार्जन के लिए इन कल-कारखानों की ओर खींचते चले गए। स्कूलों के माध्यम से लोगों को शिक्षा तथा बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध होने लगीं। लोगों के स्वास्थ्य में सुधार के साथ उनकी जीवनशैली में भी वृद्धि हुई। राजनीतिक संस्थान शासन के आधुनिक मॉडल में बदल गए। सामाजिक गतिशीलता के कारण संस्कृति की विविधता बढ़ी। मीलों में रोजगार खोजने के लिए लोग शहरों की ओर आकर्षित होने लगे इस कारण बड़े शहर उभरने लगे। उद्योगपतियों और कामगारों के बीच संघर्ष भी बढ़ने लगा। इसे नियंत्रित करने के लिए सामाजिक व्यवस्था सरकारी अधिकारियों के हाथों में चली गई। श्रमिक संघों और कल्याण संगठनों ने इन विवादों और श्रमिकों के कल्याण पर चिंताओं के मद्देनजर अपने संगठन भी बनाएं।

औद्योगिक युग में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तेजी से बदलाव भी जारी रहे, विशेष रूप से बड़ी मशीनों का उत्पादन और परिवहन के तेज साधनों के कारण उद्योगों को गति मिल गई। औद्योगिक क्रांति ने संगठन के नौकरशाही रूपों के विकास को भी देखा, जो लिखित नियमों, नौकरी के विवरणों और प्रबंधन के विविध तरीकों को अपना रहे थे। इस युग में मनुष्य का जीवन तेजी से बदल रहा था। कृषि युग से चली आ रही स्थापित परंपराएं बड़े शहरों के जीवन पर लागू नहीं होती थीं। औद्योगिकीकरण के दौरान लोगों का रुझान नए वातावरण की ओर बढ़ रहा था और लोगों ने अक्सर खुद को गंदगी, भीड़भाड़ और गरीबी की भयावह परिस्थितियों से सामना करते पाया। यह वह दौर था जब सत्ता अभिजात वर्ग के हाथों से चली जा रही थी। इस युग में बड़े-बड़े व्यावसायिक घराने जन्म लेने लगे। इन लोगों ने धन के बलबूते पर समाज को नियंत्रित करने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया। आखिरकार श्रमिकों पर हो रहे शोषण पर चिंताओं ने मजदूर संघों और कानूनों का गठन

किया जो कर्मचारियों के लिए अनिवार्य शर्तें निर्धारित करते थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते नई तकनीक की शुरुआत ने औद्योगिक युग को समाप्त कर दिया।

2.2.1.7 उत्तर औद्योगिक समाज

कंप्यूटर के आगमन के साथ ही विश्व एक नए युग में प्रवेश करता है। इस युग में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हम एक बहुत बड़ी क्रांति देख रहे हैं। यह क्रांति सूचना, ज्ञान और सेवाओं की बिक्री के आधार पर एक नए उत्तर आधुनिक रूप का निर्माण कर रही है। अब वस्तुओं का उत्पादन कारखाने के उत्पादन से संचालित होने के बजाय कंप्यूटर तकनीक की सहायता से समाज को आकार दिया जा रहा है। इस नई व्यवस्था के अंतर्गत भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में निहित औद्योगीकृत समाजों के विपरीत सूचना और सेवाओं के उत्पादन पर आधारित होती है। नई सहस्राब्दी के मोड़ पर, एक नए प्रकार का समुदाय उभरा है। यह सूचना, प्रौद्योगिकी और गैर-भौतिक वस्तुओं पर आधारित है।

2.2.2 विशेषताएँ

समाज में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं –

2.2.2.1 अमूर्तता

इसका निर्माण मनुष्य के आपसी संबंधों से होता है क्योंकि संबंध एक ऐसी वस्तु है जो दिखाई नहीं पड़ती । इसे केवल महसूस किया जा सकता है। इसीलिए यह मूर्त न होकर अमूर्त है। यह हमारे संबंधों तथा अंत: क्रियाओं में पलता बढ़ता है।

2.2.2.2 सहयोग तथा संघर्ष

इसके निर्माण के लिए मनुष्यों के भीतर आपसी सहयोग की नितांत आवश्यकता होती है। बिना सहकारिता के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन इसके अंतर्गत सहयोग के साथ-साथ संघर्ष भी होते रहते हैं। मनुष्य समूह में रहता है लेकिन इसी बीच उसके व्यक्तिगत स्वार्थों का भी निर्माण होता है। अपने व्यक्तिगत हितों के कारणवश उसका अन्य लोगों के साथ संघर्ष उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त समय के अनुसार मानव के विचारों में बदलाव आते रहते हैं। व्यक्तिगत विचारों की टकराहट समुदाय के अन्य सदस्यों से होती है। इस कारण भी उनके बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। इस तरह इसमें सहकार और संघर्ष की स्थिति चलती रहती है।

2.2.2.3 पारस्परिक जागरूकता

किसी भी सामाजिक संबंध के निर्माण हेतु अभिलाषित है कि समाज में रहने वाले सदस्यों के बीच परस्पर संबंध तथा उन संबंधों के प्रति जागरूकता हो। इसके सदस्यों को एक-दूसरे के अस्तित्व का आभास होना अपेक्षित है। इसके बिना दो व्यक्तियों द्वारा अंतःक्रिया के लिए प्रेरित होना संभव नहीं है। वे परस्पर तभी प्रभावित कर सकते हैं जब वे एक दूसरे को भली-भांति जानते हो। केवल शारीरिक रूप में समीप होने से सामाजिक अनुबंध नहीं बनते। जैसे कि बाजार में इकट्ठा लोग आपस में करीब होते हैं परंतु पारस्परिक जागरूकता के अभाव के कारण सामाजिक संबंध उत्पन्न नहीं होते।

2.2.2.4 समानता तथा विभिन्नता

विभिन्न व्यक्तियों का एकत्रित होने का कारण उनके विचारों, स्वार्थों, उद्देश्यों में समानता है। समरूपता का भाव मनुष्य को संगठित होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। समाज में सदस्यों

के विचार, लक्ष्य, उद्देश्य आदि में जहां एकरूपता पाई जाती है वही पर उनमें भिन्नता भी पायी जाती हैं। इसलिए विभिन्नताओं का होना आवश्यक है क्योंकि यह हमारे आपसी निर्भरता को बढ़ाती है। इसके कारण ही नए-नए विचार तथा आविष्कारों का जन्म होता है और सामाजिक विकास संभव हो पाता है।

2.2.2.5 पारस्परिक निर्भरता

समुदाय का सबसे जरूरी अंग है पारस्परिक निर्भरता। इसके सदस्य परस्पर अवलंबित होते हैं और यही विशेषता मनुष्य के अन्तर्संबंधों में स्थायित्व निर्माण करती है। अगर हम एक-दूसरे पर निर्भर न हो तो संबंध स्थाई नहीं बन सकते। इस प्रकार आपसी निर्भरता ही समुदाय को स्थायिता प्रदान करती है। हम अपनी सारी आकांक्षाओं को अपने आप पूर्ण नहीं कर सकते। हमें इसके लिए अन्य सदस्यों पर निर्भर होना पड़ता है। अगर मनुष्य अपनी सारी जरूरतें स्वयं पूरी कर सकता तो उसे सामाजिक प्राणी बनने की गरज ही महसूस न होती। परस्पर निर्भरता ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने के लिए बाध्य करती है।

2.3 संस्कृति: अवधारणा एवं स्वरूप

मनुष्य के लिए संस्कृति जीवन की एक विधि है। यह मानव जीवन में सोचने, विचार करने तथा कार्य करण के स्वरूप में अंतर्निहित होती है। कह सकते हैं कि संस्कृति किसी समाज में व्यवहत गुणों के समग्र स्वरूप का नाम है। अतः इसका अर्थ समाजशास्त्रीय अवधारणा के अनुसार समाज के अंतर्गत सीखा हुआ व्यवहार होता है। अर्थात इसमें रहने वाला व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत अपने इर्द गिर्द जो कुछ सीखता है वह इसके अंतर्गत आता है।

हिंदी साहित्य कोश के अनुसार - "संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा के 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु के सहयोग से बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत या परिष्करण करना है।"[६]
इस धातु से तीन शब्द बनते हैं 'प्रकृति' (मूल स्थिति), 'संस्कृति' (परिष्कृत स्थिति) और 'विकृति' (अवनति स्थिति)। जब 'प्रकृत' या कच्चा माल परिष्कृत किया जाता है तो यह संस्कृत हो जाता है और जब यह बिगड़ जाता है तो 'विकृत' हो जाता है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिये 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा के 'कल्ट' या 'कल्टस' से लिया गया है, व्युत्पत्ति के अनुसार कल्चर शब्द कल्टीवेशन के सदृश है। जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना और पूजा करना। संक्षेप में, किसी वस्तु को यहाँ तक संस्कारित और परिष्कृत करना कि इसका अंतिम उत्पाद हमारी प्रशंसा और सम्मान प्राप्त कर सके।

संस्कृति का शब्द का अर्थ है – उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। वह अपनी बुद्धि के बल से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरंतर सुधारता और उन्नत करता रहता है। विभिन्न विकासशील जीवन-पद्धतियों, रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, नवीन अनुसंधान और आविष्कारों को आत्मसात कर मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सभ्य बनता है। साधारणतः मनुष्य के भौतिक विकास को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। अपितु सभ्यता एक प्रकार से इसीका ही अंग है। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है जबकि संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है।

संस्कृति शब्द का उद्गम संस्कार शब्द से है। इसका अर्थ है दोष दूर करने के लिए अपनाई गई विधि। अतः इसका अर्थ वह शिक्षा-दीक्षा है जिससे मनुष्य के जीवन में सुधार आए। इसके कारण समाज में सुधार होते रहता है और वह मानव को उन्नत बनाती है। अपने

जीवन तथा आचरण को विशेष परिमार्जित करने पर ही कोई व्यक्ति शिष्ट अथवा संस्कृत कहलाता है।

संस्कार शब्द का अर्थ है व्यवस्थित करना, सजाना, सुधारना, शुद्धि। इस संदर्भ में बाबू गुलाब राय के विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। बाबू गुलाब राय के अनुसार – "संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।"[7] हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार - "मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति को संस्कृति कहा जाता है।"[8] हिंदी के प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है- "संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा हो कर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। संस्कृति मनुष्य का वह गुण है जिससे वह अपने भीतरी उन्नति करता है। दया, माया और परोपकार सीखता है। गीत, नाद, कविता, चित्र और मूर्ति से आनंद लेने की योग्यता हासिल करता है।"[9] डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल मनुष्य जीवन में इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं – "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है।... संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है। वह जीवन की प्राणवायु है, जो उसके चैतन्य को साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनंत मैत्री की भावना है।"[10] भारतीय विचारक डॉ. श्यामा चरण दुबे के अनुसार – "संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जनित मानव का अधिकार है। मनुष्य संस्कृति में जन्म लेता है, संस्कृति सहित जन्म नहीं लेता। शारीरिक विशेषताओं की भांति संस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती, सामाजिक जीवन में अनिवार्य संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति उसे ग्रहण करता है। समाज की परंपरा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति के अंतर्गत मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, संस्थाएं, सामाजिक संगठन, कला, साहित्य, धर्म, विचार आदि विषय आते हैं"[11]

कतिपय भारतीय विद्वानों के अलावा पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसके संदर्भ में अपने विचार रखे हैं। इस संदर्भ में मैथ्यू अर्नाल्ड का मत विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है – "जीवन को परिपूर्ण बनाने के लक्ष्य से अनुप्रेरित होकर इससे घनिष्ठ रूप से संबंधित सभी विषयों और सृष्टि में कथित और विचारित सर्वोत्तम के ज्ञान द्वारा पूर्ण सिद्धि संपादन एवं उस ज्ञानालोक का अपनी उन पूर्व संचित धारणाओं और आदतों पर, जिनका हम दृढ़तापूर्वक किंतु यंत्रवत अनुसरण करते हैं – निर्बंध या अबाध प्रवाह छोड़ना अर्थात् उस ज्ञानालोक में उनका परिष्कार करना ही संस्कृति है।"[12] इस संदर्भ में प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक मैकाइवर और पेज का अभीमत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार– "संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन के दैनंदिन अंतर्संबंधों में कला, साहित्य, धर्म, मनोविनोद और आनंद में पाए जाने वाले रहन-सहन और विचारों के तरीकों में हमारी अभिव्यक्ति है।"[13]

कतिपय विद्वानों के विचारों को देखने के बाद कुछ तथ्य उभरकर आते हैं। इन तथ्यों को आधार बनाकर हम संस्कृति का विश्लेषण कर सकते हैं। अर्थात मनुष्य के व्यवहार के कई पक्ष हैं जैसे – जैविक व्यवहार, मनोवैज्ञानिक व्यवहार, सामाजिक व्यवहार आदि। दरअसल मनुष्य ने प्रकृति से कुछ विशिष्ट क्षमताओं को प्राप्त किया है जिसके फलस्वरूप वह संस्कृति का निर्माण कर सका है। अगर हम मनुष्य के प्रगति की ओर ध्यान दे तो हम पाते हैं कि उसके प्रोन्नति के कुछ कारण हैं। मनुष्य के पास कुछ ऐसी खूबियां हैं जिनके कारण वह अन्य प्राणियों के मुकाबले श्रेष्ठ ठहरता है । यथा –

2.3.1 पैरों पर खड़े रहने की क्षमता

मनुष्य की पहली विशिष्टता है कि वह अपने दोनों पैरों पर खड़ा रह सकता है। इस तरह अपने पैरों के बल खड़े रहने की क्षमता ने उसे अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक सक्षम बनाया है।

2.3.2 हाथों की विशिष्ट बनावट

उसके हाथों की ख़ास किस्म की बुनावट उसकी दूसरी विशेषता है। मानव की उंगलियों की रचना इस प्रकार है कि वह अपनी उंगलियों के बदौलत हाथों का इस्तेमाल तरह-तरह की वस्तुएं बनाने के लिए कर सकता है। महीन से महीन चीज को भी वह उंगलियों के सहारे पकड़ सकता है और अपने कार्य को अधिक प्रभावी ढंग से कर सकता है। हाथ के इस उपयुक्त गठन के चलते मानव जाति ने बहुत प्रगति की है।

2.3.3 प्रगत मस्तिष्क

मनुष्य की तीसरी खूबी है उसका प्रगत मस्तिष्क। उसके पास एक ऐसा दिमाग है जिससे वह अन्य प्राणियों की तुलना में बेहतर ढंग से सोच-विचार कर सकता है। इसीके बलबूते उसने काफी प्रगति की है।

2.3.4 सूक्ष्मदर्शी निरीक्षण क्षमता

उसकी की चौथी खासियत है उसकी तीक्ष्ण दृष्टि। इसीके कारण वह चीजों का अवलोकन एवं निरीक्षण बहुत बारीक दृष्टि से कर लेता है। अपने सूक्ष्मदर्शी पर्यवेक्षण क्षमता के कारण मनुष्य ने विभिन्न आविष्कार किए जो मानव जीवन में बहुत उपयोगी साबित हुए।

2.3.5 प्रतीकों के निर्माण की क्षमता

इंसान की पांचवी सिफ़त उसके द्वारा प्रतीकों का निर्माण है। मनुष अपने ज्ञान एवं अनुभव को प्रतीकों के माध्यम से अगली पीढ़ियों के लिए हस्तांतरित करता है। इन प्रतीकों के हस्तांतरण का उत्तम उदाहरण है भाषा। मनुष्य ने एक-दूसरे के साथ संप्रेषण स्थापित करने हेतु भाषा का प्रयोजन किया और इसके लिखित स्वरूप को अगली पीढ़ियों के लिए हस्तांतरित कर दिया। इस तरह प्रतिरूपों के माध्यम से वह संस्कृति के विकास और विस्तार में महत्त्वपूर्ण साबित हुआ है।

2.4 संस्कृति: भेद एवं प्रवृत्तियां

इसके अंतर्गत कुछ प्रकारों के साथ-साथ प्रवृत्तियों की चर्चा आवश्यक है।

2.4.1 भेद

समाजशास्त्रियों ने मुख्यतः संस्कृति के दो प्रकारों की चर्चा की है –

1) भौतिक

2) अभौतिक

2.4.1.1 भौतिक

इसके अंतर्गत उन वस्तुओं का समावेश होता है जिसे मानव ने स्वयं के लिए निर्मित किया है। इन पदार्थों को हम देख सकते हैं अथवा स्पर्श कर सकते हैं। अपने जीवन को सहज एवं सुखद बनाने के लिए उसने नव नवीन वस्तुओं का आविष्कार किया। वर्तमान युग में इंसान जिन चीजों का उपयोग कर रहा है वे वस्तुएं आदिम समाज में उपलब्ध नहीं थीं। अपने प्रगत मस्तिष्क और विशिष्टताओं के माध्यमों से उसने नवीन-नवीन चीजों का आविष्कारक

बना और प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहा। भौतिकी के समस्त तत्त्वों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – मशीनें, उपकरण, बर्तन, इमारतें, सड़कें, पुल, शिल्पगत वस्तुएं, कलात्मक वस्तुएं, वस्त्र, वाहन, फर्नीचर, खाद्य पदार्थ, औषधियां आदि।

इसका स्वरूप मूर्त होता है। अर्थात इसे देखा या छुआ जा सकता है तथा यह मापी भी जा सकती है। इसकी उपयोगिता एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन संभव है। समय के साथ इसमें निरंतर विकास होते रहता है तथा यह शीघ्र गति से परिवर्तित होती है। आदमी के आदिम अवस्था से लेकर वर्तमान युग तक नवीन-नवीन चीजें निर्माण हुई हैं। इसके फलस्वरूप मानवीय जीवन में बहुत फेरबदल हुआ है। इन भौतिक वस्तुओं के प्रणयन के साथ मनुष्य संस्कृति में भी अनेकानेक बदलाव दृष्टिगोचर होते हैं।

2.4.1.2 अभौतिक

अभौतिकता के अंतर्गत अमूर्त वस्तुओं का समावेश होता है। इसका मापन, आकार एवं रंग नहीं होता। एक तरह से यह अभ्यंतर होती है। इसमें परंपरागत चिंतन, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं धार्मिक आस्थाओं का समावेश होता है। इस प्रकार इसका कोई मूर्त रूप नहीं होता। यह एक तरह से विचारों एवं विश्वासों के माध्यम से मानव व्यवहार को नियंत्रित, नियमित एवं प्रभावी करने का काम करती है। अभौतिकता के समस्त तत्त्वों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – वैज्ञानिक सत्य, धार्मिक विश्वास, पौराणिक कथाएं, उपाख्यान, साहित्य, अंधविश्वास, सूत्र, लोकोक्तियां आदि।

इस प्रकार यह अमूर्त होने की वजह से इसका मापन अत्यंत कठिन कार्य होता है। इस अगोचरता की उपयोगिता एवं इसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन अत्यंत जटिल कार्य है। इसमें परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है और यह मनुष्य के आंतरिक जीवन से संबंधित होती है।

2.4.2 प्रवृत्तियां

संस्कृति के अंतर्गत निम्नलिखित प्रवृत्तियों को रेखांकित कर सकते हैं –

2.4.2.1 सीखा हुआ व्यवहार

यह एक सीखा हुआ व्यवहार है। अर्थात मानव द्वारा इसे अर्जित किया जाता है एवम् सामाजिक व्यवहारों के माध्यम से मानव इसे सीखता है। यह अनुवांशिक नहीं होती बल्कि समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा इसे सीखते हैं। इंसान अपने माता-पिता, परिवार, रिश्तेदारों से आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान के विभिन्न आयामों को अर्जित करता है। इसके अलावा समाज में रहने वाले अन्य सदस्यों के माध्यम से भी मनुष्य इसके अलग-अलग पहलुओ को ग्रहण करता है।

कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति समाज में भागीदारी से ही संस्कारों को सीखता है। इसीलिए मानव जाति की संस्कृति होती है, पशुओं में यह प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि पशुओं ने जो कुछ सीखा है उसे वे अगली पीढ़ी के लिए हस्तांतरित नहीं कर पाते। अतः इसका संबंध मनुष्य के केवल जन्म पर आधारित नहीं होता बल्कि वह समाज के माध्यम से इसे ग्रहण करता है।

2.4.2.2 सामाजिकता का गुण

इसमें समाजीकरण का गुण अन्तर्भूत होता है और यह समग्र जीवन जीने की प्रणाली होती है। यह हमें जीवन जीने के तरीकों से अवगत कराती है। प्रत्येक समाज के जीवन यापन के कुछ

कार्य विधियां होती हैं। जीवन के इन क्रियाकलापों के माध्यम से व्यक्ति समाज से जुड़ता है। संस्कार हमें सिखाते हैं कि इसके अंतर्गत किस तरह से आचार-व्यवहार करना चाहिए। यह हमें सामाजिक व्यवहारों के संबंध में अवगत कराते हैं। भारत में रहने वाले व्यक्ति का आचरण तथा अन्य देशों में रहने वाले लोगों के तौर-तरीकों में निश्चित रूप से अंतर देखा जा सकता है। इसलिए कह सकते हैं कि यह वैचारिक होती है। एक व्यक्ति से उन विचारों का पालन करने की आशा की जाती है जिससे उसी संस्कारों के अन्य लोगों से सामाजिक स्वीकृति प्राप्त की जा सके। अतः समाज में शामिल अधिकतर लोग इसे मानते हैं और इसका पालन करते हैं। कुछ गिने-चुने लोग मिलकर इसका निर्माण नहीं कर सकते क्योंकि थोड़े से लोगों द्वारा किए गए आचार व्यवहार को हम संस्कृति नहीं कह सकते। इसके लिए समाज के ज्यादातर लोगों द्वारा अपनाया जाना आवश्यक है। वह समाज के अधिकतर लोगों द्वारा अपनाई जाती है। जब तक किसी कार्य को बृहतर समाज में मान्यता नहीं मिलती तब तक वह संस्कृति का अंग नहीं माना जा सकता।

2.4.2.3 संचयी प्रवृत्ति

इसकी एक खासियत संचयी होना है। हर पीढ़ी द्वारा ज्ञान का संचय होते रहता है और यही ज्ञान आनेवाली पुश्तों के लिए हस्तांतरित होता है। संस्कृति सदैव नवीन ज्ञान विज्ञान से प्रभावित होती रही है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि अगली पीढ़ियों में एकदम से सांस्कृतिक बदलाव आते हैं बल्कि इसके अंतर्गत मूलभूत तत्त्व कायम रहते हैं। लेकिन पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रदत्त ज्ञान संस्कार को और अधिक परिष्कृत करता है। प्रत्येक युग्म तत्कालीन समाज को प्रभावित करता है तथा नए विचार, नए ज्ञान को अंतर्भूत करता है। इस तरह इसमें नूतन आविष्कार, नवीनतम विचार जुड़ते रहते हैं। प्रत्येक युग के साथ जुड़ने वाली नवीनता के

साथ यह परिष्कृत होती है। इस प्रकार संस्कृति के अंतर्गत विभिन्न तत्वों का संचयन होते रहता है।

2.4.2.4 हस्तांतरण

यह एक पीढ़ी से दूसरी में हस्तांतरित होती है। मनुष्य में यह क्षमता है कि वह अपने सीखे हुए व्यवहार को आने वाली नस्लों के लिए दे सके। प्रत्येक नस्ल अपने पूर्ववर्तियों से सीखती है और अपने विवेक बुद्धि से उसमें कुछ बदलाव कर अगली पीढी को प्रभावित करती है। इस प्रकार मनुष्यों में संस्कृति का हस्तांतरण संभव है। पशु भी अपने बच्चों को कुछ न कुछ सिखाते हैं लेकिन वे अपनी सीखी हुई चीजों को अगली नस्लों के लिए हस्तांतरित नहीं कर पाते। इसलिए उनके भीतर इस प्रवृत्ति का विकास नहीं देखा जाता। जबकि मनुष्यों में इसका विकास देखा जा सकता है। मनुष्य भाषा एवं प्रतीकों के माध्यम से अपने सीखे हुए व्यवहार को आसानी से आनेवाली पुश्तों के लिए हस्तांतरित करता है।

2.4.2.5 गतिशीलता

मूलतः इसका स्वभाव गतिशील है। यह कोई जड़ वस्तु नहीं है या फिर ऐसी चीज नहीं है कि एक जगह पर स्थिर हो जाए। यह स्थाई नहीं होती इसके भीतर धीरे-धीरे बदलाव होते रहते हैं। यह किसी बहती हुई नदी के प्रवाह के समान होती है जिसका पानी प्रवाहित होते रहता है। सभ्यता के साथ-साथ संस्कृति में तब्दीली आती है। नवीनता इसे गति प्रदान करती है जिसके कारणवश यह लंबे समय तक स्थिर नहीं हो पाती। नए विचारों, नए ज्ञान के कारण इसमें नए कौशल जुड़ते जाते हैं। इनके जुड़ने के कारण संस्कृति में परिवर्तन होता है। समय के बीतने के साथ ही इसमें सांस्कृतिक परिवर्तन संभव है।

वर्तमान दौर में संस्कृति में बदलाव बहुत तीव्र गति से होते हुए दिखाई दे रहे हैं। आधुनिक युग में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के अभ्युदय के कारण यह तेज गति से बदल रही है। जैसे-जैसे मनुष्य नित्य नवीन आविष्कारों में संलग्न है वैसे-वैसे इसमें तब्दीलियां दिखाई दे रही हैं। विशेषकर जिस समाज में ज्ञान विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है वहां इसमें शीघ्र गति से बदलाव होते गए हैं। भारत जैसे देश में ज्ञान-संपदा के कारणवश बहुत से तत्व तेजी से करवट ले रहे हैं। लेकिन सुदूर अफ्रीका के जंगल में रहने वाली मानव जाति के लिए यह परिवर्तन संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान दृष्टि वहां तक अभी पहुंची नहीं है। इस कारण ऐसे लोगों तक नए विचारों का अंतर्भाव नहीं हो पाया। ऐसे समाज में सांस्कृतिक बदलाव बहुत धीमी गति से होते हैं।

2.4.2.6 आवश्यकताओं की पूर्ती

यह समाज में वास करने वाले लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की आपूर्ति करने का काम करती है। यह विभिन्न तरीकों से आदमी की ज़रूरतों को पूर्ण करने में मददगार साबित होती है। इसके छोटे से छोटे तत्त्व का अस्तित्व उसकी जरूरत की पूर्ति करने के गुण पर निर्भर करता है। अगर यह इन आवश्यकताओं का संभरण न करें तो उसकी उपयोगिता भी प्रायः समाप्त हो जाती है। प्राचीन काल में ऐसे अनेक तत्त्व थे जो उसकी अपेक्षाओं को पूर्ण करते थे। लेकिन समय के साथ वे अनावश्यक हो गए। जीन तत्त्वों की ज़रूरत मनुष्य को नहीं है ऐसी संस्कृति शनैः-शनैः समाप्त हो जाती है। इसके अंतर्गत भौतिक साधनों के साथ-साथ हमारे आचार-विचार, आस्था, विश्वास, मान्यताएं आते हैं जो समाज के विकास के साथ समाप्त हो गए। उदाहरण के रूप में शिकार करने वाला समाज जिन हथियारों का इस्तेमाल कर अन्न संग्रहण करता था वह आज के समय में वैसा जीवन यापन नहीं करता क्योंकि आज उसके पास ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनके माध्यम से वह आसानी से अन्न प्राप्त कर सकता है।

आज उसे अन्न की प्राप्ति के लिए उतनी मशक्कत करने की आवश्यकता नहीं है। समय के साथ खाद्य संस्कारों में भी बहुत बदलाव हुए हैं। लेकिन उस युग में मनुष्य के लिए वे पुराने हथियार अवश्यंभावी थे। इस प्रकार कह सकते हैं कि इसका कोई भी तत्त्व प्रकार्यात्मक नहीं होता बल्कि वह मानव की आवश्यकता की पूर्ति करता है।

संदर्भ सूची

1. रामचंद्र वर्मा, प्रामाणिक हिंदी कोश, पृष्ठ 1283
2. कालिका प्रसाद, बृहत् हिंदी कोश, पृष्ठ 1202
3. श्री नवल जी, नालंदा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ 1407
4. एम. गीन्सबर्ग, सोशोलॉजी, पृष्ठ 40
5. मैकाइवर एंड पेज, सोसायटी, पृष्ठ 5
6. धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, पृष्ठ 80
7. बाबू गुलाब राय, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा,पृष्ठ 1
8. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृष्ठ 58
9. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 653
10. वासुदेव शरण अग्रवाल, कला और संस्कृति, भूमिका पृष्ठ 3
11. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति,पृष्ठ 17
12. मैथू अर्नाल्ड, कल्चर एंड एनार्की, पृष्ठ 6
13. मैकाइवर एंड पेज, सोसायटी, पृष्ठ 499

3. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सामाजिक पक्ष

काशीनाथ सिंह उन कथाकारों में हैं जिन्होंने सातवें दशक के बाद कथा साहित्य को महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अपनी रचनाधर्मिता से हिंदी कथा संसार को समृद्ध बनाने का कार्य उन्होंने किया है। आपका कथा जगत में प्रवेश कहानियों के माध्यम से हुआ था। कहानी से गुजरने के बाद उन्होंने कई संस्मरण लिखे। हिंदी साहित्य में आप संस्मरणकार के रूप में भी प्रख्यात हैं। सन् 1972 में आपका पहला उपन्यास 'अपना मोर्चा' प्रकाशित हुआ था। उसके बाद सन् 2002 में 'काशी का अस्सी' उपन्यास प्रकाशित हुआ। हम देखते हैं कि इन दो उपन्यासों के प्रकाशन समय में लगभग तीस वर्षों का अंतर है। इसके बाद आपके 'रेहन पर रग्घू', 'महुआचरित' और 'उपसंहार' उपन्यास प्रकाशित हुए। इस प्रकार जीवन के उत्तरार्ध में वे औपन्यासिक लेखन में अधिक सक्रिय दिखाई पड़ते हैं।

आपके हिंदी साहित्य लेखन में आगमन से पूर्व देश को आजादी मिले लगभग 13-14 वर्षों का समय बीत चुका था। भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों ने ब्रिटिशों के खिलाफ आजादी की लड़ाई इसलिए लड़ी थी कि वे चाहते थे कि भारत की आम जनता अंग्रेजी हुकूमत की अन्यायपूर्ण, अत्याचारपूर्ण, अनाचारपूर्ण नीतियों से मुक्त हो जाए। देश की आजादी के पूर्व भारतीय नेताओं ने देश की जनता को सुनहरे सपने दिखाए थे कि स्वतंत्रता के बाद एक खुशहाल भारत का निर्माण होगा जिसमें आम भारतीयों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाएगा। स्वाधीनता की लड़ाई में महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभभाई पटेल, सुभाष चंद्र बोस, मौलाना आजाद, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद के अलावा अनेकानेक स्वतंत्रता सेनानियों ने भाग लिया था। भारत के इन महान सपूतों पर जनता हृदय से प्रेम करती थी और उन्हें पूर्ण विश्वास था कि जो सपने वे दिखा रहे हैं वह स्वतंत्रता के बाद पूर्ण होंगे।

लेकिन यथार्थ में ऐसा नहीं हुआ, स्वतंत्रता के बाद धीरे-धीरे यह सपने बिखरते हुए से नजर आने लगे। सन् 1950 के उपरांत ऐसा लगने लगा कि जो सपने पहले दिखाए गए थे वह केवल एक भ्रम था, असलियत कुछ और थी। कम से कम आम आदमी के जीवन में आजादी के बाद कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ। यही वजह थी कि इन सारी परिस्थितियों से आम भारतीय जनता का मोहभंग होने लगा। सामान्य जन समूह बेरोजगारी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, अफसरशाही से परेशान होने लगी थी। यह बात सबसे ज्यादा तकलीफदेह थी कि स्वतंत्र होने से पूर्व अंग्रेज हमारे लोगों पर अन्याय कर रहे थे, लेकिन मुक्ति के बाद हमारे अपने लोग ही देश की प्रजा के साथ छलावा करने लगे। सर्वत्र बेरोजगारी बढ़ रही थी। ऐसे में हिंदी साहित्यिक पटल पर एक नवीन पीढ़ी का उद्‌भव होता है जिसने इन सब चीजों का पुरजोर विरोध किया। इनकी रचनाओं में इस सब के प्रति आक्रोश दिखाई पड़ता है। राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, अमरकांत, भीष्म साहनी जैसे रचनाकार इसी परिवेश की उपज कहे जा सकते हैं। इन लेखकों ने तत्कालीन बिखरावपूर्ण परिस्थितियों को लेकर रचनाएं लिखीं। इस दौर में जो कहानियां लिखी गईं उन्हें 'नई कहानी' के नाम से अभिहित किया जाता है। नई कहानी में आजादी के उपरांत की मोहभंग की स्थिति दर्ज होती है। इसके अंतर्गत टूटते जीवन मूल्य, बिखरती त्रासदीपूर्ण जिंदगी, छितराते मानवीय रिश्तों को बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया गया है। नई कहानी का दौर लगभग दस वर्षों तक का कहा जा सकता है।

सन् साठ के बाद हिंदी कहानी संसार में एक और बदलाव दृष्टिगोचर होता है। इस दौर में एक ऐसी पीढ़ी कथा लेखन में सक्रिय हो जाती है जो जन्मी तो आजादी के पहले थी, स्वाधीनता आंदोलन की लड़ाई भी उन्होंने बहुत ही ऊपरी तौर पर देखी थी। इस संघर्ष की कुछ धुंधली-सी यादें लेकर यह पीढ़ी हिंदी-साहित्य में अवतरित हुई थी। सन् साठ के उपरांत

कहानी साहित्य में जिन कहानीकारों ने अपनी अलग पहचान बनाई उनमें महत्वपूर्ण हैं – ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, ममता कालिया, गंगा प्रसाद विमल, शैलेश मटियानी, महीप सिंह आदि।

साठोत्तरी हिंदी कहानी के वे एक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। सातवें दशक के बाद जो लेखक विशेष रूप से उभर कर आए उनमें आपका योगदान उल्लेखनीय है। साठ के बाद की पीढ़ी में जिन कथाकारों ने हिंदी कथा को नई उर्वरा जमीन सौंपने का काम किया उनमें काशीनाथ सिंह की उपस्थिति देखी जा सकती है। उनकी कहानियों में उनका अपना अनुभव संसार है जो बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है। आपकी कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हम किसी दूसरे के अनुभव संसार से गुजर रहे हो। इन कहानियों की खासियत है कि ये कृतियां पाठक को अपने स्वयं के अनुभव जैसी लगती हैं। आपकी लगभग सभी कहानियां किसी चित्रपट की भांति आंखों के सम्मुख मूर्तिमान हो जाती हैं। उनकी कलम का यह कमाल है कि वे दृश्यात्मक एवं गतिशील चित्रों की अभिव्यक्ति रच सके हैं। हिंदी कहानी के विकास में आपकी कहानियां अपनी एक अलग पहचान रखती हैं।

दरअसल आज के इस संवादहीनता - संवेदनहीनता के ठंडे दौर में शहरों में रहने वाला आदमी आपस में आत्मीय संबंधों की उष्मा खोते जा रहा है। इसके बजाय अकेलेपन की त्रासदी, अजनबीपन, कुंठा, घुटन, हताशा, निराशा जैसी चीजें दिन ब दिन बढ़ती जा रही हैं। शहर में निवास करने वाला व्यक्ति अपने आप में ही सिमटता जा रहा है। शहरीकरण के इस युग में औद्योगिकीकरण ने मनुष्य को अधिक से अधिक आत्मकेंद्रित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। आपके कथा वाड़मय को देखते हुए स्पष्ट होता है कि उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में सामान्य वर्ग से लेकर उच्च वर्ग के चरित्रों का उद्घाटन हुआ है। उन्होंने अपनी

रचनाओं में समाज के विभिन्न आयामों को यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियों में सामाजिक विसंगति, टूटते मूल्य, पारिवारिक विघटन, शोषण, उत्पीड़न पारिवारिक बिखराव, जातिगत समस्याएं आदि का यथार्थपरक चित्रण हुआ है।

3.1 पारिवारिक जीवन

परिवार समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। भारतीय समाज में परिवार जीवन का अहम हिस्सा रहा है। भारतीय समाज पहले संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में विश्वास रखता था। लेकिन बीसवीं शताब्दी में यह धीरे-धीरे बिखरने लगा। आज हम इस मुकाम पर पहुंचे हैं कि एकत्रित कुटुंब लगभग समाप्त होने के कगार पर खड़ा है। वर्तमान समय में देश में अधिकतर एकल परिवार ही दिखाई देते हैं। इसका विघटन मुख्यतः बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अधिक दिखाई देता है। आजादी के पश्चात् ग्रामीण इलाकों से शहरों की ओर बहुत बड़ी मात्रा में स्थानांतरण हुआ। इस कारण एकत्रित कुटुम्ब टूटने लगे और शहरी क्षेत्रों में एकल परिवार की महत्ता बढ़ने लगी। विवेच्य लेखक की कहानियों में पारिवारिक विघटन और संघर्ष के विभिन्न कोण दृष्टिगोचर होते हैं। घर को सुचारू रूप से चलाने के लिए धन की जरूरत पड़ती है। लेकिन अर्थाभाव के कारण इसे चलाने में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। अर्थाभाव के कारण इसे व्यवस्थित रूप से चलाना मुश्किल हो जाता है। अर्थ के अभाव में परिवारों के भीतर तनावपूर्ण स्थितियां निर्माण होती हैं और कहीं न कहीं बिखरावपूर्ण अवस्था दिखाई पड़ती है। आर्थिक तंगी के कारण पति-पत्नी के बीच कटुता पैदा होती हैं। आपकी कहानियों में इस विडंबना को सहज ही देखा जा सकता है।

3.1.1 पति-पत्नी के बीच तनाव

आधुनिक युग में परिवारों के विघटन के कारण पति-पत्नी के संबंधों में तनाव परिलक्षित होता है। इसके मूल में अर्थ की समस्याएं ही प्रमुख हैं। घर-परिवार को ठीक से चलाने के लिए पैसों की जरूरत पड़ती है लेकिन अर्थाभाव के कारण स्त्री-पुरुष के रिश्तों में दूरियां पैदा हो गई हैं।

लेखक की 'जाड़ा' कहानी अर्थाभाव के कारण दाम्पत्य जीवन में आए तनावग्रस्तता को प्रस्तुत करती है। जाड़े के दिनों में बीवी एक स्वेटर चाहती है। वह पहले स्वयं अपने लिए और फिर अपने शौहर के लिए ऊन लाने की बात करती है ताकि वह स्वेटर बुन सके। लेकिन वह कहता है कि उसके बाकी भाई-बहनों के लिए भी स्वेटर बुनना आवश्यक है वरना वे क्या समझेंगे। इस बात पर स्त्री राज़ी हो जाती है कि पहले वह दो स्वेटर बुनेगी उसके बाद बाकी के भी बुन लेगी। इस पर मर्द कहता है कि पहले वह उसके परिवार के अन्य सदस्यों के लिए स्वेटर बुने, इस पर वह नाराज होकर सो जाती है। कहानी में उनके बीच चल रहे संवाद पर गौर कीजिए –

"तो कल ला दोगे?' पत्नी पूछती।

'मैं कुछ और सोच रहा हूँ।' पति सोचता-सा बोलता।

'क्या?' पत्नी को आशंका होती। 'स्वेटर मुझसे जरूरी तो दीनू के लिए है।' दीनू शायद पति का छोटा भाई है।

'दीनू बाबू तो एक स्वेटर पहनते हैं।'

'वह पुराना हुआ।'

कुछ सोचती हुई पत्नी कहती, 'ठीक है, उन्हें भी ला दो। बुन दूंगी।' पति कुछ उलझन महसूस करता, 'देखो, आग कम हो गई है। कुछ और बुरादा डाल दो।'

पत्नी उठने में आलस करती। शायद उसकी उठने की इच्छा नहीं करती। फिर भी उठती। उस कमरे से सटे दूसरे कमरे में जाती। अंजुली भर बुरादा लाती। अँगीठी में डालती। सूखी दातून से उसे चलाती। अँगीठी में धुआँ उठने लगता।

'किन्तु क्या यह अच्छा है कि हम स्वेटर पहनें? पप्पू, देबू, बीना वैसे ही रहें ?" सम्भव है, ये पति के भाई और बहन हों!

पत्नी को कुछ अड़चन होती। वह कुछ देर खामोश रहती।

'लेकिन इतने रुपए तुम्हारे पास हैं?

'इससे तुमसे मतलब? तुम्हें ऊन ही चाहिए न?' पति के शब्दों में गति आ जाती। पिछले कमरे में कनस्तर हैं। और दूसरे सामान भी हैं। वहाँ से ची-चीं की ध्वनि आती। शायद चूहे परस्पर लड़ रहे होते।

पत्नी एक लम्बी साँस लेती, 'सुना है, ऊन इस साल बड़ा महँगा है?' पति चुप रहता।

'तो ठीक है। तुम जितनों के लिए लाओ, मैं तैयार कर दूंगी।' पत्नी विवाद से थकी-सी लगती। उसके चेहरे पर झुंझलाहट के चिह्न होते।"[1] प्रस्तुत आख्यान में पैसे की कमतरता में जी रहे संबंधों को उजागर करने की कोशिश की गई है। पैसों की कमी के कारण दोनों के बीच में दूरियां बनी हुई हैं। पुरुष घर की जिम्मेदारियों के बोझ से लदा हुआ है। वह अपने भाई-बहनों के प्रति भी अपनी जिम्मेदारी महसूस करता है और साथ-साथ अपनी घरवाली के प्रति भी वह संवेदनशील है। इस कारण वह ठीक से फैसला नहीं कर पाता कि क्या किया जाए। दरअसल यह रचना आर्थिक तंगी के कारण पति-पत्नी के रिश्ते में जो खटास आती है उसकी ओर इशारा करती हैं।

'आखिरी रात' औरत-मर्द के चिंताग्रस्त संबंधों को उजागर करती है। प्रसंग यह है कि विवाहिता के दादा उसे लिवाने के लिए आए हैं। दूसरे दिन सुबह वे उसे अपने साथ ले जाएंगे। वह रात

के समय अपने शौहर से मिलने के लिए ऊपर छत पर जाती है। दोनों बैठ कर आपस में पुरानी बातों को याद कर रहे हैं। उन बातों को याद करते हुए उन्हें अच्छा लग रहा है। पति सोचता है कि – "वे कल अलग होंगी। मैं उन्हें छोड़ने स्टेशन जाऊँगा । वे एक डिब्बे में खिड़की के पास बैठ जाएँगी। 'देखिएगा', वे कहेंगी, 'गाँव से माँ को बुला लीजिएगा ज़रूर से। यदि न आ सकें तो नौकर रख लीजिएगा। शरीर का ध्यान रखिएगा। आप बड़े लापरवाह हैं। हाँ, सवेरे दूध की मात्रा बढ़ा लीजिएगा। उतने से काम नहीं चलेगा ।..

गाड़ी सीटी देगी। पटरियों पर खिसकने लगेगी। मैं अवसन्न चेहरे से रूमाल हिलाऊँगा। उनकी आँखें भर आएँगी। वे सिर को झटका देंगी। सिर खिड़की से बाहर कर लेंगी। मुस्कुराने का प्रयत्न करेंगी। फिर अचानक जैसे याद आएगा, 'हाँ'...उनका गला भारी रहेगा। आवाज़ खो जाएगी। सम्भव है, मैं गाड़ी के साथ कुछ दौड़ू भी..।"[२] पुरुष अपनी स्त्री को प्यार करना चाहता ही था कि वह उंगलियों से कुछ गिनने लगती है और कहती है कि अपनी भाभियों, बहन तथा भतीजों के लिए उसे तीन साड़ियां, तीन ब्लाउज, तीन कमीजें और साबुन, शीशे और कंघी चाहिए। लेकिन इस बात से वह गुस्सा हो जाता है और उससे कहता है कि यह सब देने की क्या जरूरत है। वह उसे बताती है कि ऐसा करने का रिवाज है। इस बात से वह चिढ़ जाता है और बीवी को याद दिलाता है कि क्या उसे घर की हालत मालूम नहीं और उस पर यह महीने के अंतिम दिन हैं। इस बात से स्त्री नाराज हो जाती है।

इस प्रकार पति और पत्नी के बीच जो प्रेम के नाजुक संबंध हैं वह अर्थ के अभाव के कारण एकदम से कमजोर पड़ जाते हैं। जिन क्षणों में प्रेम का सुंदर भाव अपने चरम पर था वह अचानक से वेदना में बदल जाता है। आधुनिक युग की यह विडंबना है कि दांपत्य जीवन में अर्थ इस तरह घुस गया है कि वह प्रेम के नाजुक क्षणों को भी हमसे छीन लेता है। समाज में पारिवारिक विघटन का प्रमुख कारण धन की कमतरता भी रहा है। पैसों की कमी के चलते

आम आदमी का जीवन तनावपूर्ण होता जा रहा है। आधुनिक शहरी जीवन में पैसों की किल्लत के कारण उपजी दशा को इसमें चित्रित किया गया है।

'काशी का अस्सी' में भी अर्थाभाव के कारण स्त्री-पुरुष के बीच उपजते कटुता का वर्णन है। उपन्यास के अंतर्गत धर्मनाथ शास्त्री और उनकी धर्मपत्नी के बीच संबंधों में खटास दिखलाई पड़ती है। इसके मूल में आर्थिक कमजोरी है। पैसों की किल्लत से शास्त्री जी का परिवार जूझ रहा है। वह अपने बच्चों का भरण पोषण भी ठीक से नहीं कर पा रहे हैं। यही वजह है कि पंडित और पंडिताइन के बीच तनातनी चलती रहती है।

3.1.2 आर्थिक विपन्नता के कारण पारिवारिक संबंधों में तल्खी

घर-परिवार को व्यवस्थित रूप में चलाने के लिए पर्याप्त धन की ग़रज पड़ती है। अक्सर अर्थाभाव के कारण कौटुंबिक संबंधों में तल्खी आती है।

आपकी 'अपने घर का देश' आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त व्यक्ति की दशा को बयान करती है। आर्थिक दुरावस्था के कारण पारिवारिक संबंध भी कटु हो जाते हैं। इसमें आया नायक एक ओर अपने परिवारवालों से परेशान है तो दूसरी ओर अपने पड़ोसी से भी तकलीफ़ झेल रहा है। उसके और पड़ोसी के घर के बीच एक दीवार है जो इस बात पर गिराई जाती है कि जब नई दीवार बनेगी तो उसका ख़र्चा दोनों में आधा-आधा बांट लिया जाएगा। लेकिन पत्थर की दीवार गिराने के बाद पड़ोसी अपनी बात से मुकर जाता है और वह घर का नक्शा लेकर बैठ जाता है। पड़ोस में रहने वाला कहता है कि नक्शे के अनुसार गिराई गई दीवार उसकी अपनी मिल्कियत है। इस बात को लेकर नायक और पड़ोसी के बीच तनातनी हो जाती है। नायक के जीवन में आर्थिक बदहाली पहले से ही मौजूद थी अब उसके सामने इसको लेकर एक नया

संकट आ गया है। इसके अलावा वह एक ढर्रेदार जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। उसकी जिंदगी में ऐसा कुछ भी घटित नहीं हो रहा है जिसको लेकर वह खुशी महसूस कर सके। कौटुंबिक जिम्मेदारियों ने उसकी जिंदगानी का सारा रस सोख लिया है। यथा – "मैं उदास नहीं होता और अपना ज़्यादा समय इसी पलंग पर बिताता हूँ । मेरे बारे में तय है कि अगर मैं घर पर नहीं हूँ तो अस्सी पर होऊँगा – सब्ज़ी या परचून की दुकान पर । अगर दुकान पर नहीं हूँ तो घर पर होऊँगा – किसी न किसी बच्ची को सुलाने या चुप कराने पर। और इन दोनों जगहों में नहीं हुआ तो फिर अपने काम पर होऊँगा यानी 'कनक-कनक ते सौ गुनी' के दो कनकों में कौन सा कनक धतूर है - यह समझाने पर गरज़ यह कि इस अस्सी, घर और धतूर के बीच मेरी ज़िन्दगी के तीस साल मेरे पैरों के नीचे दबे पड़े हैं और जिनका बेहद खौफ़ है।"[3]

वस्तुत: यह आधुनिक शहराती जीवन व्यतीत करने वाले आम आदमी की पीड़ा है जो यहां व्यक्त हुई है। आज़ादी के उपरान्त कस्बों-शहरों की ओर बहुत बड़ी मात्रा में लोग जाने लगे थे। देहाती क्षेत्रों में रहने वाले लोग बेहतर भविष्य के लिए रोजगार की तलाश में शहर में तो आ गए लेकिन यहां की आबोहवा उनकी जिंदगी को तोड़ रही थी । इस कृति के माध्यम से लेखक यह भी बताना चाहता है कि एक साधारण व्यक्ति अपनी छोटी-सी कमाई के बलबूते पर समूचे घर की जिम्मेदारी नहीं उठा पा रहा है। यह दौर संयुक्त परिवार के टूटने का दौर है। संयुक्त कुटुंबावस्था के टूटने का मुख्य वजह ही यह थी कि आर्थिक परेशानियों के कारण लोग घर-परिवार की ज़िम्मेदारी का बोझ नहीं उठा सकते थे।

कथा नायक की घरवाली भी इस तंगहाली के कारण परेशान है। इसके चलते उनके बीच लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं। स्त्री और उसकी सास दोनों अपनी शिकायतें नायक से करती रहती हैं। इस कारण वह हमेशा परेशानी में रहता है – "मैं मज़ाक़ में टालना चाहता हूँ और हाथ

पकड़ लेता हूँ, 'ज़रा बैठ जाओ !' लेकिन कौन बैठता है ? वह शुरू करती है, 'मर-मरकर काम करो, न ठीक से खाना, न ठीक से पहनना। मैके से आई पिछली होली की साड़ी पहने जा रही हूँ। एक पंडिताइन हैं कि...बच्चियाँ नंगी घूमती हैं। न पाँव में जूते, न देह पर फ्राक। डॉक्टर ने टॉनिक के लिए चार बार नुस्ख़ा लिखा, लेकिन...और अम्मा हैं कि करना-धरना कुछ नहीं। ये करो, वो करो। पागल हो गई हैं और ऊपर से समझाओ ! ठीक है, समझाओ, 'देखें, क्या समझाते हो ?' मैं धैर्य के साथ सुनता रहता हूँ और अन्त में बोलता हूँ, 'ठीक है। सब होगा धीरे-धीरे होगा!"[4] दरअसल धन की अपर्याप्तता के कारण से व्यक्ति जिम्मेदारियों के तले दब जाता है। उसकी समूची जिंदगी चिंताग्रस्त हो जाती है। निम्न मध्यवर्गीय जीवन की इस विडंबना को प्रस्तुत कृति में चित्रित किया गया है।

'संतरा' आर्थिक विवशता में जूझ रहे एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की दास्तान है। कथा नायक सीताराम एक दफ्तर में बाबू है। वह जिस दफ्तर में कार्यरत है वहां का अफसर उसे एक चेक देता है और कहता है कि दो बजे तक रुपये उसके घर जाकर दे देना। इसके पहले वह कभी साहब के घर नहीं गया था। वह साहब के घर जाता है और दफ्तर बंद होने से पहले वापस भी आ जाता है। अफसर ने जब उससे पूछा कि पैसे किसके हाथ में दिए थे तब सीताराम सहज भाव से बताता है कि उन्होंने पैसे माताजी को दिए थे। यह सुनने के बाद साहब की त्योरियां चढ़ जाती हैं और वह उससे पूछता है किस की माताजी को पैसे दिए थे? इस बात पर उसका जवाब था, सर आपकी माताजी को। यह सुनने के बाद अफ़सर बेहद गुस्सा हो जाता है और उसे गालियां बकने लगता है। क्योंकि उनकी माताजी दस वर्ष पहले ही गुजर चुकी थीं। सीताराम को पता चलता है कि जिसे वह साहब की माताजी समझ रहा था वह तो उनकी बीवी है। वह सोचने लगता है कि हालांकि वह बुढ़िया उनकी बीवी नहीं लग रही थी लेकिन उन्होंने 'आपकी' न कहा होता तो बात न बिगड़ी होती। इस बात से परेशान होकर

वह अपने घर की ओर निकलता है। इसी सोच विचार में वह अपने घर जा रहा था कि उसके एक परिचित सहाय बाबू ने उन्हें रोका और हाथ में एक संतरा थमा दिया। सहाय बाबू जिस गिलास में संतरे का रस पी रहे थे वह गिलास अचानक से लुढ़क जाता है और संतरे के रस की कुछ बूंदे सीताराम की कमीज पर पड़ती हैं। वह अपने घर आता है, घर आने के बाद उसकी बेटियों को कुर्ते से संतरे की गंध आती है। दोनों बेटियां अपनी मां शांता के पास जाती हैं और मां को बताती हैं कि पापा के मुख से संतरे की गंध आ रही है। जब शांता को पता चलता है कि उसके पति बाहर से संतरा खा कर आए हैं तो वह उन पर बिगड़ती है और उनसे कहती है "कैसे घर चलाती हूं, यह मैं ही जानती हूं और तुम हो कि चोरी-चोरी संतरा खाओगे, लीची खाओगे, आम खाओगे। अरे, तुम सारी शर्म हया घोलकर पी गए हो क्या? ऐसा कहीं आदमी होता है?"[5] पत्नी की इस कड़वी बात को सुनकर भी बेचारा सीताराम चुप रहता है। वह जो घटना घटित हुई उसके बारे में सोचते रहता हैं। अपनी बेटियों को वह समझाने की कोशिश करता है। उनकी छोटी बेटी मोली कहती है कि संतरे की महक कितनी अच्छी लग रही है पापा। उसकी यह बात सुनने के बाद उसे निंद आने लगती है और वह सो जाता है। जब दोनों बेटियां अपनी मां को बताती हैं कि पापा सो गए हैं। यह बात सुनकर वह मोली को धक्का मारकर परे हटाती है और धुआं उगलती अंगीठी उठाकर दरवाजे के बाहर हवा में रख देती है।

इस रचना कृति में एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की पीड़ा को दर्शाया गया है। कहानी में वर्णित सीताराम के लिए घर की जिंदगी पहले से ही मुसीबतों से भरी हुई थी। लेकिन जिस दफ्तर में जाकर उसे कुछ राहत मिलती थी वह भी एक छोटे से प्रसंग के कारण गायब हो जाती है। भूलवश वह साहब की बीवी को उनकी माताजी समझ बैठा था। इस छोटी-सी भूल के लिए उसे झिड़कियां खानी पड़ती है। दफ़्तर के इस तनाव को लेकर जब वह घर आता है

तो घर के सभी सदस्य उनसे इसलिए नाराज होते हैं कि उनके मुख से संतरे की गंध आ रही है। उनकी घरवाली उन पर यह आरोप लगा देती है कि आप रोज-रोज इसी प्रकार की चीजें बाहर से खाकर आते होंगे। जबकि सच्चाई यह है कि उसके नसीब में यह सब नहीं है। दुख इस बात का है कि एक मामूली-सा संतरा खाना भी उनके लिए परेशानी का सबब बन जाता है। अपने घर के सदस्यों के लिए जी तोड़ मेहनत करने के बावजूद उसे घर पर सुकून नहीं मिलता। यह आर्थिक कमजोरी से त्रस्त एक ऐसे व्यक्ति की व्यथा है जो जीवन भर सब कुछ चुपचाप सहता रहता है। उसके इस हालत की वजह उसका दब्बूपन भी है। एक साधारण-सी भूल पर अफ़सर उसे गालियां बकता है। घर में उनकी खुद की बेटियां भी उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करतीं। पत्नी से भी उन्हें झिड़की मिलती है। यह सब वे बिना किसी प्रतिरोध के सहते रहते हैं। ऐसा लगता है कि इस सब के लिए वह स्वयं को गुनहगार मानते हैं। एक प्रकार के हीनता बोध से वे ग्रस्त हो चुके हैं। जब कोई व्यक्ति हीनता बोध से ग्रस्त होता है तो उसका समूचा व्यक्तित्व ही दब जाता है। छोटी-छोटी नाराजगियां व्यक्त करने में भी वह स्वयं को असमर्थ पाता है। फिर धीरे-धीरे सब कुछ सहने की आदत उसमें घर करने लगती है। इन्हीं कारणों से उसका समूचा व्यक्तित्व तहस-नहस हो जाता है। यही वजह थी कि सीताराम को न तो दफ्तर में चैन था और न ही घर में आराम। दफ़्तर से घर और घर से दफ्तर आते-जाते जो बीच का समय उन्हें मिलता है उस समय को ही वे असली सुख समझने लगते हैं। अंत में कहा जा सकता है कि पैसों की किल्लत के कारण कैसे एक आदमी के भीतर हीनता बोध उत्पन्न होता है यह दर्शाने की कोशिश 'संतरा' कहानी में हुई है।

रचनाकार ने 'काशी का अस्सी' उपन्यास में 'पांड़े कौन कुमति तोहें लागी' प्रकरण में बनारस के ब्राह्मणों की गरीबी और दरिद्रता को व्याख्यायित किया है। अस्सी मोहल्ले को ही देखें तो यहां के मल्लाहों ने अपने घरों में विदेशियों को पेइंग गेस्ट बनाया है। विदेशी सैलानियों को

पेइंग गेस्ट रखने के कारण उनकी आर्थिक दशा में बड़ी तब्दीली आयी है। मल्लाहों के जीवन स्तर में जो फर्क आया है उसे सवर्ण वर्ग की औरतें-बच्चे विस्तारित नजरों से देखते रहते हैं। मल्लाहों के बच्चे कानों में वॉकमैन लगाए घूम रहे हैं, उनकी औरतें दरवाजे के बाहर बैठकर ट्रांजिस्टर बजा रही हैं, मैक्सी पहने मजे में चावल बिन रही हैं तो दूसरी तरफ अंग्रेजों को म्लेच्छ और जानवर कहने वाले धर्मनाथ शास्त्री जैसे ब्राह्मण गरीबी की मार से पिसे जा रहे हैं। इस संदर्भ में पंडित धर्मनाथ शास्त्री और पडाइन का संवाद द्रष्टव्य है – "कुछ भी कहो, अँगरेज-अँगरेजिन को घर में रखना मुझे अच्छा नहीं लग रहा है !'

शास्त्रीजी ने पड़ाइन को गौर से देखा ! उन्हें झुंझलाहट महसूस हुई।

'ऐसा है कि बैठ जाओ ! लगता है, तुम्हारे घाटवाले संस्कार गए नहीं ! जमाने के हिसाब से चलना सीखो !'

वह बैठ गईं-चुपचाप !

'देखी है कभी जगुआ की मेहर की साड़ी? और अपनी देखो, अपने कान, नाक, गला और कलाई देखो ! उसे पहले भी देखा है तुमने और अब देखो। तुम्हारा मन भले न करे, लेकिन मैं अपने मन का क्या करूँ? क्या मैं नहीं चाहता कि तुम लुगरी नहीं, साड़ी पहनो, गहने पहनो ! बच्चियाँ कायदे से पढ़े-लिखें, अच्छी शादी हो, अच्छा वर मिले, घर मिले, जाएँ तो सास ताना न मारे ! संस्कृत लिखने-पढ़ने का सुख तो भोग लिया तुमने ! क्या चाहती हो, लड़के भी घाट पर बैठे ? दिन-भर पतंग उड़ाएँ ? गली में टिल्लो मारें ! लड़कियाँ तो, मान लो, चली जाएँगी; कल बहुएँ आएँगी, बच्चे होंगे। क्या इन्हीं दो कोठरियों में रहेंगी बहुएँ पति और केंचा-केंची के साथ? हम-तुम कहाँ जाएँगे ? और महँगाई का जो हाल है, देख रही हो उसे ? बोलो, हाँ-ना कुछ तो बोलो !'

पड़ाइन ने पंडित को अपनी ओर देखते हुए देखकर भी नहीं देखा !

'एक बात बताएँ ?' पड़ाइन को सहसा जैसे रास्ता मिल गया हो – 'तुम अंगरेजिन को रख दो उपध्या या दूबे के घर में। उनके यहाँ जगह भी है, निकट भी है और चाहते भी रहे हैं वे। पढ़ने के लिए आ जाया करे यहाँ ?'

'चूतिया हूँ मैं ! हर महीने अपनी जेब से पन्द्रह हजार रुपए उन्हें दिया करूँ ? फालतू में ?'

'पन्द्रह हजार ?'

'हाँ पन्द्रह हजार ! जोड़ो जरा, एक दिन का किराया पाँच सौ रुपए तो तीस दिन के कितने हुए? और यह मेरे हिस्से का किराया है ! यहां रहेगी तो किसके होंगे ?"[6] इससे स्पष्ट है कि जैसे-जैसे जमाना बदलता गया पंडित जी के विचारों में भी लचीलापन आ गया है। अपनी कंगाली से तंग आकर अब वे एक विदेशी महिला को पेइंग गेस्ट बनाने के लिए तैयार हैं। यह परिवर्तन आर्थिक विवशता एवं मजबूरी के वास्ते हुआ है।

3.2 स्त्री-पुरुष संबंध

मनुष्य जीवन के दो प्रमुख स्तंभ हैं – स्त्री और पुरुष। सामाजिक जीवन में नर और नारी के संबंध हमेशा उलझनों से भरे रहे हैं। आधुनिक युग में भी उनके संबंधों की गुत्थियां उलझती गयी हैं। विवेच्य लेखक की कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंधों में आती तल्ख़ियों का प्रकटीकरण हुआ है।

3.2.1 कामवासना की अतृप्ति

मनुष्य के लिए कामवासना की तृप्ति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। दांपत्य जीवन में सुख-शांति के लिए काम वासना की पूर्ति अत्यंत आवश्यक है। शरीर की इस अतृप्ति के कारण मानवीय जीवन असहज हो जाता है। दंपति के बीच कामभावना को लेकर स्वस्थ संबंधों का होना जरूरी है क्योंकि इसके अभाव में इस रिश्ते में कड़वाहट आने की संभावना अधिक है।

लेखक की 'संकट' कहानी इसी तथ्य को उजागर करती है। इसमें एक फौजी के दुख की दास्तान है। राघो फौज में एक सिपाही है। उसे केवल आठ दिनों की छुट्टी मिली हुई है। वह घर आने के लिए इसलिए उतावला था कि वह अपनी औरत से शारीरिक सुख प्राप्त करना चाहता है। मिलिट्री में रहने के कारण साल भर से वह इस सुख से वंचित था। लेकिन राघो जब छुट्टीयों में घर आता है तब देखता है कि उसकी स्त्री सौरी में है। राघो को बेटा हुआ है और वह आठवां दिन था। बेटा होने से सारे घर में खुशी का माहौल था लेकिन राघो चुपचाप रहने लगा था। वह बात-बात पर अपने पिता से लड़ पड़ता, अपनी मां को डांटने लगता, घर के अन्य लोगों को गालियां तक देता है। ठीक से भोजन भी नहीं करता। यहां तक कि सौरी से बाहर निकलने के बाद पत्नी को पीट देता है। राघो के मित्र जब उसे समझाने के लिए घर आते हैं तो वह कहता है – "नहीं संकर, तुम मुझे जानते हो। मेरा कहना यह है कि अगर वह औरत है तो औरत की तरह रहे। यह क्या कभी छींक रही है, कभी हँस रही है, कभी जाँत पर बैठी गा रही है, रसोईघर में कोई बिच्छू देखा,तो चिल्ला रही है। यह तो औरत न हुई, तमाशा हुआ।"[७] ऐसी ही छोटी-छोटी बातों पर वह परेशान हो जाता है। मित्रों के भी समझ में नहीं आता कि आखिर क्या कारण है कि वह इतना चिड़चिड़ा हो गया हैं। तब वह अपने साथियों को दिल की बात बता देता है – "तो संकर ! साल में मुझे सात-आठ रोज़ ही छुट्टी होती है। छुट्टी समझ रहे हो न ? लीभ! हाँ, तो 'लीभ' होती है । और जानते ही हो, साला सात-आठ ही दिन है, कोई दो-चार महीना नहीं। और उतनी दूर से-इतने दिनों बाद क्या हम इसी दिन के लिए आते हैं ?"[८]

सच्चाई यह है कि राघो इतनी दूर से अपने घर इस आशा में आया था कि जब वह घर आएगा तो अपनी बीवी के साथ शारीरिक सुख को प्राप्त करेगा। लेकिन उसकी यह इच्छा पूर्ण

न हो सकी। दरअसल यह रचना मनुष्य के भीतर वास करती अतृप्त काम भावना को दर्शाती है। दैहिक सुख की असंतुष्टि आदमी को मानसिक अवसाद में डाल देती है। भारतीय समाज में अपने काम वासना की चर्चा लोग खुलकर नहीं करते क्योंकि इस प्रकार की बातें करने वाले व्यक्ति को गलत दृष्टि से देखा जाता है। देखा गया है कि यौन भावना की तुष्टि न होने के कारण कई लोग मानसिक रोग के शिकार हो जाते हैं। ऐसे लोगों का व्यवहार समाज के प्रति भी रुखा-सा हो जाता है। प्रस्तुत कहानी में आया राघो अंत में अपने दोस्तों से कहता है – "संकर ! यों जाना तो मुझे परसों था, लेकिन सोचता हूँ, कल ही चला जाऊँ । जैसी मलेटरी, वैसा घर ! टिट फार टाइट ।"[9] कहानीकार इस कृति में मनुष्य के साधारण से लगने वाले दुख को बड़ी संजीदगी के साथ व्यक्त करते हैं।

'रेहन पर रग्घू' में पहाड़पुर गांव में छब्बू पहलवान की छवि एक ऐसे ठाकुर के रूप में है जिनकी ताकत और बल से सारे गांव को भय लगता था। उनकी ताकत के आगे सभी गांव वाले झुकते थे। इसी के चलते उसने चमटोल में झूरी की पत्नी ढोला के साथ जिस्मानी संबंध बनाए थे। उनकी भाभी छब्बू को समझाते हुए कहती है "छब्बू! मेरी एक बिनती है! भैया तो रोकने टोकने के लिए हैं नहीं, तुम करोगे अपने मन की ही। लेकिन चाहे जो करो, करो घर के बाहर! इसे साफ सुथरा रहने दो!"[10] गांव के बुजुर्ग बब्बन कक्का भी उसे समझाने की चेष्टा करते हैं लेकिन छब्बू उनकी बातें मानने से इनकार करते हैं। वह उनकी बातें बहुत ध्यान से सुनते हैं और अन्त में कहते हैं – "बात तो ठीक है कक्का मगर किसको किसको निकालिएगा जात बाहर? किसी किसी का ढंका तुपा है और किसी किसी का जगजाहिर! लेकिन बचा तो कोई नहीं है मेरी जानकारी में! अगर कोई है तो बताइए उसका नाम? फिर मैं बताऊँ उसके बारे में! रही मेरी बात तो आप से छिपाऊँगा नहीं? मैं सब कुछ करता हूँ लेकिन मुँह से मुँह नहीं सटाता! अपने धरम और जात को नहीं भूलता!"[11] उस पर कामेच्छा का ऐसा भूत सवार हो

गया है कि वह किसी की भी बात मानने को तैयार नहीं हैं। वासना के इसी अतिरेक के कारण छब्बू पहलवान अपना विवेक तक गंवा बैठा है और उसे अपनी जान तक गंवानी पड़ती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कामेच्छाओं से पीड़ित व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि जो वह कर रहा है क्या वह वांछनीय है या अवांछनीय है? कामुकता के अतिरेक के कारण उसकी जिंदगी तबाह हो जाती है।

3.2.2 यौन भावनाएं और सामाजिक दबाव

मानव की जिंदगी में यौन भावनाओं का अहम स्थान है। आधुनिकतम युग में मनुष्य के लिए काम और अर्थ काफी जरूरी चीजें बन गई हैं। व्यक्ति के लिए यौनिक भावनाओं से निजात पाना बेहद कठिन है। लैंगिक भावना की तुष्टि के अभाव में मनुष्य मानसिक रोग से बीमार हो सकता है। उसके भीतर कुंठाएं जन्म लेने लगती हैं।

लेखक की 'जरा-सी बात' पति-पत्नी के संबंधों में आए दूरियों को उजागर करती है। इसके अंतर्गत नवविवाहित पति-पत्नी हैं जो नदी के घाट पर बैठे हैं। वे आपस में बातचीत कर रहे हैं। बीवी अपने शौहर से पूछती है कि क्या विवाह से पूर्व कोई लड़की उससे प्यार करती थी ? इसका वह ठीक से जवाब नहीं देता। इसलिए वह परेशान हो उठती है। उसके मन में यह आशंका बनी हुई है कि उसके शौहर के किसी लड़की से प्रेम संबंध रहे हैं। इस आशंका से वह दुखी होती है।

लेखक इस कहानी के माध्यम से स्त्री-पुरुष में मौजूद भावनाओं के नाजुक रेशों को पकड़ने का प्रयास करता है। प्रेम के सहज और खूबसूरत एकांत क्षणों को अनुभव करने के लिए वे नदी के तट पर आए थे, उन सुंदर रोमांचकारी क्षणों को जीने के बजाय विवाहिता स्त्री अपने पति

के विवाह पूर्व जिंदगी के संबंध में संशयपूर्ण नजरों से देखती है। यही सोच उसके दुख का सबब भी बन जाती है। इस तरह की संशयी वृत्ति वैवाहिक जीवन के सुंदर और मोहक क्षणों को नष्ट कर देती है। छोटी-छोटी बातों को लेकर हम अपने जीवन के वास्तविक सुखों से वंचित रह जाते हैं। यह प्रसंग इसी की ओर इशारा करता है।

भारतीय समाज में कुटुंब व्यवस्था पर विश्वास रखने वाले लोगों की संख्या अधिक है। वर्तमान दौर में विवाह के लिए कुछ वैकल्पिक व्यवस्थाएं निर्माण हुई हैं। लेकिन आज भी कुटुंब प्रणाली का महत्त्व अक्षुण्ण है। इसका कारण यह है कि शादी के एवज में जो वैकल्पिक व्यवस्थाएं बनी हैं वे अपने आप में अधूरी हैं। बल्कि इन नयी व्यवस्थाओं में कमियां ही अधिक दिखाई पड़ती हैं। 'लिव इन रिलेशन' जैसी नई चीजें भले ही कुछ महानगरों में दिखाई पड़ती हो लेकिन यह हिंदुस्तानी समाज में विवाह का विकल्प नहीं बन पायी हैं। भारत जैसे देश में सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में नए वैचारिक बदलावों की हवा बहने लगी हैं लेकिन यौन भावनाओं को लेकर हमारी बद्धमूल धारणाएं अभी भी कायम हैं। यौनिक संबंधों को लेकर सबसे रूढ़ सोच यह है कि किसी भी व्यक्ति के लिए विवाह से पहले शारीरिक संबंध स्थापित करना गलत है। अगर कोई व्यक्ति शादी से पहले जिस्मानी संबंध रखता है तो लोग उसे हेय दृष्टि से देखते हैं। इसके अलावा एक धारणा यह भी है कि स्त्री अथवा पुरुष केवल एक ही व्यक्ति के साथ शारीरिक संबंध रख सकते हैं, एक से ज्यादा व्यक्ति के साथ लैंगिक संबंध रखना समाज की नजर में अवांछनीय हो जाता है। इस प्रकार की धारणाएं हिंदुस्तान में रूढ़ हुई हैं जिससे समाज संचालित होता है। अतः इन बनी-बनाई धारणाओं को जो व्यक्ति तोड़ता है उसे लोग अच्छी नजर से नहीं देखते। वर्तमान समय में भले ही इस विचार में कुछ हद तक सौम्यता आ गई है लेकिन आज भी समाज के बड़े वर्ग में यह धारणाएं बरकरार है कि शादी से पहले सेक्स और एक से ज्यादा व्यक्ति के साथ जिस्मानी

संबंध रखना गलत है। इसमें भी अगर कोई स्त्री अनेक पुरुषों के साथ लैंगिक संबंध रखती है या शादी से पहले किसी पुरुष के साथ दैहिक संबंध स्थापित करती है तो इसे बेहद निंदनीय माना जाता है। एक तरह से इन रास्तों पर चलने वाला व्यक्ति समाज की नजरों में बहिष्कृत हो जाता है। उस पर चरित्रहीन होने का आरोप लगाया जाता है। लेखक का उपन्यास 'महुआचरित' मध्यवर्गीय समाज की इन्हीं कड़वी सच्चाइयों को रेखांकित करता है।

यह रचना महुआ नामक लड़की के जीवन में उमड़ी देहासक्ति और यौन भावनाओं के प्रति समाज के कठोर रवैए को प्रस्तुत करती है। महुआ के जीवन का एक छोटा-सा समय इस कृति में आया है। वह उम्र के तीस वर्षों तक अपनी पढ़ाई-लिखाई, शिक्षा-दीक्षा में व्यस्त रही तथा वह अपने करियर को लेकर बेहद सतर्क थी। करियर करने के चक्कर में वह सेक्स के अनुभव से वंचित रह जाती है। लेकिन उम्र के इस मोड़ पर उसके भीतर सेक्स के प्रति आकर्षण बढ़ने लगता है। वह महसूस करती है – "मैं अकेली बेहद अकेली हो गई थी। मैं जब भी बाथरूम में नहाने जाती, कपड़े अलग करती ऋऔर अपने बदन को बड़े गौर से देखती। हो सकता है गलत हो यह लेकिन जाने क्यों मुझे लगता कि यह शरीर गमले में पड़े गुलाब के उस पौधे की तरह हो गया है जिसे अगर तुरंत पानी न मिला तो सूखते देर न लगेगी! इसे पानी चाहिए, कोई पानी दो। लेकिन कौन देगा पानी?"[12] उसे लगता है कि उसकी जिंदगी आम लड़कियों जैसी नहीं है क्योंकि उसने देह की मांग को बराबर अनसुना कर दिया। उसके अपनों ने उसकी दैहिक जरूरतों को अनदेखा कर दिया। पढ़ाई के चक्कर में उसने प्यार जैसे मनोवेग को एक फुटनोट समझा। यही कारण है कि वह मां-बाप से झूठ बोलकर अपने पड़ोसी साज़िद के साथ अकेली हैदराबाद चली जाती है। वहां जाकर वह साजिद के साथ सेक्स का अनुभव लेती है। हैदराबाद से लौटने के बाद महुआ गर्भवती हो जाती है लेकिन समाज के डर से वह गर्भपात करवाती है। जब वह गर्भपात के कारण पीड़ित थी तभी उसके जीवन में हर्षुल आ

जाता है। यह वह लड़का है जो उससे पहले प्रेम करता था लेकिन महुआ पढ़ाई-लिखाई के कारण उसे टालती रही। वह जिन कठिन परिस्थितियों से गुजर रही थी ऐसे में हर्षुल के उसके जीवन में प्रवेश करने से उसे लगता है कि मानों ईश्वर ने ही इसे मेरे लिए भेजा है। हर्षुल उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखता है जिसे वह तुरंत स्वीकार करती है और दोनों की शादी हो जाती है। शादी के बाद महुआ सेक्स का भरपूर आनंद ले रही थी कि अचानक एक दिन हर्षुल अपनी सहेली वर्तिका से उसे मिलवाता है। उससे मिलने के बाद महुआ उदास रहने लगती है। उसे यह संशय सताने लगता है कि हर्षुल और वर्तिका के बीच शारीरिक संबंध बने हुए हैं। इस कारण वह चिंतित हो जाती है। एक दिन दोनों किसी होटल में खाना खाने के लिए गए थे कि उमर खय्याम नामक शख़्स महुआ के पास आता है और उसे भाभी जी कहकर पुकारता है और साज़िद के बारे में पूछता है। लेकिन वह खय्याम को पहचानने से इंकार करती है। वह याद दिलाने की कोशिश करता है कि वह उसे हैदराबाद में मिला था। इसके बावजूद वह उससे अपनी पहचान छिपाती है। उमर खय्याम तो वहां से चला जाता है लेकिन हर्षुल के दिमाग में संशय का कीड़ा कुलबुलाने लगता है। वह समझ जाता है कि महुआ और साज़िद के बीच संबंध रहे हैं। वह महुआ से इन संबंधों के बारे में पूछता है जिसे वह स्वीकार करती है। हर्षुल को जब यह पता चलता है कि दोनों के बीच शारीरिक संबंध रहे हैं तब वह बौखला जाता है। वह वैवाहिक संबंध तोड़ने की बात करता है और उसे यह भी हिदायत देता है कि उसके गर्भ में जो बच्चा पल रहा है उसे गिरवा दे। लेकिन महुआ इस बात के लिए राजी नहीं होती। वह हर्षुल को आत्मविश्वास भरे अंदाज में कहती है – " पेट मेरा है। पैदा मुझे करना है। तुम्हें किस बात की तकलीफ़ है? …

हर्षुल, मैंने तुमसे कभी नहीं पूछा कि पिछले तीन साल से ही नहीं, आज भी तुम वर्तिका बनर्जी के साथ क्या कर रहे हो? क्या कर रहे हो, जानती हूं लेकिन नहीं पूछूंगी। इतना याद

रखना।"[13] इसके बाद वह अपने ड्राइवर से कहती है – "हां, अब चलो भैया...लेकिन आराम से। कोई जल्दी नहीं है।"[14] यहीं पर यह उपन्यास समाप्त होता है।

उपरोक्त रचना में सामान्य से दिखने वाले कथ्य में इतने गंभीर सवाल उठाए गए हैं कि इन सवालों से व्यक्ति और समाज सदैव जूझता रहा है। सामाजिक जीवन में यौन भावनाओं को लेकर जो ग्रंथियां हैं उन मनोग्रंथियों को इस आख्यायिका में उद्‌घाटित किया गया है। "काशीनाथ सिंह ने मानव मनोविज्ञान के यथार्थ पर उपजी सहज घटनाओं, स्त्री-पुरुष के दैहिक सन्दर्भ, और इस पूरे परिदृश्य पर वर्तमान सामाजिक-दृष्टिकोण की जकड़ी हुई गाँठें इस तरह ढीली कर दी हैं कि सामान्य नागरिक की नजर में भी जीवन-दर्शन के अगम्य-अगोचर सूत्र बड़ी स्पष्टता से दिखने लगे हैं।"[15] काम भावनाओं को लेकर भारतीय मानसिकता एक तरह के उधेड़बुन से गुजरती है। इस उधेड़बुन के चलते व्यक्ति और समाज के बीच टकराव की स्थितियां पैदा होती हैं। आज भले ही हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हो, बातें उत्तर आधुनिक होने की कर रहे हो, लेकिन सच्चाई यह है कि देश का अधिकतर हिस्सा ठीक से आधुनिक नहीं हो पाया है। उत्तर-आधुनिक होने का दावा करने वालों से कहना पड़ेगा कि आज भी हमारी मानसिकता में विशेष बदलाव नहीं हुए हैं। खासकर यौन भावनाओं को लेकर अधिकतर समाज पुरानी मानसिकता को ढोए जा रहा है। एक तरह से आज भी सेक्स को तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाता है। इसी सामाजिक दबाव के चलते महुआ की जिंदगी कठिनाइयों से भर जाती है। "महुआ और हर्षुल दोनों ही एक झूठ को सही साबित करने की कोशिश करते हैं और वह झूठ है यौन-शुचिता। दोनों में से कोई भी 'पवित्र' नहीं है, फिर इस पवित्रता की सत्यता सिद्‌ध करने का कारण क्या हो सकता है? दरअसल यह सवाल हमारे सामाजिक ढाँचे में निहित स्त्री की यौन-शुचिता की अवधारणा से जुड़ा है। पुरुष के जीवन में 'पवित्र' स्त्री की ही स्वीकार्यता है, विशेष रूप से मध्यवर्गीय समाज में; किंतु यह समाज पाषण्ड-प्रदर्शन से भी भरा हुआ है जिसे

महुआ और हर्षुल के चरित्र के माध्यम से समझा जा सकता है। यहां दोनों ही झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने का 'सफल प्रयास' करते देखे जा सकते हैं।"[16]

काशीनाथ सिंह ने स्त्री जीवन के दर्द को दर्शाने वाली बहुत कम कहानियां लिखीं हैं। गौरतलब है कि आपके संपूर्ण कथा वाड़मय में नारी पात्र बहुत कम मात्रा में मिलते हैं। लेकिन उनकी कुछ कहानियों में नारी की पीड़ा का चित्रण हुआ है।

3.2.3 दांपत्य जीवन में उपेक्षा

दांपत्य जीवन स्त्री को सुरक्षा मुहैया कराता है। इसके अंतर्गत महिला स्वयं को सुरक्षित महसूस करती है। लेकिन पति द्वारा उपेक्षित होने के कारण उसके भीतर असुरक्षा की भावना निर्माण हो जाती है।

'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' ऐसे ही असुरक्षा की भावना से पीड़ित औरत की दास्तान है। मिसेज गोठी उम्र के ऐसे पड़ाव पर आ चुकी हैं जिससे उसके मन में सदैव यह भय बना रहता है कि उनके पति अब उनसे प्रेम नहीं करते। महेंद्र गोठी जंगल विभाग में अफसर हैं। दो महीने पहले ही उनका तबादला मिर्जापुर जिले के कासगंज नामक एक छोटे से कस्बे में हुआ है। जिस सरकारी बंगले में वह रहने आयीं हैं वह बंगला सुंदर है लेकिन मिसेज गोठी को वह बंगला काफी उदास लगता है। मिस्टर गोठी काफी व्यस्त रहते हैं। वे अक्सर कामकाज के सिलसिले में घर के बाहर निकल पड़ते हैं। इस कारण वे घर में बहुत कम रहते हैं। इसलिए उनकी पत्नी को हमेशा यह शक बना रहता है कि उनके शौहर का किसी अन्य महिला के साथ प्रेम का चक्कर चल रहा है। कस्बे में भी गोठी परिवार को लेकर चर्चाएं चलती रहती हैं। इसे लेकर अनेक तरह की अफवाहें फैली हुई हैं। कस्बे से जो लोग काम के लिए उनके घर

आए हैं उन्हें भी वे बिलावजह यह बताती है कि "जी, मेरी ओर से आप लोग निश्चिन्त रहिए, मिसेज़ गोठी मुस्कुराईं, 'आपको विश्वास करना चाहिए कि मैं एक सुखी सन्तुष्ट औरत हूँ। सोचिए तो, जहाँ इतना बड़ा फूलो-फलोंवाला जंगल हो, एक अच्छा-सा बँगला हो, सामने सड़क हो, कोई कैसे दुखी रह सकता है ? और एक इतने बड़े अफ़सर की पत्नी चाहे भी तो कैसे उदास रह सकती है?"[17] वे कस्बे के लोगों को समझाने का यत्न करती हैं कि उनका वैवाहिक जीवन कितना सुखी है। एक तरह से वह अपने आप को ही तसल्ली देने की फिराक में है। दरअसल यह रचना एक ऐसे औरत की दर्द है जो हमेशा इस दहशत के साए में जीती है कि कहीं उसका घरवाला उसे छोड़ न दे। वह कस्बे के लोगों को बताती है कि – "जबकि एक औरत देखने में अच्छी हो, शरीर हष्ट-पुष्ट हो, बात करना जानती हो, अख़बार भी पढ़ लेती हो, कोई कैसे छोड़ सकता है ? और असल बात तो यह है कि कोई छोड़ना ही क्यों चाहेगा ? लेकिन...हे ईश्वर...' वे माथे का पसीना पोंछने लगीं।"[18] एक तरह से कहा जाए तो वे मानसिक अवसाद का शिकार हो चुकी हैं। हीनता बोध से वह पूरी तरह से ग्रसित है। इसे वह छिपाने की चेष्टा भी करती हैं। लेकिन इस कोशिश में वह और अधिक उजागर हो जाती है। ढलती उम्र का गहरा अंधेरा साया उनके भीतर इस तरह बैठ गया है कि वह अक्सर इसी के बारे में सोचती रहती है। मिसेस गोठी जैसी औरतें भौतिक सुख-सुविधाओं में इतनी डूबी हुई हैं कि इनके कारण उनके जीवन में एकदम खालीपन आ गया है। जिंदगी में कुछ करने के लिए उनके पास कुछ बचा ही नहीं है। सुभितापूर्ण स्थिति में डूबी होने के कारण वह कोई दूसरा काम भी नहीं करतीं। इसीलिए उनके खाली दिमाग में तरह-तरह की नकारात्मक बातें सदैव आती रहती हैं और इसीलिए वे हमेशा उदासीन रहती हैं। अत: यह कृति एक अधेड़ उम्र की महिला के अवसादपूर्ण जिंदगी को रेखांकित करती है।

'रेहन पर रग्घू' में वर्णित संजय की पत्नी सोनल वैवाहिक जीवन की खुशियों से वंचित रह जाती हैं। संजय के साथ अमेरिका जाने के बाद वह तिरस्कृत रह जाती है। यथा – "वह एक ऐसे समाज में आ गई थी जिसमें डालर को छोड़ कर किसी और चीज जैसे प्यार के लिए ईर्ष्या करना पिछड़ापन और गंवारपन था। वह जब भी संजय से उसकी हरकतों की शिकायत करती, वह खीझ उठता – 'तुम देश और काल के हिसाब से अपने को बदलना सीखो, सीखो। न चल सको तो चुपचाप बैठो या लौट जाओ!'

'लौटूंगी तो अकेले क्यों? तुम्हें साथ लेकर!'

'मैं तो डियर, परदेस को ही अपना देस बनाने की सोच रहा हूँ!' मुसकराते हुए उसने आँख मार कर कहा- 'तुम भी क्यों नहीं ढूँढ लेती ब्यायफ्रेण्ड ?'

'अच्छा लगेगा तुम्हें ?' उसने सीधे संजय की आँखों में देखा! 'अच्छा' की कहती हो? निश्चिन्त हो जाऊँगा हमेशा के लिए! हा हा हा...'

सोनल ने संजय की आँखों में गौर से देखा-वे आँखें ही थीं या दिल? यह बात उसने जबान से कही थी या दिल से? वह कहीं सोनल से सचमुच की मुक्ति तो नहीं चाह रहा है? वह देख रही थी कि अमेरिका आने के बाद से उसमें तेजी से बदलाव आया है – एक दो सालों के अन्दर! यह उसकी तीसरी नौकरी है! वह एक शुरू करता है कि दूसरी की खोज में लग जाता है – पहले से उम्दा, पैसों के मामले में। उसमें सब्र नाम की चीज नहीं है। वह जल्दी से जल्दी ऊँची से ऊँची ऊँचाइयाँ छूना चाहता है! जैसे ही एक ऊँचाई पर पहुँचता है, थोड़े ही दिनों में वह नीची लगने लगती है! इसे वह महत्वाकांक्षा बोलता है! अगर यही महत्वाकांक्षा है तो फिर लालच क्या है?

लालच? आरती गुर्जर के साथ संजय की दोस्ती के पीछे सिर्फ आरती गुर्जर है या उसके एन.आर.आई. माँ बाप जिनका 'गुजराती हस्तशिल्प' का चमकदार व्यवसाय है जिसकी वह

इकलौती सन्तान है? आरती से संजय का रिश्ता उसकी समझ से बाहर था!"[19] इस प्रकार संजय सोनल का इस्तेमाल अपने करियर को आगे बढ़ाने के लिए करता है, उसे त्याग कर वह अमेरिका में आरती गुर्जर के साथ रहने लगता है। एक प्रकार से उसने अपनी धर्मपत्नी का परित्याग किया है। संजय के इस बेरुखी पूर्ण व्यवहार के कारण उसके जैसी उच्च शिक्षित युवती की जिंदगी अवसाद ग्रस्त हो गयी है। वह एक अजनबी शहर में अकेले रहने के लिए अभिशप्त है। इस तरह उसका जीवन अनेक विवंचनाओं से गुजर रहा है।

आधुनिक युग में महिलाएं भले ही उच्च विद्या विभूषित क्यों न हो लेकिन पुरुष के बेरुखी पूर्ण व्यवहार से उनकी जिंदगी शोकग्रस्त हो जाती है। इसे स्त्री जीवन की विडंबना ही कहा जाएगा कि रूढ़ीवादी परम्पराओं, परंपरागत मान्यताओं, पुराणपंथी सोच तथा जड़तापूर्ण जातीय संस्कारों के कारण स्त्री की जिंदगानी में अनेकानेक मुश्किलें पैदा होती हैं। दांपत्य जीवन के सुखों से वे महरूम रह जाती हैं। आज के दौर में भी आधुनिक कहे जाने वाले समाज में भी विवाहिता स्त्री का जीवन त्रासदी पूर्ण हो जाता है।

3.2.4 स्त्री जीवन की व्यथा

भारतीय समाज में नारी का जीवन सदैव कष्टप्रद रहा है। समाज में व्याप्त पुरानी परंपराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं एवं प्रथाओं के कारण स्त्रियों को विभिन्न समस्याओं से गुजरना पड़ता है। भारतीय समाज सदियों से विधवाओं के लिए असंवेदनशील ही रहा है। विशेषकर सनातन भारतीय ग्रामीण समाज में किसी स्त्री के लिए विधवा होकर जीवन बिताने का मतलब अनेक भावनात्मक और शारीरिक यंत्रणाओं से गुजरने जैसा है।

'चायघर में मृत्यु' एक ऐसी स्त्री की वेदना है जो युवा अवस्था में ही विधवा हो चुकी थी। एक समय था जब वह काफी सुंदर दिखती थी। विधवा हो जाने के बाद वह ससुराल से अपने घर लौटती है। घर आने के बाद वह उपेक्षित रह जाती है। अपने भाइयों के बीच रहते हुए भी वह उपेक्षा और अकेलेपन का शिकार हो जाती है। उसके अपने घर में उसकी उपस्थिति कोई मायने नहीं रखती। इस उपेक्षा के कारण फूआ चाहती है कि वह मर जाए। अनेकों बार उसे लगता है कि उसकी मृत्यु करीब है। एक दिन जब वह ज़्यादा बीमार हुईं तब घर के सदस्य उसकी अंतिम क्रिया की सारी तैयारियाँ करते हैं। यहां तक कि गांव के लोग भी उसके क्रियाकर्म के लिए इकट्ठा हो जाते हैं परंतु वह मरती नहीं। फूआ का न मरना लोगों के लिए परेशानी का कारण बना हुआ है। घर के लोग चाहते हैं कि वह जल्द से जल्द मर जाए लेकिन वह अगले दिन सुबह उठती है और लोगों को देखती है। उसके इस तरह जिंदा रहने से घर के किसी सदस्य को खुशी नहीं है, उल्टे वे उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं – "फूआ फिर वहां से उठती और झुकी-झुकी गाँव के बाहर चली जातीं–सिवान तक। वे लहलहाती हुई फ़सलें देखती और सिर धुनने लगतीं। वे सोचतीं, 'इस साल ऊसल अच्छी है। मर जाने पर भाई उनकी काम-क्रिया अच्छी तरह कर सकते हैं। नहीं ठाले का क्या भरोसा ?' एक बार फिर वे मर जाना चाहती, लेकिन उन्हें तुरन्त लगता कि अभी ऊसलें हरी हैं। अभी तो उनमें फूल भी नहीं आए हैं। अभी इतनी जल्दी क्या और ऊसलों के खलिहान में आने तक के लिए वे रूक जाना चाहतीं। लेकिन वे जैसे ही खलिहान से लौटतीं, घर पहुँचतीं कि मर जातीं। महीने-दो महीने में एक बार वे ज़रूर मरती। और जब भी मरतीं, माथा जलने लगता, साँस तेज हो जाती। कफ गले में फँस जाता। फिर साँस की गति धीमी पड़ने लगती, ज़बान ऐंठ जाती, पाँव मुड़ते और फैलकर ख़ामोश हो जाते, हाथ हवा में छटपटाने लगते, शरीर बेचैन हो उठता, आँखों से पानी बहना शुरू होता और सूख जाता। सारा गाँव जुटता। मद्धिम स्वरों में फुसफुसाहट

होती। लोग भाग-दौड़ करते हुए देखे जाते। औरतें आँगन में सिमट आतीं, देखतीं और तय नहीं कर पातीं कि रोना शुरू कर देना चाहिए या नहीं। लोग जीवन की असारता पर बात करते और फूआ की तारीफ़ करते। फिर लोग अपने आप खिसकने लगते, धीरे-धीरे। औरतें अपने काम पर चली जातीं, मर्द अपने काम पर । फूआ अकेली रह जातीं । वे घंटों तक आँखें बन्द करतीं, खोलतीं, करवटें लेतीं, आह भरतीं, ऊँह करतीं और शाम होते-होते उठ बैठतीं। आगे चलकर एक विचित्र स्थिति आई। लोगों का आना भी कम हो गया और फूआ का मरना भी। लोगों का कहना था कि फूआ मरतीं नहीं, सबको तंग करने में मज़ा लेती हैं। और फूआ से पूछा जाता, तो वे उदास हो जातीं। उनकी आँखें डबडबा आतीं। उनके नथने फड़क उठते। और वे सहसा आँचल से मुँह छिपाकर बिलख पड़तीं। उनकी पीठ, जिस पर कफ़नवाले कपड़े की कुर्ती थी; देर तक हिलती रहती।"[20] यह आख्यायिका ग्रामीण जीवन में विधवा जीवन की त्रासदी का चित्रण करती है। जीवन और मृत्यु के बीच झूलती एक बेवा जो मरना चाहती है लेकिन अभी तक उसके भीतर जीवन के प्रति आस्था बची हुई है। भारतीय समाज में एक विधवा की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है इसका मार्मिक वर्णन इस रचना के माध्यम से किया गया है।

समाज में महिलाओं का विभिन्न प्रकार से शोषण किया जाता रहा है। इसके अलावा ऐसी अनेक स्त्रियां हैं जो यौन शोषण का शिकार हुई हैं। 'पायल पुरोहित' एक युवती के जीवन की मुश्किलों का चित्रण करती है। समाज में एक अकेली युवती के लिए जीवन यापन करना कितना मुश्किल है इसका चित्रण यहां हुआ है। पायल पुरोहित जिसका दूसरा नाम रेशमा है एक युवक से प्रेम करती है। वह आश्रय के लिए जिस मौसेरे भाई के यहां आयी है, उसी के द्वारा लैंगिक शोषण का शिकार होती है। अपने इस मौसेरे भाई से मुक्ति पाने के लिए वह अपने प्रेमी के पास जाती है लेकिन उस युवक की समस्या यह है कि वह अपनी प्रेमिका को

किस घर में रखें। वह भी अपने बड़े भाई के घर में रह रहा है जो पेशे से एक वकील है। भैया को यह अंदेशा है कि उसका छोटा भाई उस लड़की से प्रेम करता है। लेकिन उसे यह प्रेम नागवार लगता है। इस बात को लेकर वह अपने भाई को झिड़कियां भी देता है।

अंत में पायल अपने मौसेरे भाई का खून करती है क्योंकि वह उसके करतूतों से परेशान हो गई थी। उसका मौसेरा भाई दीनदयाल शहर का नामी गुंडा है जिससे पुलिस भी डरती है। इस खून के सिलसिले में पुलिस पायल को पकड़ कर जेल में डाल देती है। युवक के भैया पायल का वकालतनामा लेने जेल जाते हैं तब उन्हें सारी सच्चाई पता चलती है। जब वे उससे कहते हैं कि तुम्हारा केस मैं अपने खर्चे पर लड़ूंगा तो वह उनसे कहती है कि उस जेल से तो यह जेल बेहतर है। अतएव यह स्पष्ट है कि एक अकेली लड़की के लिए बाहरी जमाने से दो हाथ करना कितना मुश्किलभरा होता जा रहा है। देश में अनेक महिलाएं लैंगिक शोषण का शिकार हो रही हैं। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि यह शोषण उनके करीबी रिश्तेदारों तथा परिचित लोगों द्वारा हो रहा है। महिलाओं की इस भयानक स्थिति को यह रचना दर्शाती है।

गौरतलब है कि लेखक के उपन्यासों में भी स्त्री जीवन की पीड़ा को दर्शाया गया है। 'महुआचरित' में आयी नायिका का जीवन सामाजिक दबाव के चलते बिखर जाता है। महुआ के अस्सी वर्षीय पिता स्वतंत्रता सेनानी रह चुके हैं। वे हमेशा देश की दुर्दशा से दुखी रहते हैं। देश में हो रहे विकास को वे विनाश कहते हैं और एक पुराना-सा ट्रांजिस्टर लेकर बीबीसी न्यूज़ सुनते रहते हैं। सुबह उठते ही वे अखबार का इंतजार करते हैं और अखबार हाथ में आते ही राजनीतिक हलचलों पर बात करते हैं। खाप पंचायतों की रपटें और उसके फैसलों पर बिफर पड़ते हैं। जब वे अखबारों में पढ़ते कि किसी वधू ने मंडप में वर को थप्पड़ जड़ दिया और विवाह से इंकार कर दिया तो वे खुशी में खड़े हो जाते। नायिका को उनकी बातें पहले

अच्छी लगती थीं लेकिन अब उसे इन बातों से चिढ़ आने लगी है। एक तरह से वे अपनी जिंदगी में इतने मशगूल हैं कि एक बाप होने का कर्तव्य भूल जाते हैं। वे अपनी जवान बेटी की इच्छाओं-मनोवेगों को समझ नहीं पाते। उन्हें इस बात का इल्म ही नहीं है कि इस उम्र में आने के बाद वह क्या चाहती है। उसकी दैहिक जरूरतों को लेकर वे एकदम बेखबर हैं। बेटी में उभरा यौन भावनाओं के आवेग का ज्वार उसके पिता की नजर से ओझल है।

इसमें वर्णित नायिका का दोष यही था कि वह अपन देह की इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं रख पायी और यौन सुख की पूर्ति के लिए उसने साज़िद के साथ जिस्मानी संबंध स्थापित किए। इस कृत्य की सजा उसे यह मिली कि वह अपने पति द्वारा छोड़ दी गयी। एक तरह से देखा जाए तो यह समूचा मामला अत्यंत असंवेदनशीलता से भरा हुआ है। समूचा आख्यान इसी सवाल से जूझता है कि क्या कारण है कि आज भी हम सेक्स को लेकर बनी उस पुरानी मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाए हैं ? क्या कारण है कि यह सोच हमारे मन मस्तिष्क में इस कदर घर कर गयी है कि हम अपने बहुमूल्य जीवन को भी दांव पर लगाने से नहीं कतराते। वास्तविकता यह है कि समाज में रहने वाले ज्यादातर लोग सेक्स को लेकर ग्रसित हैं। परंतु आजीवन वे एक मुखौटा ओढ़े हुए जीने के आदी हो गए हैं। सच्चाई यह भी है कि यौनिकता एक ऐसी चीज है जिससे हम ताउम्र मुक्त नहीं हो पाते। इस भावना को मन ही मन ढोते रहते हैं लेकिन समाज के सामने एक दूसरा मुखौटा ओढ़ कर प्रस्तुत होते हैं। उपन्यासकार पाठकों के समक्ष इस सवाल को रख देता है कि यह कौन-सी यौन सुचिता का बोझ है जिसके साए में मनुष्य जी रहा है और एक ऐसी भटकन महसूस करता है जिससे वह बाहर निकल नहीं पाता। एक ऐसी अंधेरी सुरंग में हमें ढकेल दिया गया है, जिससे बाहर निकलना लगभग नामुमकिन-सा हो गया है। व्यक्ति कामेच्छाओं को दिमाग में रखकर मानसिक रोग से पीड़ितों की तरह जीवन व्यतीत करता है। इसका सबसे ज्यादा दबाव स्त्री

पर होता है। उसे अपनी यौनिकता को दबाए रखने के लिए समाज मजबूर करता है। स्त्री की इसी आंतरिक पीड़ा को 'महुआचरित' में रेखांकित किया गया है।

3.3 अकेलेपन की त्रासदी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अपनी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएं उसके भीतर रहकर पूर्ण करता है। प्राचीन काल से ही वह एक-दूसरे पर निर्भर करता रहा है। पारस्परिक-निर्भरता का तत्व सामाजिकता में सदैव पाया जाता है। लेकिन आधुनिक समय में वह एक-दूसरे पर आधारित निर्भरता को मिटाते जा रहा है। वह इस समुद्र रूपी समाज में अकेला पड़ता जा रहा है। इसलिए वह स्वयं को समूह से कटा हुआ महसूस करता है। आज के समय में इंसान के दुख का प्रमुख कारण अकेलेपन की पीड़ा भी है। विवेच्य लेखक ने इस वेदना को उजागर करने वाली कई कहानियां लिखीं हैं।

3.3.1 यांत्रिक जीवन

आधुनिक युग में रहने वाले व्यक्ति का जीवन यंत्रवत होता जा रहा है। विशेषकर शहराती आदमी किसी मशीन की तरह एक ढर्रे पर चलने के लिए अभिशप्त है। उसके पास इतना वक्त ही नहीं है कि वह अपने इर्द-गिर्द की खूबसूरती को देखें और जिंदगानी के सच्चे आनंद को प्राप्त कर सके। मशीनीकरण के चलते वह तमाम खुशियों से वंचित रह जाता है।

काशीनाथ सिंह के रचनाकर्म में प्रारंभिक दौर की कहानी है 'सुख'। इसमें वर्णित भोला बाबू लंबे समय तक तार बाबू के रूप में काम करने के बाद रिटायर्ड होकर घर आते हैं। एक दिन कमरे में जब वे अख़बार पढ़ रहे थे कि उनका ध्यान डूबते हुए सूरज की ओर जाता है। वे यह दृश्य देखकर अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्राकृतिक रमणीयता से उन्हें अनोखी तृप्ति मिलती है।

फिर वे लगातार उसी दृश्य को देखते रह गए। यथा – "भोला बाबू देखते रहे – सूरज, बादल, बादलों पर रंगों पर खिंचती धारियाँ, पहाड़ियों के सामनेवाले हिस्सों का धुंधलापन, धुंधलेपन के बिल्कुल ऊपर-चोटी पर लाल कुहासे का क्षीण होना...। वे ज़िन्दगी-भर तार बाबू रहे – उन्होंने सोचा। पहाड़ियों के इस जिले में ही रहे। उनसे कोई गाँव नहीं छूटा, क़स्बा नहीं छूटा, शहर नहीं छूटा। लेकिन यह सूरज! अब तक कहां था ? यह शाम आखिर किधर थी ?...आज वे क्या देख रहे हैं ?"[21] सूरज का डूबना उनके लिए ऐसा है मानो सूरज को वे पहली बार देख रहे हैं। वे चाहते हैं कि डूबते हुए सूरज को देख जो सुख उन्हें मिला है उसे वे दूसरों को भी बताएं। लेकिन जब वे इस वर्णनातीत सुख को दूसरों को बताना चाहते हैं तब उनकी बात की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यहां तक कि उनकी धर्मपत्नी को भी इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं है। इससे वे अत्यंत मायूस हो जाते हैं। एक गहरा अवसाद उन पर छा जाता है। वे सोचते हैं – "हाय! दुनिया कितनी बदल गई है, उन्होंने बार-बार सोचा। सोचा-कल शाम होगी। वे सभी लोगों को बुलाएँगे। सूरज दिखाएँगे। और समझाएँगे कि देखो, दुनिया में चूल्हा, योजना, कचहरी, ऊँट और दूध ही सबकुछ नहीं है। सूरज भी है। पहाड़ियों के ऊपर होता है। ताड़ों के बीच में आता है। फिर काँपता है। और फिर वह क्षण भी आता है, जब वह पहाड़ियों के पीछे जाता है। और डूबने के पहले एक मुलायम किरण तुम्हारे गंजे सिर पर छोड़ जाता है।"[22] बिल्कुल सामान्य-सी लगने वाली एक घटना को लेखक ने अपनी कथा का विषय बनाया है। यांत्रिक जीवन से ग्रस्त आदमी एकदम अकेला पड़ता जा रहा है। उसने जीवनशैली को इतना यांत्रिक बना दिया है कि इस त्रासदी से बाहर निकलना मुश्किल हो रहा है। व्यक्ति के एकाकीपन की पीड़ा जिस रूप में इस रचना में आयी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहानीकार इस कृति के माध्यम से मनुष्य जीवन के यांत्रिक वैयक्तिकता को सामूहिकता से जोड़ने की कोशिश भी करते हैं।

'एक हैं वर्मा जी' कहानी एक निराशाग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा को बयान करती है। इसमें वर्णित वर्मा जी अपने इर्द-गिर्द के परिवेश से नाखुश हैं। शहर में यूनिवर्सिटी में कन्वोकेशन का समारोह होने जा रहा है और इस कारण शहर भर में काफी हलचल है। लेकिन वर्मा जी में इस बात से लेकर कोई उत्साह नहीं है। वे इस समूचे समारोह से अपने आप को कटा हुआ महसूस करते हैं। उन्हें लगता है कि बहुत सारे लोगों से घिरे होने के बावजूद वे नितांत अकेले हैं। वे अपनी व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं – "देखो, मैं तुम्हें बुरा नहीं कहता । तुम अच्छे हो । तुम्हारे साथ लड़कियाँ पढ़ती हैं। और वे डिग्री लेंगी। मैं हूं। शहर के बीच हूं। बाएं से टैक्सी जाती है, दाएं से बस। सामने से रिक्शा, पीछे से भीड़। मेरे चारों ओर चालीस करोड़ आदमी हैं। एक-दो नहीं, चालीस करोड़ आदमी हैं। लेकिन कोई नहीं जानना चाहता - मैं कैसे जीता हूं? क्योंकर जीता हूं? कोई नहीं समझना चाहता।"[23] उनकी इन बातों से स्पष्ट है कि जीवन के प्रति वे बेहद निराश हैं। एक गहरे अवसाद का भाव उनमें स्पष्ट दिखाई देता है। उनके भीतर का उल्लास, उत्साह गायब हो गया है। प्रत्येक बात को लेकर उनमें नकारात्मकता का भाव आ गया है। अतः कह सकते हैं कि व्यक्ति के भीतर विद्यमान निराशा, हताशा, अजनबीपन, अकेलेपन को इस कथाकृति के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

व्यक्ति सामाजिक विधान के अंतर्गत अन्य लोगों से संबंध रखता है। उसे युवावस्था में हमउम्र सहयोगियों की विशेष ज़रूरत महसूस होती है। इस अभाव के कारण उसके भीतर खालीपन का भाव भर सकता है। विवेच्य कथाकार की 'कोंपलें' युवा मन के रिक्तता बोध की आख्यायिका है। इसमें वर्णित युवक अपनी परीक्षा के खत्म हो जाने के बाद अपने भीतर एक प्रकार का खालीपन महसूस करता है। वार्षिक परीक्षा की समाप्ति के बाद उसके मित्र उससे जुदा हो जाते हैं। वह विभिन्न प्रकारों से इस रीतेपन को भरने की चेष्टा करता है। वह सड़क

पर खड़ी एक लड़की को देखते रहता है। उसके बाद सड़क पर चल रही कुछ लड़कियों को निहारता हुआ उनके समानांतर सड़क के दूसरे छोर से चलता है। लेकिन इन तमाम चेष्टाओं के बावजूद वह अपने मन की उदासी को दूर नहीं कर पाता। एक सुंदर युवती को देखकर उसके मन में ख्याल आता है कि वह लड़का कितना खुशकिस्मत होगा जिसे यह लड़की प्यार करती होगी। वह सोचता है कि आज तक किसी युवती से उसका प्रेम नहीं हुआ है। इस अनुभूति के अभाव के ज्ञान की पीड़ा से उसे लगता है कि उसका खालीपन मर रहा है। इससे उसे थोड़ी राहत महसूस होती है। लेकिन कुछ देर बाद ही उसे डर लगने लगता है कि शायद यह अर्थ सच ही हो और फिर से उसे अपने खालीपन तथा रिक्तताबोध का एहसास होता है।

यह रचना आदमी के भीतर के रीतेपन की तलाश करती है। प्रत्येक इंसान कहीं न कहीं समुदाय से जुड़ना चाहता है। समष्टि से दूर रहकर उसे उदासी, एकाकीपन, अजनबीपन के भाव महसूस होते हैं। यह चीजें उसके भीतर शून्यता भर देती हैं। कभी-कभी यह एहसास थोड़े ही समय तक ही रहता है। लेकिन यह मनुष्य को खालीपन के भाव से भर देता है। इस प्रकार हमारे भीतर मौजूद रिक्तताबोध के कारण उपजे एकाकीपन को प्रस्तुत साहित्यिक कृति में दिखाने की कोशिश की है।

3.3.2 स्त्री का एकाकीपन

हमारे इर्द गिर्द अक्सर ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो जाती हैं कि जिससे व्यक्ति अकेलेपन, अजनबीपन के चपेट में आ जाता है। वैवाहिक जीवन में पति के होते हुए भी विवाहिता स्वयं को तनहा महसूस करती है। आपकी 'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' स्त्री-जीवन के अकेलेपन को रेखांकित करती है। इसमें चित्रित मिसेज गोठी अपने पति के होते हुए भी स्वयं को एकाकी महसूस करती है। उन्हें हमेशा यह भय सताता है कि मिस्टर गोठी उनसे प्रेम नहीं

करते। इस वजह से वह हमेशा तनाव में रहती है। अपने अगल बगल वह लोगों का जमावड़ा करती है। इसके बावजूद वह अकेलेपन की त्रासदियों से उभर नहीं पाती है। यह डर उनके भीतर इस कदर समाया हुआ है कि सभी सुविधाएं होने के बावजूद वे खालीपन की पीड़ा से ग्रस्त हैं।

भारतीय पारंपरिक समाज में विधवाओं पर विभिन्न प्रकार के बंधन लगाए जाते हैं। यही वजह है कि विधवाओं का जीवन अत्यंत दुष्कर हो जाता है। अगर कोई स्त्री युवावस्था में विधवा हो जाए तो उसकी जिंदगी की मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। 'चायघर में मृत्यु' एक विधवा स्त्री के दर्द को बयान करती है। वैधव्य के कारण वह अपने मूल घर लौटती है। लेकिन घर लौटने के बाद वह महसूस करती है कि जिस घर में वह बचपन से लेकर युवावस्था तक पली-बढ़ी, जिन भाइयों के साथ वह रही थी, आज उसी घर में वह बेगानी हो गई है। अपने भाइयों के बीच रहते हुए भी वह अकेलेपन की भावना से ग्रस्त हो जाती है। इस भावना के कारण उसके मन में अक्सर मौत के ख्याल आते हैं। लेकिन वह मरती नहीं है। कहना न होगा कि भारतीय समाज में किसी महिला का पतिहीन हो जाना कितना क्लेशपूर्ण स्थितियों से गुजरने जैसा है इसे 'चायघर में मृत्यु' के माध्यम से समझा जा सकता है।

'महुआचरित' युवा स्त्री के अकेलेपन के बोध को चित्रित करता है। इसमें महुआ के घर की एक छत है जो किसी मानवीय चरित्र के समान चित्रित हुई है। नायिका अपने एकांत क्षणों में छत पर जाती है और उससे बातें करती है। एक तरह से कहा जाए तो छत उसकी सहेली है, जहां वह खुलती, खिलती और खेलती है। यह कल्पना ही अपने आप में एकदम अनूठी और विलक्षण है कि एक जवान लड़की अपने ही घर की छत से गुफ्तगू करती है। उसके मन की अतल गहराई में छिपी हुई भावनाओं को यहां वाणी मिलती है। छत जिंदगी के विभिन्न

प्रसंगों के संदर्भ में उसे सलाह देती है, उसे समझाती है, कभी-कभी उसे डाँटती-फटकारती है, उसका धीरज भी बंधाती है। कथा नायिका अपने दिल की बातें छत से करती है। एक तरह से अपने अंतर्मन में छिपी मनोभावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसने छत का सहारा लिया है। वह अपनी निजी बातें किसी दूसरे के साथ साझा नहीं करती तथा उसका आचरण इस बात को जताता है कि वह अपने जीवनकाल में बेहद एकाकी हो गई है। उसके पास ऐसा कोई साथी नहीं है जिससे वह अपने रहस्यों को उजागर कर सके। अपने मन की गांठे वह किसी दूसरे के सम्मुख खोल नहीं सकती। एक तरह से इसे वर्तमान समय की विडंबना ही कहना चाहिए कि व्यक्ति दूसरों के सामने स्वयं को व्यक्त नहीं करना चाहता। वह अपनी मन की भावनाओं को अपने भीतर ही जब्त कर देना चाहता है। यह कितना दुखद है कि लोगों से भरे इस विशाल सागर में हमारा अपना कोई अंतरंग आत्मीय संगी-साथी नहीं है जिस पर हम पूरी तरह से विश्वास कर सके। यही वजह है कि नायिका तनहा जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। एक तरह से वह सामाजिकता के आनंद से महरूम हो गई है। लेखक ने इस प्रसंग के माध्यम से वर्तमानकालीन अकेलेपन की वेदना को प्रतिपादित किया है।

3.4 वृद्ध जीवन

वृद्धावस्था मानव के साथ होने वाली एक जैविक प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति एक समय के बाद वृद्ध होने की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। एक तरह से बुढ़ापे का मतलब मनुष्य में होने वाला शारीरिक और मानसिक परिवर्तन है। उम्र बढ़ने के साथ मनुष्य में मानसिक और दैहिक रूप में कमजोरी आ जाती है। इस प्रकार वृद्ध होने की अवस्था को प्राप्त करने के बाद मनुष्य की क्षमताओं के कमजोर होने के कारण उसे समाज के अन्य सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। यही वजह है कि इस दशा को प्राप्त करने के बाद बूढ़ों की स्थिति दयनीय हो जाती है। आधुनिक युग में बहुत से वृद्धों की हालत अत्यंत चिंताजनक है। बुजुर्गों की समस्याओं में

दिन-ब-दिन बढ़ोतरी होती जा रही है। आर्थिक सुरक्षा के अभाव में उनकी जिंदगी बेहद दयनीय हो जाती है।

3.4.1 बुजुर्गों के साथ अमानवीय व्यवहार

आधुनिक युग में बदलती परिस्थितियों ने उम्रदराज लोगों का जीना और अधिक कठिन बना कर रख दिया है। बुजुर्गों और नई पीढ़ी के बीच एक दूरी-सी पैदा हो गई है और ये दूरियां शहराती इलाकों में ज्यादा गहराती जा रही हैं। अधिकतर घरों में बूढ़ों की अनदेखी कर दी जाती है और यह उनके लिए मानसिक अवसाद की वजह बन जाती है।

विवेच्य कथाकार ने वृद्धों की समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई है। 'एक लुप्त होती हुई नस्ल' गांव में रहने वाले दो बूढ़ों की दुखद गाथा है। दोनों बूढ़े गांव-गांव में घूमकर विवाह जमाने का काम करते थे। एक समय था जब सामाजिक व्यवस्था में ऐसे लोग थे जो लोगों के घर जाते थे और उन्हें वर-वधुओं के बारे में जानकारी देते थे। इन्हीं लोगों में दो बूढ़े दादू और पुराने जीयनपुर में रहते हैं, वे गांव-गांव जाकर विवाह योग्य लड़के-लड़कियों की जानकारी लोगों को देते हैं। दोनों बरसात का मौसम खत्म होने के बाद अपने गांव से निकलते हैं और आस-पास के गांव में घूम कर यह कार्य करते हैं। लेकिन विडंबना यह है कि अब यह काम करने के लिए वे दोनों थक चुके हैं। अपने बेटों के साथ इनकी पटती नहीं है। घर की बहूएं भी इनके साथ बेहद बुरा बर्ताव करती हैं। युवा पीढ़ी के इस कटु व्यवहार के कारण मज़बूरी में दोनों घर से निकलते हैं और गांव-गांव घूमकर यह प्रपंच करते हैं। सच्चाई यह है कि यह सब करने की अब उनकी उम्र भी नहीं रही लेकिन लाचार होकर उन्हें यह सब करना पड़ रहा है। इससे उन्हें फायदा यही होता है कि जिनके यहां वे जाते हैं उनके घर में दाना-पानी और रहने

खाने की व्यवस्था हो जाती है। वर-वधू की खोज करना इनके लिए अपने घर से दूर जाने का मात्र एक बहाना है।

इस रचना में कहानीकार ने देश में बूढ़ों पर हो रहे अत्याचार को दर्शाने की कोशिश की है। उम्रदराज लोगों के साथ युवाओं का आचरण अत्यंत अमानवीय होता जा रहा है। अक्सर हमें बुजुर्गों का आदर और सम्मान करने की सीख दी जाती है तथा वयोवृद्ध हमेशा से ही घर में मान-सम्मान पाते रहे हैं। लेकिन समय ने इस कदर करवट ली है कि अब देश में बड़े-बुजुर्गों का आदर-सम्मान नहीं होता। गांवों में जिन वृद्धों को इतनी इज्जत बख़्शी जाती थी उन ग्रामीण क्षेत्रों में भी वे बेकार की चीज़ हो गए हैं। घर की बहू बेटियां भी इन पर बेहद आपत्तिजनक टिप्पणियां करती हैं। यह कृति भारतीय मानसिकता में वृद्धों को लेकर आए बदलाव को चित्रित करती है। संयुक्त परिवारों के टूटने के बाद बुजुर्गों का स्थान परिवार में गौण हो गया है। घर-परिवार के इसी अमानवीय और अपमानजनक व्यवहार के कारण दादू और पुराने को अपने ही घर से मजबूरन बाहर जाना पड़ा। वे दर-दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर हैं और रोटी के लिए भी मोहताज हैं। दुख इस बात का भी है कि एक जमाना था जब ऐसे लोगों का बड़ा मान-सम्मान होता था। लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में इनकी उपयोगिता समाप्त होने के कगार पर है। इसीलिए वर्तमान में यह एक लुप्त होती हुई नस्ल है। लेखक ने वर्तमान युवा पीढ़ी के बुजुर्गों के प्रति अमानवीय और असंवेदनशील रवैए को चित्रित किया है तथा यह बताने का प्रयास किया है कि जिन संस्कारों पर हमें इतना गर्व था वह कैसे पतन के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। बूढ़ों को लेकर इस प्रकार का व्यवहार बेहद चिंताजनक है। जाहिर सी बात है कि अगर कोई व्यक्ति लंबे समय तक जीवित रहता है तो वह कभी न कभी बुढ़ापे की अवस्था को प्राप्त करता है। लेकिन जवानी के मद में चूर लोगों की आंखों से एक कठोर और कटु सत्य ओझल हो रहा है कि वे बड़े बुजुर्गों के साथ जिस

प्रकार का अमानवीय व्यवहार कर रहे हैं इससे यह संभावना अधिक है कि आने वाली पीढ़ी भी उनके साथ वैसा ही दुर्व्यवहार करेगी। हमें बुजुर्ग-पीढ़ी को किसी धरोहर की तरह जतन करने की आवश्यकता है। क्योंकि मनुष्य को किसी के सहारे की सबसे ज्यादा जरूरत इसी उम्र में पड़ती है। व्यक्ति जब शारीरिक रूप से कमजोर हो जाता है तब वह दूसरों पर ज्यादा आश्रित हो जाता है। बुढ़ापे में ही अपने लोगों की जरूरत अधिक होती है। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि उनके करीबी लोग ही इन बुजूर्गों को इस अवस्था में आने के बाद ठुकरा रहे हैं। बूढ़ों के इस गंभीर समस्या को 'एक लुप्त होती हुई नस्ल' में बड़ी मार्मिकता से रेखांकित किया गया है।

3.4.2 वृद्धावस्था में अजनबीपन एवं एकाकीपन

आधुनिकतम युग में बूढ़े बहुत बड़ी संख्या में अलगाव के शिकार हो रहे हैं। एकाकीपन की त्रासदीपूर्ण स्थिति से गुजरना बुढ़ापे की आम शिकायत बन गई है। भारतीय संस्कृति में बुजुर्गों के प्रति आदर और सम्मान की परंपरा रही है। लेकिन बदलते सामाजिक परिवेश और जीवन मूल्यों के कारण अब हालात यहां तक पहुंच गए हैं कि वे समाज में हाशिए पर जाने लगे हैं। उनके प्रति मान-सम्मान का भाव बेहद तेजी से घटने लगा है। देश में वृद्धाश्रमों की बढ़ती संख्या दर्शाती है कि समाज में बुजुर्गों की स्थिति दयनीय होती जा रही है।

'विलेन' कहानी एकाकीपन से ग्रस्त एक बूढ़े की व्यथा को बयान करती है। इसमें आए बूढ़े की पत्नी गुजर चुकी है, इसलिए उसकी हालत दयनीय हो गयी है। एक जमाना था जब वह बड़ा खूबसूरत, आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला आदमी हुआ करता था। आज वह बूढ़ा हो गया है। अब शरीर पहले जैसा ताकतवर और सुडौल नहीं रह गया है। आंखों की हालत यह है कि चश्मा उतारने के बाद कुछ भी ठीक से नहीं दिखता। पैरों की हालत यह है कि वह अब

ठीक से चल भी नहीं पाता। अक्सर शाम को वह रेंगते-रेंगते पार्क में जाता है। लेकिन पार्क में आने के बाद वहां खेलने वाले बच्चे उसे बहुत सताते हैं। कोई बच्चा आकर उसके सर पर टोपी मार कर भाग जाता है। बूढ़ा जब उनको डांटता है, गालियां बकता है तो वे उसे और अधिक चिढ़ाते हैं और हंसने लगते हैं। लेकिन जब बच्चे मैदान में नहीं होते तब उसे अच्छा नहीं लगता। उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है और उदासी उसे घेर लेती है। कभी-कभी बच्चे खेलते हुए जान-बूझकर गेंद उस पर मारते हैं। इस बात पर वह नाराज़ हो जाता है और बच्चों पर ऊंची आवाज में बरस पड़ता है। आज उसके पैरों में वह ताकत नहीं रही कि बच्चों के पीछे वह भाग सके। कभी-कभी बच्चों में ही आपस में मारपीट हो जाती है। एक दिन अक्षय नाम का लड़का उसके पास आता है और उनसे कहता है कि कोई कहानी सुनाओ। तब बूढ़े ने उसे राजा और रानी की कथा सुनानी शुरू की। वह कहानी सुना रहा था कि बच्चा अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहता है कि बकासुर, महिषासुर और भस्मासुर इसमें कब आएंगे ? बूढा झल्ला कर उसे कहता है, इसमें कोई सुर नहीं आएगा। यह सुनते ही वह बच्चा नाराज हो जाता है और कहता है कि ऐसा कुछ उसे नहीं सुनना। वह उससे पूछता है कि क्यों वह यह सुनना नहीं चाहता। इस पर बच्चे का उत्तर था कि उसे इसमें कोई विलन चाहिए। अगर वह किसी विलन का किस्सा सुनाता है तो ठीक है, नहीं तो वह उधर से चला जाएगा। जिसमें कोई खलनायक नहीं है, वह ऐसा किस्सा सुनना पसंद नहीं करता। उसके बाद वह अपने घर आता है और एक अजीब-सी उदासी और बेचैनी उसे घेर लेती है। उसे याद आता है कि आज से करीब साल-डेढ़ साल पहले उसके बेटे की चिट्ठी आयी थी। उसमें लिखा था कि पप्पू अब बड़ा होकर उत्कर्ष हो गया है और नोएडा के किसी पब्लिक स्कूल में पढ़ रहा है। उसे यह याद भी नहीं कि पोते का मुंह देखे कितने साल हो गए। उसे लगता है कि उसका पोता आज बड़ा होकर अक्षय की तरह हुआ होगा।

दरअसल वृद्धजनों को लेकर हमारा समाज दिन-ब-दिन बेहद असंवेदनशील होता जा रहा है। इसे भारतीय मूल्यो का क्षरण ही कहा जाना चाहिए कि अब बेटों के होते हुए भी एक वृद्ध बाप अकेले रहने के लिए अभिशप्त है। व्यक्ति के वयोवृद्ध होने के बाद उसके संतानों की जिम्मेदारी थी कि वे उसका ख्याल रखते, उसे आदर और प्यार के साथ अपने घर में आसरा देते और उसका सहारा बनते। लेकिन इस कृति में आए बूढ़े के नसीब में यह नहीं है। उसका बेटा उससे अलग रहता है। उसे अपने पोते की याद भी आती है लेकिन वह उसके साथ रह नहीं सकता। एकाकीपन का एहसास उसे खाए जा रहा है। इसके बावजूद वह उनसे अलग रहने के लिए विवश है। अतः यह रचना एक बूढ़े व्यक्ति की मर्मांतक पीड़ा को व्यक्त करती है।

यह रचनाकृति एक वृद्ध के माध्यम से सामाजिक परिवेश में आ रहे बदलावों की ओर इशारा करती है। एक दयनीय उम्रदराज व्यक्ति जो शारीरिक रूप से काफी कमजोर हो चुका है और पार्क में बैठने के लिए जाता है। वहां खेलने वाले बच्चे उसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। अलग-अलग तरीके से वे उसे परेशान करते हैं। उसे परेशान करने में उन्हें मजा आता है। यह है नए युग के बदले हुए संस्कार। हमारे संस्कारों में सिखाया जाता था कि बड़े-बुजुर्गों का आदर सम्मान करना चाहिए। यह हमारा कर्तव्य है कि ऐसे वृद्धजन जो शारीरिक-मानसिक रूप से कमजोर हो चुके हैं उन्हें सहारा दे। लेकिन आज के समय में स्थितियां इस कदर खराब हो चुकी हैं कि उन्हें सहारा देने के बजाय हम उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें अपमानित किया जाता है। पार्क में खेलने वाले बच्चे बूढ़े को विविध प्रकार से सताने का काम करते हैं। कोई उसे कॉपी मारता है तो कोई उस पर गेंद फेंकता है। उसके चीखने-चिल्लाने या गालियां देने पर उन्हें हंसी आती है और उसका मजाक उड़ाते हैं। यह है नई पीढ़ी का वृद्धों के प्रति रवैया। आधुनिक युग में नई पीढ़ी के मां-बाप अपने औलादों को ठीक से संस्कार भी नहीं दे

पा रहे हैं। उन्हें यह नहीं सिखाया जाता कि बुजुर्गों के साथ कैसा आचरण करना चाहिए। बच्चे भी देखते आए हैं कि उनके माता-पिता बड़ों के साथ किस प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं। उन्हीं की देखा-देखी बच्चे वृद्धों के साथ वैसा ही ग़लत व्यवहार करते हैं। दूसरी बात यह है कि समाज में कुछ नकारात्मक तत्त्व इस प्रकार से हावी हो गए हैं कि वे धीरे-धीरे हमारी मानसिकता के अंग बनते जा रहे हैं। मां-बाप के इस रवैये के कारण बच्चों का मन भी उसी ओर आकर्षित होने लगा है। कहानी में वर्णित बूढ़ा जब अक्षय को राजा-रानी का अफसाना सुना रहा था तब वह उससे पूछता है कि इसमें बकासुर, महिषासुर या फिर भस्मासुर कब आएगा। इस बात से साफ जाहिर है कि बच्चों को भी ऐसे ही पात्रों के बारे में सुनना ज्यादा अच्छा लगता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि मनुष्य का मन अक्सर नकारात्मक बातें सुनने की ओर अधिक आकर्षित होता है। इक्कीसवीं सदी में भी हम देख रहे हैं कि सारे न्यूज़ चैनल, सोशल मीडिया हमारे समक्ष ऐसी चीजों को जान बूझकर परोस रहे हैं। लेखक इसी तथ्य को इस कहानी के माध्यम से उजागर करते हैं। यह रचना इस तथ्य को उजागर करती है कि हम अपनी संतान को संस्कारवान बनाने में कमजोर पड़ रहे हैं। भारतीय संस्कृति में जिन रक्षणीय मूल्यों को महत्त्व दिया जा रहा था वे मूल्य अब कमजोर पड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।

'कहानी सरायमोहन की' में दो वृद्धजनों की दयनीय स्थिति को देखा जा सकता है। कथा में वर्णित धनुर्धारी सिंह को मजबूरन घर छोड़कर जाना पड़ता है। उसके घर से जाने का कारण है कि वह अपने ही बेटे द्वारा पिटा गया है। धनुर्धारी सिंह घर से निकल कर एक सराय में शरण लेते हैं। उसी सराय में एक ब्राह्मण पंडित ने भी शरण ले रखी है। फिर दोनों के बीच में बातों का सिलसिला चल पड़ता है। लेकिन धनुर्धारी सिंह पंडित को यह नहीं बताते कि

उनके साथ घर में किस प्रकार का दुर्व्यवहार हुआ है। इस प्रकार यह कृति बूढ़ों की त्रासद स्थितियों को भी बयान करती है।

'रेहन पर रग्घू' के नायक रघुनाथ उम्र के आखिरी पड़ाव पर पहुंचने के बाद अपने आप को अकेला महसूस करते हैं। नई पीढ़ी के विचारों से उनके विचार मेल नहीं खाते। वे पुराने संस्कार और आधुनिकतावादी विचारों के चक्रव्यूह में इस कदर उलझे हुए हैं कि इससे कैसे बाहर निकला जाए इसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। एक तरह से उनकी अवस्था उस अभिमन्यु की तरह हो गई है जो वर्तमान समय की सामाजिक उलझनों में फंस गए हैं और अपने आप को इसमें उलझता देख और अधिक हताश और निराश हो गए हैं।

अवसादपूर्ण दशा से गुजर रहे रघुनाथ अपनी पत्नी शीला को उदासी से कहते हैं – "शीला, हमारे तीन बच्चे हैं लेकिन पता नहीं क्यों, कभी कभी मेरे भीतर ऐसी हूक उठती है जैसे लगता है – मेरी औरत बाँझ है और मैं निःसन्तान पिता हूँ। माँ और पिता होने का सुख नहीं जाना हमने। हमने न बेटे की शादी देखी, न बेटी की! न बहू देखी, न होने वाला दामाद देखा। हम ऐसे अभागे माँ बाप हैं जिसे उनका बेटा अपने विवाह की सूचना देता है और बेटी धौंस देती है कि इजाजत नहीं दोगे तो न्यौता नहीं दूंगी। और अब तुम्हारी नजर टिकी है राजू पर– कि सारी साधे वही पूरा करेगा। निहाल कर देगा तुम्हें। ऐसा कोई भ्रम हो तो निकाल दो अपने दिमाग से। मुझे पता है कि वह इनसे भी आगे जा रहा है! उसने एक ऐसी विधवा लड़की ढूँढ़ निकाली है जिसके दो साल का बच्चा है। यही नहीं, वह कोई अच्छी खासी सर्विस भी कर रही है। उसी के पैसे से दिल्ली में ऐश कर रहा है। मोटरबाइक ले ही गया है मस्ती के लिए। बच्चा पालना और ऐश करना – दो ही काम है उसके। गए थे डोनेशन की रकम लेकर, आज तक पता नहीं चल सका कि ऐडमिशन लिया भी या नहीं।"[24] इस प्रकार हम देखते हैं कि

अपनी संतानों के मनमाने व्यवहार के कारण रघुनाथ को अवसाद ने घेर लिया है और वृद्धावस्था में वे स्वयं को अजनबी महसूस करते हैं।

उपन्यासकार रघुनाथ के माध्यम से बुढापे की दारुण स्थितियों को उद्घाटित करता है। रघुनाथ डिग्री कॉलेज में पढ़ाने वाले प्राध्यापक हैं। जिंदगी भर बड़ी मेहनत-मशक्कत के बाद उन्होंने अपने परिवार को खड़ा किया था। लेकिन उम्र के इस पड़ाव पर उनकी हालत खराब हो गई है। उनके बुढ़ापे का आलम यह है कि उनके इर्द-गिर्द अपना कहलाने के लिए कोई नहीं है। यहां तक कि उनके अपने बच्चे भी उनके जीवन से दूर जा चुके हैं। जिनके भविष्य के लिए उन्होंने अपनी सारी जिंदगी दांव पर लगाई, जिन बच्चों की बेहतर जिंदगी के लिए अनेक समझौते किए वहीं अब उनसे किनारा कर चुके हैं। वे बुढ़ापे का दंश झेलते हुए अपने आप को निपट अकेला महसूस कर रहे हैं। उदारीकरण और उपभोक्तावाद ने उनके सपनों को चकनाचूर कर दिया है। हालात इतने खराब हो चुके हैं कि अंत में वे स्वयं को रेहन पर रखने के लिए बेबस हो जाते हैं। दरअसल आज के भूमंडलीकृत जमाने में बुढ़ापा एक अभिशाप बनता जा रहा है। इसमें रघुनाथ के माध्यम से आज के समय में मध्यवर्गीय जीवन में वृद्धावस्था की बिगड़ती स्थितियों को देख सकते हैं।

'उपसंहार' महाभारत युद्ध के बाद के कृष्ण जीवन की कथा है। महाभारत के युद्ध के उपरांत के श्रीकृष्ण के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में कृष्ण के अंतिम दिनों की चर्चा की गई है। युद्ध की समाप्ति के बाद श्रीकृष्ण द्वारका लौट कर आए थे। इस युद्ध में विजयी होकर आने के बाद भी उन्हें मानसिक संतोष नहीं मिल सका। उनके पास सब कुछ था लेकिन एक चीज जीवन से गायब हो गई थी और वह थी उनकी मुस्कान। उनकी आंखों और चेहरे पर दिखाई देने वाली निश्चल, पारदर्शी मुस्कान गायब हो गई थी।

महाभारत के युद्ध में वे अपनी मुस्कान भूल गए थे। द्वारका आने के बाद उन्हें बार-बार अपने बचपन में बिताए दिन याद आते हैं जब वे गोकुल में रहते थे। मुंजाल जब उन्हें 'लल्ला' कहते हैं तब उनका जी भर आता है क्योंकि उन्हें याद नहीं पड़ता कि आखिरी बार उन्होंने लल्ला कब सुना था, कहां सुना था और किससे सुना था। वे वासुदेव, केशव, पुरुषोत्तम, जनार्दन जैसे संबोधन सुनते-सुनते तंग आ चुके हैं।

उपन्यास में वर्णित कृष्ण एकाकीपन और अजनबीपन को महसूस कर रहे हैं। युद्ध में उन्हें विजय तो मिली लेकिन जिस सुख और शांति की वे कामना कर रहे थे वह उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी। कृष्ण के मन में गहरे पश्चाताप की भावना दिखलाई देती है। दूसरों की नजर में स्वयं को ऊपर उठाने के लिए उन्होंने इतना बड़ा नरसंहार करवाया। यह बात उन्हें भीतर ही भीतर विचलित कर रही है। आज वे एक ऐसी ऊंचाई पर पहुंचे हैं कि जहां तक कोई नहीं पहुंच सकता। दुनिया की नजर में वे ईश्वर बन चुके हैं लेकिन ईश्वर बनने के चक्कर में, इतनी ऊंचाई पर जाने के बाद वे स्वयं को अकेला अनुभव कर रहे हैं। समूचे उपन्यास में कृष्ण के भीतर समाया हुआ अकेलेपन का एहसास उभर कर सामने आया है। यह अहसास उन्हें भीतर तक दहला देता है। यहां पर एक सवाल हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि आखिर ऐसी बुलंदी पर पहुंचने का क्या मतलब है? यहां तक पहुंचने के बाद व्यक्ति अकेलेपन की वेदना और अजनबीपन के एहसास से गुजरता है तो यह बड़प्पन किस काम का है?

उपन्यास में एक प्रसंग राधा का भी है। वह कृष्ण से मिलने के लिए आती है। नंदगांव छोड़कर मथुरा जाते हुए कान्हा ने वादा किया था कि वे लौटकर ब्रज आएंगे। लेकिन कंस वध के बाद स्थितियां ऐसी बनती गईं कि वे ब्रज लौट नहीं सके। कंस का वध करने के बाद उसके ससुर जरासंध ने मथुरा पर इतने आक्रमण किए कि उन्हें मथुरा छोड़नी पड़ी और उन्होंने

द्वारका नगरी का निर्माण किया। लेकिन द्वारिकापुरी में बसने के बाद वे कभी ब्रज वासियों से मिलने तक नहीं गए। आज उम्र के जिस दौर से वे गुजर रहे हैं ऐसे समय में उन्हें अक्सर ब्रज की याद आती है, उन्हें बचपन का नंद गांव याद आता है। उन पुराने दिनों की याद आने के बाद वे उदास और मायूस हो जाते हैं। इस प्रकार कृष्ण अपने जीवन से खुश नहीं हैं। उनके भीतर गहरी उदासीनता छाई हुई है। वे निराशा बोध से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। उनके भीतर एकाकीपन का भाव आने के कारण वे अवसादग्रस्त हो गए हैं।

दरअसल बुढ़ापा मनुष्य जीवन की एक ऐसी दशा है जिसमें व्यक्ति अक्सर अकेला हो जाता है। इस उम्र तक आने के बाद वह अपने व्यस्त जीवन से मुक्त हो चुका होता है। किसी जमाने में जो शख्स अपने कामकाज के कारण अत्यंत व्यस्त रहा करता था उसकी जिंदगानी में खालीपन आ जाता है। बुढ़ापे के कारण कुछ लोगों की हालत इतनी खराब हो जाती है कि पुरानी यादों को संजोकर रखने के सिवाय उनके पास कुछ नहीं बचता। ऐसे में अजनबीपन के दंश को झेलना अत्यंत कठिन होता है। समाज में अनेक बूढ़े व्यक्ति एकाकीपन के दर्द को झेलते हुए अपना समय व्यतीत करने के लिए मजबूर हैं।

3.5 राजनीतिक परिवेश

भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों ने ब्रिटिश के खिलाफ आजादी की लड़ाई लड़कर हमें अंग्रेजी हुकूमत के अन्याय और अत्याचार पूर्ण नीतियों से मुक्त किया था। आज़ादी के पूर्व भारतीय नेताओं ने देशवासियों को सुनहरे सपने दिखाए थे कि आजादी मिलने पर एक खुशहाल राष्ट्र का निर्माण होगा जिसमें आम जनता के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाएगा। इस लड़ाई में लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, सुभाष चंद्र बोस, मौलाना आजाद, भगत सिंह के अलावा अनेकानेक स्वाधीनता सेनानियों ने भाग लिया था।

भारत के इन महान सपूतों पर हमारी अवाम ह्रदय से प्रेम करती थी और उसे पूर्ण विश्वास था कि जो सपने वे दिखा रहे हैं वह आज़ादी मिलते ही पूर्ण होने वाले हैं। लेकिन स्वतंत्रता के बाद यह सपने बिखरते हुए से नजर आने लगे। सन् 1950 के बाद ऐसा लगने लगा कि जो सपने आज़ादी से पहले दिखाए गए थे वह केवल एक भ्रम था, असलियत कुछ और थी। कम से कम आम आदमी के जिंदगानी में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ। यही वजह थी कि इन सारी स्थितियों से जन साधारण का मोहभंग होने लगा। सामान्य जनजीवन बेरोजगारी, बेईमानी, भ्रष्टाचार से परेशान होने लगा था। यह बात और ज्यादा तकलीफदेह थी कि आजादी से पहले अंग्रेजी शासन हमारे साथ अन्याय कर रहा था, लेकिन अब अपने लोग ही छलावा करने लगे। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु की मृत्यु सन् चौंसठ में हो गयी थी। नेहरू जी की मृत्यु के बाद लगभग अठारह महीनों तक लाल बहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री पद पर कार्यरत थे। शास्त्री जी की मृत्यु के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति में एकदम से गिरावट देखने को मिलती है।

3.5.1 राजनीति का गिरता स्तर

सन् सत्तर के बाद देशीय राजनीति का स्तर बहुत तेजी से गिरने लगा था। यही वह समय है जब भ्रष्टाचार के विषैले सांप ने अपना फन निकालना शुरू किया था। काशीनाथ सिंह जैसे कहानीकार इसी परिवेश की उपज कहे जा सकते हैं। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक बिखरावपूर्ण परिस्थितियों को लेकर अनेक कहानियां लिखीं हैं। उनकी ऐसी अनेक रचनाएं हैं, जिनमें उनके राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधारा से हम रूबरू होते हैं। उनकी राजनीतिक विषयों पर लिखीं कहानियों में व्यंग्य की गहरी मार शामिल है।

आपकी 'तीन काल कथा' भारतीय राजनीति के गिरते स्तर को प्रस्तुत करती कृति है। इसमें तीन प्रसंगों का उल्लेख है। लेखक ने अकाल, पानी और प्रदर्शनी इन शीर्षकों के अंतर्गत तीन कथाएं कही हैं। इसमें पहले किस्से में 'अकाल' में एक व्यक्ति है जो अकाल से पीड़ित है। बहुत दिन हुए उसने कुछ खाया नहीं है। एक दिन वह अपने घर आता है और अपनी घरवाली को दस रुपए का नोट देते हुए कहता है कि वह शाम को आएगा, उसके लिए खाना बनाकर रखना। इस बीच पत्नी जब बर्तन मांजने के लिए भीतर चली जाती है तब उनका चार साल का बेटा उस दस रुपए के नोट को फाड़ देता है। यह बात औरत को पता चलती है और वह बेटे को खूब पीटती है। रात में वह घर आता है और औरत से उसके रोने का कारण पूछता है, उसे पता चलता है कि बेटे ने दस रुपए का नोट फाड़ दिया। यह सुनकर वह गुस्से में आग बबूला हो जाता है और बेटे को जान से मार देता है।

इसके अंतर्गत दूसरी कथा है 'पानी'। इसमें निठोहर नाम का एक शख्स है जो पिछले सात दिनों से भूखा है। वह गांव के कुएं में कूद जाता है और बाहर नहीं निकलता। उसकी इस हरकत को लेकर लोग परेशान हैं क्योंकि वहां कोई दूसरा कुंआ नहीं है, अगर इस कुंए का पानी नहीं मिला तो उन्हें तीन कोस दूर किसी दूसरी जगह जाकर पानी लाना पड़ेगा। इसकी खबर पुलिस को दी जाती है, उसे निकालने के लिए दो सिपाही भेजे जाते हैं। पुलिसकर्मी निठोहर को कुंए से बाहर निकालने के लिए काफी डांट डपट करते हैं। लेकिन वह बाहर नहीं आता। वहां पर आए लोग सिपाहियों के साथ उसे बाहर निकालने की कोशिश कर रहे हैं – "डोर ऊपर खींच ली जाती है और उसे बाहर निकालने के लिए तरह-तरह के सुझाव आने लगते हैं। तय किया जाता है कि वह भूखा है और रोटियाँ देखकर ऊपर आ जाएगा। लेकिन सवाल पैदा होता है कि रोटियाँ कहाँ से आएँ ? अगर रोटियाँ होतीं तो वह कुएँ में क्यों बैठता? फिर बात इस पर भी आती है कि उसे यहीं से चारा दिखाया जाए। मुलायम और नरम

पत्तियाँ।"[25] बाजार से सत्तू मंगवाया जाता है जिसे वह पी लेता है "निठोहर ने गगरा छिटकाकर पानी पर फेंक दिया है और फन्दा अपने गले में डाल लिया है। उसने फन्दा पकड़ लिया है, पहला सिपाही चिल्लाता है। खींचो, मैं कहता हूँ, खींचो साले को', दूसरा चीखता है और निठोहर खींच लिया जाता है। उसकी उँगलियाँ फन्दे पर कस गई हैं। जीभ और आँखें बाहर निकल आई हैं और टाँगें किसी मरे मेंढक-सी तन गई हैं।"[26] तीसरा किस्सा एक ऐसे इलाके की है जहां पर अकाल पड़ा हुआ है और यहां पर प्रधानमंत्री जी भेंट देने वाली हैं। प्रधानमंत्री के उस इलाके में आने की खबर से सरगर्मियां बढ़ जाती हैं। और शुरू हो जाता है दिखावटीपन का सिलसिला। कहीं से पचास कंगाल जुटाए जाते हैं। प्रधान-मंत्री के स्वागत की जोरदार तैयारियां की जाती है। फाटक बनाए जाते हैं, तोरण और बंदनवार सज़ाएँ जाते हैं, स्वागतम् और शुभागमनम के बोर्ड लटकाए जाते हैं। क्षेत्रीय नेता भी मुस्तैद हो जाते हैं और वह यह जताने का प्रयास करते हैं कि उन्हीं के प्रयासों के कारण इतनी बड़ी हस्ती इस क्षेत्र को भेंट देंगी। क्षेत्रीय नेता इन सारी चीजों को चुनाव की दृष्टि से देखते हैं। प्रधान मंत्री भी कुछ समय के लिए इस इलाके में आती हैं और आंखों को रुमाल से पोछती हैं। इस मौन कार्यक्रम के बाद प्रसन्न चेहरे के साथ वहां से विदाई लेती हैं। फिर वे दूसरे शहर के सबसे बड़े होटल में जाकर पत्रकारों के बीच वक्तव्य देती हैं कि हम दृढ़ता, निश्चय और अपने बलबूते पर ही इसका मुकाबला कर सकते हैं। अफसर खुश होते हैं कि उनका दौरा बिना किसी दुर्घटना के संपन्न हुआ और जिन कंगालों को प्रधानमंत्री जी को दिखाने के लिए लाया गया था वे फिर से जंगल की ओर हांक दिए जाते हैं।

इस कथा कृति में अकाल की स्थिति का वर्णन किया गया है। भारत जैसे गरीब देश में जब सूखा पड़ता है तब लोग और अधिक अमानवीय हो जाते हैं। क्योंकि भूख मनुष्य को ऐसा करने के लिए बेबस कर देती है। एक बाप भूख के चलते अपने चार साल के बेटे को हलाल

कर देता है। वह यह बर्दाश्त नहीं कर सका कि लगातार जी तोड मेहनत कर जो दस रुपए का नोट वह कमाकर लाया था वह उसके बेटे ने फाड़ दिया है। उसके पास मात्र दस रुपए ही थे जिससे वह अपनी भूख मिटाने वाला था। इस तरह हम देखते हैं कि भूख एक ऐसी चीज है जो मनुष्य को मनुष्य रहने नहीं देती और आदमी को वहशी जानवर बना देती है। दूसरी कथा में एक भूखा व्यक्ति कुएं में कूद जाता है और बाहर नहीं आना चाहता और उसी कुएं में रहकर मर जाना चाहता है। लेकिन गांव के लोगों के सामने दिक्कत यह है कि अगर वह इस कुएं में मर गया तो वे पानी कहां से पिएंगे। आखिर में काफी प्रयत्नों के बाद लोग पुलिसकर्मियों की सहायता से उस व्यक्ति को कुंए से बाहर निकाल लेते हैं। लेकिन निठोहर बाहर आते वक्त गले में रस्सी पड़ जाने की वजह से मर जाता है। लेकिन किसी को भी उसके मरने की परवाह नहीं है। वे इस बात से तस्सली पाते हैं कि कम से कम उन्हें पीने का पानी तो मिल जाएगा।

इसमें तीसरे किस्से के अंतर्गत महामहिम प्रधानमंत्री एक ऐसे इलाके का दौरा करती हैं जहां पर सूखा पड़ा है। वह सूखाग्रस्त प्रदेश में आती हैं और दस मिनट रुककर चली जाती हैं। प्रदेश के नेता इस बात से लाभ उठाना चाहते हैं। नेताओं को अकाल में अगले चुनाव में अपनी विजय दिख रही है। कहना न होगा कि लेखक ने वर्तमान राजनीति की विडंबना को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। आज के नेताओं को जनसाधारण की बिल्कुल परवाह नहीं है। अकाल जैसी नाजुक स्थिति में भी वे अपना क्षुद्र स्वार्थ निकालने की कोशिश करते हैं। देश के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति भी इस अकाल ग्रस्त स्थिति में आंसू बहाने का नाटक करती हैं। गौरतलब है कि समकालीन राजनीति में आयी नैतिक गिरावट और नेतृवर्ग की असंवेदनशीलता इस रचना में दृष्टिगोचर होती है।

26 जून,1975 को देश में आपातकाल लागू हुआ था। स्वतंत्रता के बाद भारत के इतिहास में यह अत्यंत विवादास्पद एवं लोकतंत्र को कुचलने वाला फैसला था। उस वक्त इंदिरा गांधी देश की प्रधानमंत्री थीं। ऐसा कहा जाता है कि उन्हीं के प्रभाव के फलस्वरूप विपक्ष के अनेक बड़े नेताओं को बिना किसी जुर्म के जेलों में बंद कर दिया गया था। विपक्षी नेताओं के अलावा रचनाकार, लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी जो सरकार के खिलाफ अपनी आवाज उठा रहे थे उन्हें भी जबरन जेल में ठूंस दिया जाता था। इमर्जेंसी के दौरान अनेक बेगुनाहों को सजा दी गयी। प्रेस पर प्रतिबंध लगाए गए थे। यहां तक कि अखबारों में क्या छापा जाएगा यह पहले अधिकारियों को दिखाना पड़ता था, तब जाकर समाचार पत्र छपते थे। सेंसरशिप के अलावा अखबारों और समाचार एजेंसियों को नियंत्रित करने के लिए सरकार ने कानून बनाया था। अगर सरकार को लगता कि समाचार पत्र में कोई आपत्तिजनक सामग्री छप रही है तो उसके प्रकाशन पर रोक लगाने की व्यवस्था की गई थी। आपातकाल के दौरान पुलिस अत्याचारों की भी बहुत-सी दर्दनाक घटनाएं हुई हैं। समूचे देश में इमरजेंसी का विरोध करने वाले लोगों पर पुलिसकर्मियों ने दमन की नीति अपनाई थी। आपात काल में परिवार नियोजन का कार्यक्रम सख्ती से लागू किया गया था। लोगों की जबरदस्ती नसबंदी भी की जा रही थी।

लेखक की 'मीसाजातकम्' यह कहानी राजनीतिक विडंबनापूर्ण स्थिति को दर्शाती है। इसमें मीसा कानून की ज्यादतियों एवं आपातकालीन पृष्ठभूमि को दिखाया गया है। यह कृति इमरजेंसी के दौरान घटित राजनीतिक अराजकता को जातक शैली में व्यक्त करती है। इसमें दहशतपूर्ण माहौल का प्रतीकात्मक रूप में चित्रण किया गया है। इस दौरान देश की जनता को सरकारी दमन का शिकार होना पड़ा। मुख्य रूप से विपक्ष के नेता सरकार के निशाने पर थे। साहित्यकार, बुद्धिजीवी, पत्रकारों की जबान जबरन चुप कराई गई थी। जनता को यह आजादी नहीं थी कि वह तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के खिलाफ कुछ बोल सके।

जिस किसी ने भी हिम्मत दिखाकर सरकारी दमन के विरूद्ध अपना मुंह खोलने की जुर्रत की उसे जबरन चुप कराया गया। भारतीय संविधान ने हमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार दिया गया है। लेकिन इमरजेंसी के चलते यह अधिकार छीन लिया गया था। इस अधिकार का बहुत बड़े पैमाने पर हनन हुआ था। इन सारी परिस्थितियों का जायजा 'मीसाजातकम्' में लिया गया है। इसमें वर्णित पोट्ठपाद सादा भोजन और उच्च विचार में विश्वास रखते हैं। एक दिन सरकार के बाशिंदे उन्हें गिरफ्तार कर ले जाते हैं। पोट्ठपाद पर आरोप है कि उसने सड़कों पर लीद करके गंदगी फैलाई है। लेकिन वास्तविकता यह है कि यह अस्वच्छता मातंग ने फैलाई है। पोट्ठपाद को कारागार में इसलिए डाला जाता है कि वह गंदगी फैलाता है। उसके खिलाफ न्यायालय में मुकदमा चलाया जाता है। सोमदत्त न्यायालय में उनके लिए मुकदमा लड़ते हैं, वे न्यायसभा को बताते हैं कि पोट्ठपाद ने अस्वच्छता नहीं फैलाई बल्कि यह फैलाने वाला तो मातंग है। यह जानते हुए कि मातंग ने यह कुकर्म किया है न्यायाधिकारी उसे छोड़ देते हैं। अशुद्धि फैलाने के आरोप से वे बरी हो जाते हैं लेकिन फिर से उन पर नया आरोप लगाया जाता है। इस प्रकार उन पर एक और न्यायालयीन मुकदमा चलता है, जिसके अंतर्गत कहा जाता है कि "पोट्ठपाद सप्ताह में एक बार नियमित रूप से महाराज शिवदत्त का सिंहासन उलटने का उपदेश दिया करते थे। वे कहते थे कि शिवदत्त अत्याचारी है, भ्रष्ट है, पतित है, बेईमान है, आदि-आदि। उसके सिंहासन को उलट दो। और विद्वान न्यायाधीश जानते हैं कि विधिग्रंथों में ऐसे अपराध के लिए एक ही दंड विधान है - प्राणदंड। इसलिए हे महाभाग, पोट्ठपाद को ऐसा दंड दें कि राज्य में कोई भी महाराज के विरुद्ध सिर न उठा सके।"[27] यह अभियोग सुनते ही सारी सभा स्तब्ध हो जाती है। पोट्ठपाद की पत्नी माणविका न्यायसभा से निकल जाती है और उन्हें राजबंदी बनाया जाता है। सोमदत्त प्रजा को आश्वासन देते हुए कहते हैं कि "हे प्रजाजन, अब मैं अंतिम प्रयत्न के रूप में

महाराज से याचना करूंगा कि पोट्ठपाद को प्राणदंड न देकर यदि देना ही चाहते हो तो – आजीवन कारावास दिया जाए।"[28] जाहिर है कि पोट्ठपाद के साथ बेहद नाइंसाफी हुई है। एक बेकसूर व्यक्ति को बिना किसी अपराध के दंडित किया जाता है। समूचे राज्य में अराजकता और अन्याय का राज है। इसी प्रकार की स्थितियां भारत में आपातकाल लागू होने के बाद हुई थीं। लेखनकर्मी, कलाकर्मी, बुद्धिजीवी वर्ग जो शासकों के खिलाफ अपनी आवाज उठाते थे उन्हें जबरन जेल में ठूंस दिया जाता था। इस दौर में अनेक बेगुनाहों को सजा दी गई थी। जो लोग सत्ताधारियों के चापलूस बन गए थे ऐसे गुनहगारों को बक्शा जा रहा था। इस प्रकार यह कथा कृति इमर्जेंसी की भयावहता और दहशत से भरे माहौल को प्रकट करते हुए भारतीय जनता की उस निरीह अवस्था का चित्रण करती है। इस सबके पीछे काला कानून कहे जाने वाले मीसा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

'काशी का अस्सी' में उपन्यासकार भारतीय राजनीति में आए स्खलन तथा नेतृत्व के स्वार्थी चरित्र को दर्शाता है। अपने मुल्क में लोकतंत्र के मायने किस प्रकार बदल रहे थे इस संदर्भ में अस्सी के लोगों की टिप्पणियां बेहद अहम हैं। आज की सियासत वोटों के इर्द-गिर्द घूमने लगी है और जनता के जीवन से जुड़े जरूरी मुद्दे गौण हो रहे हैं। इस संदर्भ में इन लोगों की बातें द्रष्टव्य हैं – "सेकुलर का मतलब क्या है भई ? मुस्लिम वोट बैंक के सिवा भी उसका कोई अर्थ है क्या?' राधेश्याम ने पूछा।

राजकिशोर ने बीच में ही टोक दिया – 'यह दादा से नहीं, माई (मुसलमान+ यादव-लालू) और बाबू (ज्योति बसु+इन्द्रजीत गुप्त-कम्युनिस्ट) से पूछिए। यहाँ बातें कीजिए सिर्फ मुस्कान पर जिसने मोनालिसा की मुस्कान को भी फेल कर दिया है। जिस मुस्कान पर दादा फिदा हैं उसी मुस्कान ने इन्हें मारा है-एक बार नहीं, दो-दो बार। जमानत तक जब्त कराई है। इसलिए मुस्कान पर इनकी समझ का कोई भरोसा नहीं।"[29]

“बहुत कुछ बदल गया है गुरुजी ! नेहरू, लोहिया, जयप्रकाश नारायण के लिए भीड़ नहीं जुटानी पड़ती थी। भीड़ अपने आप आती थी। अब नेता भीड़ अपने साथ लेकर आता है-कारों में, जीपों में, बसों में, ट्रैक्टर में। किसी की सभा को देख लीजिए तो दरी-चौकी बिछानेवालों और तम्बू-कनातवालों को निकाल दीजिए तो भीड़ वही रहती है जो कारों-जीपों में नेताजी के साथ चलती है। हर जगह वही चेहरे।

इसके बाद थोड़ा रुककर बोले पांडेजी – ‘हमारे बिहार की हालत दूसरी है। वहाँ वही नेता हो सकता है जो जमीनी ! जमीनी का मतलब जो खुद जुताई, बुवाई, कटाई दवाई करे। जो खुद डाका डाले, चोरी करे, दस-पाँच कतल करे-यह नहीं कि अपने तो पाक-साफ बना रहे और दूसरों से यह सब करवाता रहे। इस माने में बिहार पूरे देश की राजनीति का मॉडल है ! नीति-निर्देशक ! यह राजनीति अन्ततः इसी रास्ते जानी है।’

‘आप उसी राजद की मीटिंग में दिल्ली गए थे और ऐसा बोल रहे हैं।”[30]

इन बातों से स्पष्ट है कि एक समय था जब राजनीतिक पटल पर नेहरू, लोहिया, लाल बहादुर शास्त्री, जयप्रकाश नारायण जैसे निस्वार्थी और ईमानदार नेता मौजूद थे। लेकिन बदलतीं परिस्थितियों के कारण स्वार्थी-पाखंडी किस्म के नेताओं के हाथों में देश का नेतृत्व जाने लगा था। इस चिन्ता को भी उपन्यास में व्यक्त किया गया है। इन टिप्पणियों से साफ जाहिर होता है कि आने वाले समय में देश की बागडोर ऐसे ही स्वार्थी-पाखंडी लोगों के हाथों में जाने वाली है।

देश के पूर्व प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी पर भी यहां के बैठकबाज बड़ी रोचक टिप्पणियां करते हैं। यथा – “और साहब, ब्राह्मण सभा दो फाड़ हो गई। जो चौबीस कैरेट के बाभन थे वे

रत्नाकर के साथ हो गए और जो चौदह कैरेट के बाभन थे, वे वाजपेयी के साथ । क्यों ? क्योंकि वाजपेयी लहसुन-प्याज खाता है, अंडा खाता है, दारू पीता है। वह कब का बाभन ?

बस ! बस, अब बस करो और मेरी सुनो..' महाकवि कौशिक को चेतना आई और वे दोनों हाथ उठाकर चिल्लाए – 'ब्राह्मण समाज पर भारी ग्रह आया है। कांसीरमवा तो पीछे पड़ा ही है। ललुआ और मुलैमा भी घास नहीं डाल रहे हैं। बड़ी बुरी ग्रह दशा चल रही है बन्धुओ। इसे मैं देख रहा हूँ लेकिन जिन्हें देखना चाहिए, वही नहीं देख रहे हैं। तुमने विधवा ब्राह्मणी की बात की, मैं अस्सी साल के कुँवारे ब्राह्मण की बात कर रहा हूँ, पगलाया हुआ है। बौड़ियाया हुआ पूरे देश में चिल्लाता हुआ नाच रहा है -"प्रधानमन्त्री बनाओ, प्रधानमन्त्री बनाओ।' ये भजपैया भोंसड़ी के उसे । नचा-नचा कर मार डालेंगे, चूतिया बना रहे हैं उसे। पहले राष्ट्रधर्म के नाम पर शादी नहीं करने दी, अब प्रधानमन्त्री बना रहे हैं। चाहते हैं कि इसी तरह ड्रांग-ड्रांग चिल्लाता हुआ मर जाए तो छुट्टी मिले। कौन समझाए उसे कि दुनिया की राजनीति ही मत देखो, इन सबों की तिकड़म भी समझो। ये तुम्हें बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं। हटाना चाहते हैं रास्ते से।"[31] गौरतलब है कि देशीय राजनीतिक स्तर पर नेतृत्वकर्ता के चरित्र में सन् 70 के बाद बड़ी भारी मात्रा में गिरावट आने लगी थी। राजनीतिक पटल पर हो रहे उथल-पुथल का जायजा अस्सी पर बैठे लोग लेते हैं। यथा – "रामवचनजी बोले- 'सन् 70 के बाद से कुछ लोग हैं जो बराबर सत्ता में हैं ! सरकार चाहे जिसकी बने, वे हारे या जीतें, सत्ता-सुख भोग रहे हैं ! जैसे, मैं एक मंत्रीजी को जानता हूँ। बड़ा रुतबा है उनका इन दिनों। उन्होंने अलग-अलग काम के लिए लोगों से कुल मिलाकर लगभग एक करोड़ रुपए ले रखे है। ! अब मान लीजिए, कल सरकार गिर गई ! सरकार में रहकर वे जान चुके हैं कि काम कैसे कराया जाता है ! वे मन्त्री रहें, न रहें लेकिन आधा करोड़ भी खर्च कर देंगे तो काम हो जाएगा ! अगले चुनाव तक तो

काम चलता रहा न! यह दलबदलुओं को छोड़ के बकिया लोगों का हाल है। तो, गुरुजी, सिर्फ चूतिए कैडर्स हैं जो इस या उस पार्टी में हैं और उम्मीद बाँधे हैं।"[32]

3.5.2 क्रांतिकारी चेतना

भारत में नक्सलवादी आंदोलन की शुरुआत 1967 में हुई थी। पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी गांव में जमीदारों के शोषण के खिलाफ वहां के किसानों ने एक सशस्त्र आंदोलन किया था। नक्सलवाद के प्रमुख नेता चारू मजूमदार और कान्यू सान्याल इस आंदोलन के सशक्त नेता रहे हैं। नक्सलबाड़ी जैसे छोटे से गांव से शुरू हुआ यह आंदोलन धीरे-धीरे समूचे भारत में फैल गया। आज इसकी चपेट में देश के अनेक प्रांत आ चुके हैं। चारू मजूमदार जैसे वामपंथी नेता चीन के माओत्से तुंग के विचारधारा से काफी प्रभावित थे। वे भारतीय किसानों और मजदूरों की दुर्दशा के लिए सरकारी नीतियों को जिम्मेदार मानते थे। उनका मानना था कि सरकार की गलत नीतियों के कारण ही उच्च वर्ग का वर्चस्व स्थापित हो गया और वे देश के गरीब कृषकों और श्रमिक वर्ग का दमन करने लगे। इस दमनकारी नीति को समाप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता पर इन नेताओं ने जोर दिया। सन् 1967 में हुए नक्सलबाड़ी आंदोलन के बाद देश के अनेक भूभागों में जमीदारों के खिलाफ किसान उग्र आन्दोलन पर उतर आए और इस तरह नक्सलवाद की आग अनेक क्षेत्रों में फैल गई। कहा जाता है कि विवेच्य लेखक भी एक जमाने में नक्सलवादी विचारधारा से काफी प्रभावित थे। उनकी हमदर्दी शोषण की चक्की में पीस रहे इन गरीब लोगों के प्रति थी।

आपकी 'सुधीर घोषाल' नक्सल आंदोलन के प्रभाव में लिखी गई कहानी है। इस रचना के माध्यम से उन्होंने मजदूरों के संगठन की बात की है। इसमें चित्रित कथावाचक विक्रम नामक एक व्यक्ति को जानता था। वह लेखक का मित्र था, इस नाते लेखक उसके घर आता है।

कथावाचक की जब उससे मुलाकात हुई थी, तब चेग्वेरा, देब्रे और होची मिन्ह जैसे क्रांतिकारी लेखकों की किताबें उसके पास थीं। वह पढ़ने के साथ-साथ इंडियन फॉरेन सर्विसेज की तैयारी भी कर रहा था। उसका मकसद कोयला मजदूरों की जिंदगी के बीच रहना और उनका एक क्रांतिकारी संगठन बनाना था। बंगाल के अनेक क्रांतिकारियों से उसका संपर्क था। इसीलिए लेखक की दिलचस्पी विक्रम में बढ़ गई थी। यही वजह थी कि लेखक उसका पीछा करते हुए उसके घर तक पहुंचा था। लेकिन जब वह उसके घर पहुंचता है तब उसे पता चलता है कि विक्रम दरभंगा गया हुआ है। उसका घर देखकर लेखक अचंभित रह जाता है क्योंकि वह घर उसे किसी रहस्यमयी तिलस्म की तरह लगता है। वहां आने के बाद उसकी दोस्ती विक्रम के छोटे भाई सामंत से होती है। सामंत केवल बारह साल का लड़का है। लेकिन उसके बात करने के ढंग के कारण लेखक उसे बारह साल का बूढ़ा कहता है। उस घर में हमेशा पापा की बात होती है लेकिन वे कहीं भी दिखाई नहीं देते। समूचे घर में पापा के नाम का आतंक छाया हुआ है। सामंत से उसे पता चलता है कि विक्रम वहीं पर मौजूद है। रांची में किसी लड़की के साथ वह प्रेम करता था, इसके चलते वह लड़की गर्भवती हो गई। इसके बाद विक्रम वहां से भाग आया और यहां छिपा हुआ है। इस बीच लेखक मजदूरों की बस्ती में जाने लगता है। कोयलों के खदानों में नारकीय जिंदगी जी रहे मजदूरों के बारे में उसे काफी जानकारी प्राप्त होती है। लेखक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित है, उसकी सहानुभूति खदानों में काम कर रहे गरीब मजदूरों के प्रति है। इसी घर में सुधीर घोषाल रसोइए के रूप में काम कर रहा है। विक्रम के पापा 'वेस्ट इंडिया ऑल कंपनी एंड लिमिटेड' के प्रशासक हैं। सुधीर उनका काफी विश्वास जीत चुका है। सुधीर घोषाल मात्र रसोइया नहीं है बल्कि वह एक क्रांतिकारी है। उसका मूल मकसद शोषण करने वाले प्रशासक से बदला लेना है। उसे पता चलता है कि लेखक मार्क्सवादी विचारधारा वाला व्यक्ति है तब वह उन्हें अपने मन की बात बता देता है –

"जानता हाय तुम कि ई शाला क्या चीज हाय ? इहाँ से पहले ई सिंगरेनी में - कहीं दक्खिन में। सो, ई दस लेबरों को जिन्दा आग में भून दिया। और भी बहोत-बहोत अत्याचार किया। दो बरस पहले हम अखबार में सुना था। हमारा साथी लोग बोला था। हम उन लोगों को जानता भी नेई। सिंगरेनी गिया भी नेई । वह लोग भी हमारे को नेई जानता ! बाकी हम भाई-बन्द हाय, लेबर हाय ! जब ई साहब बनकर इस जगह में आया तो हमको पता चल गिया। हम जिन्दा नेई छोड़ेगा इसको । हम जाने नई देगा इसको। और तुम...हम तोमरा किताब देखा। अन्दर में का फोटू देखा, तब तुमको बोला। तुम किसी को नेई बोलेगा।... हम चिरकुंडा का बासी हाय। रानीगंज की खदान में लेबर किया। वहीं हमको खबर लगा। हम कोलिकाता में जाकर एक महीने काम किया-होटल में। खाना पकाना सीखा। ई सब इसी हरामजादा कुत्ता का वास्ते। अब हम जान गया। किसी रोज ताड़ाताड़ी इहाँ से चला जाएगा। हम फांसी पड़ जाएगा बाकी छोड़ेगा नेई...नेई...नेई.."[33]

उसकी बातों से साफ जाहिर है कि वह अपने मजदूर भाइयों पर हुए अन्याय का बदला लेने के लिए आया है। कुछ दिनों बाद लेखक को उस घर से निकाल दिया जाता है क्योंकि खदान में काम करने वाले एक मजूर के मरने के बाद वहां के श्रमिक क्रांति करने की ठान लेते हैं। लेखक वहां से चला जाता है लेकिन एक दिन जब वह अखबार पढ़ रहा था तब एक खबर पर उसका ध्यान जाता है। उसमें लिखा गया था कि ऐसा सुना जाता है कि प्रशासक कंपनी के काम के सिलसिले में कोलकाता गए थे और वहां से लौटकर नहीं आए। पुलिस अधिकारियों का कहना है कि जिन दिनों का यह हादसा है तब सभी नौकर चाकर घर पर ही थे और खदानें शांति से चल रही थीं। कथा के अंत में कथावाचक किताब से एक ऐतिहासिक घटना को पढ़ता है जिसमें लिखा था कि सोलहवीं सदी में इटली में एक सेनापति था जिसने अनेक मजदूरों की हत्या करवाई थी। एक बार वह इंग्लैंड में घूम रहा था कि अचानक से कुछ लोग

आए और उसे सड़क पर घसीटते हुए ले गए और लातों और घूसों से उसे पीटने लगे। उस पर थूकने लगे। पता करने पर मालूम हुआ कि वे लोग इंग्लैंड के मजदूर थे। मतलब कि इटली में मजदूरों के साथ जो अन्याय हुआ था उसका बदला इंग्लैंड के मजदूरों ने ले लिया और फिर यह तो एक पूरा देश है। इस प्रकार कोलकाता के मजदूर उस प्रशासक से अपने मजदूर भाइयों पर हुए अत्याचार का बदला ले लेते हैं।

'सुधीर घोषाल' क्रांतिकारी चेतना की कृति है। आजाद देश में निम्न वर्गीय मजदूरों में अपने हकों को लेकर नई चेतना जागृत हुई थी। वे अब शोषण, अत्याचार और अन्याय का मुंहतोड़ जवाब देने के लिए तैयार थे। सन् 1967 में नक्सलबाड़ी आंदोलन की शुरुआत हुई थी, उसके बाद नक्सलवाद समूचे देश में फैलता गया। जमीदारों, मिल मालिकों के अत्याचारों का विरोध संगठित रूप में होने लगा। श्रमजीवी के भीतर क्रांतिकारी चेतना पैदा हुई थी। तत्कालीन स्थितियां ऐसी बन गई थीं कि अब पहले जैसे लोग नहीं रहे जो अन्याय-अत्याचार और शोषण को चुपचाप सहते रहे। अब वे ऐसे अवशोषण का मुंहतोड़ जवाब देना जानते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस देश के शोषित मजदूर संगठित हो रहे हैं और अपनी आवाज बुलंद कर रहे हैं। वे जानते हैं कि इस अन्याय से मुक्ति केवल सशस्त्र क्रांति से ही मिल सकती है। कहना न होगा कि यह रचना सशस्त्र क्रांति की पैरवी करती है तथा उन शासकों को जो निम्न वर्ग का निरंतर दोहन करते आए हैं उनको चेतावनी भी देती है कि भविष्य में जमींदारों के अत्याचार नहीं सहे जाएंगे। देश के बहुसंख्य मजदूर नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें एक बेहतर जिंदगी नसीब होनी चाहिए। श्रमिक वर्ग हमारा उत्पादक वर्ग है, दुर्भाग्य से वही तंगहाली का जीवन जी रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि इस वर्ग के जीवन में भी सुधार हो तभी सही अर्थों में भारतीय समाज का विकास संभव है वर्ना यह समूचा विकास एक तरफा विकास कहा जाएगा। जिसमें कुछ चंद लोग विकास की गंगा में डुबकियां लगाते

रहेंगे और बहुत बड़ी मात्रा में साधारण जनता इससे महरूम रह जाएगी। अगर इसी तरह चलता रहा तो हम सही अर्थों में सर्वांगीण विकास नहीं कह सकते। 'सुधीर घोषाल' कहानी इन्हीं ज्वलंत मुद्दों पर विचार करने के लिए प्रेरित करती है।

इस सरजमीं पर ऐसे अनेक लोग हुए हैं जिन्होंने अपना सर्वस्व अर्पण कर देश हित में काम किया है। इसके साथ ही ऐसे बाशिंदे भी हैं जो क्रांतिकारी बनने का ढोंग रचते हैं। 'लाल किले के बाज' क्रांति के प्रति तथाकथित क्रांतिकरियों के रूमानी भाव को व्यक्त करती है। इस रचना में लेखक ने ऐसे ही क्रांतिकारियों की पोल खोल दी है जो वैचारिक स्तर पर तो बड़े इन्कलाबी बने फिरते हैं लेकिन सच्ची क्रांति से इनका कोई संबंध नहीं है। कहानी में एक पात्र है जादू जो मार्क्सवाद के बड़े-बड़े सिद्धांत बघारता है। मार्क्सवादी सिद्धांतों को लेकर वह बड़ी-बड़ी बातें करता है। अपने मित्रों-परिचितों को इसके बारे में बताता है लेकिन वास्तविकता यह है कि जिन लोगों के लिए वह यह बातें करता है उन लोगों से न तो उसका कोई सीधा संबंध है और न ही संपर्क। वर्ग संघर्ष के जिस सिद्धांत पर साम्यवाद का ढांचा खड़ा है वहीं पर उसका अंतर्विरोध साफ दिखाई पड़ता है। शुरू-शुरू में वह विवाह भी नहीं करना चाहता था। लेकिन घरवालों के दबाव के कारण वह शादी कर लेता है। वह विवाह कार्यक्रम अत्यंत सीधे-सादे ढंग से करता है। लेकिन जब ससुराल से दो ट्रकों पर लादकर ढेर सारा सामान आता है तब अंदर ही अंदर खुश हो जाता है। ब्याह से पहले वह कावेरी नाम की लड़की से प्रेम करता था। उस लड़की के ख़्याल उसके दिमाग में आते हैं। कावेरी ने उसे धमकी दी थी कि अगर वह उससे शादी नहीं करेगा तो वह आत्महत्या कर लेगी। इसलिए विवाह के बाद वह रोजाना समाचार पत्र भी देखते रहता है कि कहीं उसने सचमुच आत्महत्या न की हो। उसका चेहरा, गोरा रंग, मुस्कुराते होंठ और बड़ी-बड़ी आंखें उसे हमेशा याद आती हैं। वह उसे कहता भी है कि शादी के बाद वह तुरंत उसके पास आएगा और वे दोनों दोस्त की तरह साथ-साथ रहने लगेंगे।

लेकिन जब वह चुपके से अपनी दुल्हन के शरीर को देखता है तो उसे खुशी होती है। आठ दिनों के बाद उसके बहन की शादी है। बहन का ससुराल एक रईस खानदान है। वह बहन के यहां जाता है और वहां के नौकरों से अपने शरीर की मालिश करवाता है। मालिश करने वाले आदमी से वह क्रांति के संदर्भ में बड़ी-बड़ी बातें करता है। वहां रहते हुए उसे पता चलता है कि उसके बहनोई के मामा मंत्री हैं तो उसका दिमाग दूसरी दिशा में काम करने लगता है – "जादू के मन में एक दबी हुई बात उभर आई। उन्हें लगा कि इस रिश्ते से और कुछ हो या नहीं, कुछ घरेलू समस्याएँ हल हो सकती हैं। उनका छोटा भाई दो बार कम्पटीशन में आ चुका है लेकिन दोनों बार इंटरव्यू में छँट गया है। अबकी आखिरी मौका है। खुद उन्हें रिसर्च करते हुए चार साल हो गए हैं लेकिन भविष्य का कोई ठिकाना नहीं। क्रान्ति के लिए भी पैसे की जरूरत पड़ती है और सबसे बड़ी बात यह है कि अगर तुम दरिद्र हो, बेकार हो तो तुम्हारे ही साथी तुम्हें दो कौड़ी का समझेंगे। राजनीनि में ही कोई घास नहीं डालेगा – लोग 'पैरासाइट' होने का तोहमत जो लगाएँगे सो अलग। ...तो, तो यह इस रिश्ते का दूसरा पहलू है जिधर ध्यान नहीं गया था।"[34] जादू नए से बने इन पारिवारिक रिश्तों का फायदा उठाकर अपने घर की सारी समस्याएं दूर करना चाहता है। दरअसल यह कथा कृति जादू जैसे नकली क़िस्म के क्रांतिकारियों के झूठी क्रांतिकारिता की पर्दाफाश कर देती है। जादू जैसे स्वार्थी एवं झूठे किस्म के क्रांतिवीरों में सामंती संस्कार इस कदर बस गए हैं कि इन परिस्थितियों से बाहर निकलना उनके लिए लगभग नामुमकिन है। क्रांति को लेकर किताबी ज्ञान तो जादू जैसे युवाओं ने भरपुर अर्जित किया है लेकिन वास्तविक क्रान्ति से इनका कोई संबंध नहीं है। यह लोग इन्कलाबी विचारों का रोमांस अनुभव करते हैं। इनकी कथनी और करनी का फर्क साफ देखा जा सकता है। जिन लोगों के लिए यह करना है उन लोगों के प्रति भी वह बेहद असंवेदनशील

है। ऐसे लोगों की क्रांतिकारिता दिखावटी है। क्रांतिकारिता के इसी दिखावटीपन का पर्दाफाश प्रस्तुत कहानी में किया गया है।

3.5.3 नेताओं की अवसरवादिता

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान अनेकानेक नेताओं ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर देश को स्वतंत्र कराने में अपना योगदान दिया था। पंडित जवाहरलाल नेहरू देश के पहले प्रधानमंत्री के रूप में हमें प्राप्त हुए थे। लेकिन नेहरू जी के मृत्यु के बाद देश के नेताओं में स्वार्थपरता बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है।

'वे तीन घर' कहानी साठ के दशक के बाद आए सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव की ओर संकेत करती है। यह मदन नामक व्यक्ति की आख्यायिका है जो जाति से ब्राह्मण है लेकिन देश में निम्न जातियों पर हुए अन्याय-अत्याचार, शोषण के प्रति उसके मन में दर्द है। ब्राह्मण होने के बावजूद उसकी विपत नामक शख्स से दोस्ती है जो जाति से चमार था। विपत के कारण ही उन्होंने कभी जनेऊ की मर्यादा नहीं रखी, कच्ची पक्की के चक्कर में नहीं पड़े, बाप की सारी शिक्षा के बावजूद किसी के घर सत्यनारायण की कथा नहीं सुनाई, शादी-ब्याह और पूजा पाठ नहीं कराया, तेरहवीं के दिन ब्राह्मणों के झुंड को साथ लिए कहीं खाने पर नहीं गए और उन्होंने ब्राह्मणों में कुजात कहलाना पसंद किया। सब से अपना नाता तोड़ दिया। उनकी हमदर्दी निम्न जातियों के साथ हमेशा बनी रही। अपने काम के सिलसिले में दूर होने के बाद उन्हें एक सरकारी नौकरी मिल जाती है। नौकरी ऐसी थी जिसमें घूस मांगने की जरूरत नहीं थी। इसमें जमाने से चली आ रही एक निश्चित रकम थी जो हर महीने बिना मांगे ही पहुंचा दी जाती थी और यह रकम इतनी अधिक थी कि इससे बहुत सारे ऐशो आराम के सामान खरीदे जा सकते थे। लेकिन उन्होंने शुरू से ही इसे लेने से इनकार कर दिया था। इसका

नतीजा यह हुआ कि उनके मातहत कर्मचारी पीठ पीछे उन्हें 'पगला हकीम' कहा करते थे। उनके अफसर बिला वजह उन्हें जवाब-तलब करते थे। कई बार उनके सामने निलंबन के खतरे भी पैदा हुए। सिर्फ तनख्वाह पर गुजारा करने के दुष्परिणाम उन्हें घर के अंदर भी भुगतने पड़े। इस कारण पत्नी से भी उनके संबंध खराब हो गए थे। उनके बच्चे अच्छे स्कूलों का मुंह नहीं देख पाए। उनके उसूलों के कारण उनकी लड़की अनब्याही घर पर ही पड़ी थी। वह एम. ए., बी. एड. करने के बावजूद ब्याह के इंतजार में किसी न किसी विषय में फिर दाखिला ले लेती थी और पढ़ती जाती थी। उनकी जिद थी कि बेटी कुंवारी रहे या किसी के साथ भाग जाए लेकिन शादी के नाम पर वे दहेज न देंगे। उनके इस बर्ताव के कारण वे लोगों की नजर में पागल करार दिए गए थे। ऐसे में उनके पुराने जमाने के मित्र विपत जो जाति से चमार हैं उन्हें काफी वर्षों बाद मिलते हैं। वे विपत के साथ उसके घर जाते हैं। एक समय था जब यही शख्स उनके ब्राह्मण होने के कारण लताड़ता था और कहता था कि ऊंची जाति के लोगों ने निम्न जाति के लोगों पर काफी अन्याय किए हैं। वह स्वयं को दलितों, पीड़ितों के लिए लड़ने वाला सच्चा नेता बताकर अन्याय से लड़ने की बात करता था। लेकिन इतने वर्षों बाद विपत उन्हें मिलते हैं तो वे देखते हैं कि उसके ठाट-बाट बदल गए हैं। अब वह एक चेतक स्कूटर पर चलता है और उसने घर भी एक पाॅश इलाके में बनाया है। उनकी घरवाली से संवाद के बाद मदन को पता चलता है कि वह अपने ही जाति के लोगों को कोस रही है। इस प्रकार वे जान जाते हैं कि आज के समय में वह पुराना विपत नहीं रहा जो किसी जमाने में दलितों के उद्धार की बड़ी-बड़ी बातें किया करता था। मदन उसके बदले हुए रूप को समझ जाते हैं और वहां से निकल आते हैं।

आजादी मिलने से पहले डॉ.बाबासाहेब अंबेडकर ने दलितों के उद्धार के लिए बहुत प्रयास किए थे। वे आजीवन दलितोद्धार की दिशा में कार्यरत रहे और इस महामानव ने हरिजन कहे जाने

वाले लोगों के बीच एक नई चेतना जागृत की थी। लेकिन स्वतंत्रता के उपरांत स्थितियां बदलती गईं। दलितों में ऐसे नेता पैदा हुए जो शुरू-शुरू में बड़े जोर-शोर से दलित वर्ग के उद्धार की बातें करते थे लेकिन इस दलित-कार्ड को उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए अपनाना शुरू किया। इन नेताओं ने दलित वोट बैंक का उपयोग करते हुए अपने लिए साधन सुविधाएं जुटाई। जिस पीड़ित वर्ग के लिए एक आरपार की लड़ाई लड़नी आवश्यक थी वह आधी अधूरी ही रह गई। चीजें इस क़दर खराब हो गई कि अब उन्हें दूसरों के सामने यह बताने में भी शर्म आने लगी कि वह एक नीचली जाति से संबंधित हैं। इस कृति में वर्णित विपत इसी स्वार्थी दलित नेतृत्व का उदाहरण है। वह पहले सवर्णों द्वारा दलित वर्ग पर हुए अत्याचारों को लेकर सवर्ण जातियों को कोसता था। लेकिन आज वही विपत उन्हीं की तरह हो गया है। यह देखकर उन्हें काफी दुख होता है। मदन उसके घर से निकलने से पहले उसे बताते हैं कि मुझे लग रहा है कि जहां हम रह कर बर्बाद हो चुके हैं, तुम उधर ही जा रहे हो और अफसोस इस बात का नहीं है कि तुम वहां जाना चाह रहे हो, अफसोस यह है कि वहां जाने में तुम खुशी और संतोष का अनुभव कर रहे हो। इस तरह कहानीकार तथाकथित दलित नेतृत्व के स्वार्थीपन, चालाकी और धूर्तता की पोल खोलता है। वर्तमान युग में कुछ लोग दलित वर्ग का मसीहा बनकर सीधे सादे पददलितों को ठग रहे हैं। इन नेताओं के अवसरवादीता का पर्दाफाश भी यहां हुआ है। जिन सताए हुए लोगों के लिए कार्य करने की गरज थी, उनके अधिकारों-हकों के लिए लड़ने वाला सच्चा नेता मिलना अब कठिन हो गया है। आज के समय में दलित नेतृत्वकर्ता अपने स्वार्थ में लिप्त हैं और खुद का घर चमकाने में लगे हुए हैं। यह वर्तमान समय का दारुण सत्य है जो इस रचना में उद्घाटित हुआ है।

वर्तमान समय की एक सच्चाई यह है कि आज दलितों के पास वैसा सच्चा नेता नहीं है जो उनके उद्धार के लिए ईमानदार कोशिश करे। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने जिस चेतना की

ज्योति उनके भीतर जलाई थी और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की मानसिकता पैदा की थी वह धीरे-धीरे मंद पड़ती जा रही है। लगभग सभी राजनीतिक पार्टियां उन्हें वोट बैंक की तरह इस्तेमाल करती है। नेतावर्ग अपने फायदे के लिए इनका इस्तेमाल करने की कला में माहिर होते जा रहे हैं। भारतीय राजनीति जाति के समीकरण के आसपास टिकी हुई है। देश में दिन-ब-दिन राजनीतिज्ञों और नेतृत्व का स्तर गिरता जा रहा है। यह कृति इन तथ्यों की ओर भी इशारा करती है। साथ ही साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आज के समय में मदन जैसे ईमानदार, प्रामाणिक और संवेदनशील लोग समाज में मौजूद हैं जो तमाम तकलीफों और जिल्लतों को झेलने के बावजूद अपने उसूलों पर कायम हैं। पैसा, सुख सुविधाएं, ऐशो आराम उनके उसूलों के आड़े नहीं आते। समाज में बढ़ती मूल्यहीनता को देखते हुए कह सकते हैं कि देश के विकास के लिए मदन जैसे मूल्यों की राह पर चलने वाले सच्चे कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। आज के युग में भले ही ऐसे व्यक्ति किसी रेगिस्तान में नखलिस्तान की तरह लगते हो लेकिन यही वे लोग हैं जिनकी बदौलत ईमानदारी, सच्चाई, प्रामाणिकता जैसे मूल्य अभी इस देश में कायम हैं।

'मंगलगाथा' में कहानीकार ने स्वाधीनता के बाद उभरे स्वार्थी और पाखंडी नेताओं के ढोंग को उजागर किया है। इसकी शुरुआत कथावाचक के बच्चों को एक किस्सा सुनाने से होती है। वह बच्चों को अपने गांव के कुछ किस्से सुनाता है। गर्मियों के दिनों में वह अपने बेटे मंटू को साथ लेकर गांव गया था, मंटू ने दरवाजे पर बंधी भैंस देखी और वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा 'पापा सूअर, इतना बड़ा सूअर' इस बात से उन्हें बड़ी शर्म-सी महसूस होती है, क्योंकि एक किसान का नाती भैंस को सूअर बोल रहा था। लेकिन इसमें उस लड़के का भी कोई कसूर नहीं था क्योंकि उसने शहर में सूअर तो देखा था लेकिन भैंस को नहीं देखा था। वह बच्चों को अपने बचपन की यादें सुनाता है, गांव का जीवन, गांव में बसने वाले लोग, वहां के खेत-पोखर,

पेड़-पौधे, लोगों के आपसी संबंधों के बारे में बच्चों को बताता है। वर्तमान स्थितियों के संदर्भ में वह कहता है कि लोगों के व्यवसाय पहले जातियों के आधार पर थे लेकिन अब वे बदल चुके हैं। यह सब सुनाते हुए उसे अपने गांव के एक युवक सिमंगल की याद आती है। वह उस समय एक नामी-गिरामी चोर के रूप में जाना जाता था। लोगों के घरों में सेंध मारना उसका पेशा हुआ करता था। यह बात थी 1942 की जब अंग्रेजों को इस देश से हटाने के लिए स्वाधीनता सेनानियों ने बहुत बड़ा आंदोलन किया था। ऐसे ही एक आंदोलन में वह स्वाधीनता सेनानियों के पीछे चलता गया और जब उन्होंने थाने को लूटा तब वह थाने से एक घड़ी चुरा कर ले आया था। इस चोरी के मामले में पुलिस उसे पकड़ कर ले गई थी। आगे चलकर सन् 1947 में देश आजाद हुआ और सिमंगल को जेल से रिहा किया गया। यहीं से उसके जीवन की एक अलग दास्तान शुरु हो जाती है। पहले वह चोरी करता था और लोगों के घरों में सेंध मारता था आज वहीं व्यक्ति अपने आप को स्वाधीनता आंदोलन का सिपाही मानकर बहुत बड़ा नेता बन गया है। वह लोगों को बड़े-बड़े उपदेश देने लगा है। सूत कातकर, चरखा चलाकर वह लोगों को प्रभावित करता है। स्वयं को गांधी जी का बहुत बड़ा भक्त बता कर अपने स्वार्थों की पूर्ति कर रहा है।

यह कहानी आज़ादी के बाद अचानक से उभरे झूठे-पाखंडी किस्म के नेताओं-कार्यकर्ताओं द्वारा आम जनता को कैसे छला गया इस पर व्यंग्य करती है। आजादी मिलने से पहले महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉ. भीमराव आंबेडकर, सुभाष चन्द्र बोस, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, भगतसिंह जैसे महान विभूतियों ने इस देश का नेतृत्व किया था। महात्मा गांधी ने देश के नेतृत्व की बागडोर संभाली थी और उनके मार्गदर्शन में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आज़ादी की लड़ाई लड़ी गई थी। ये सब महान नेता थे जिन्होंने अपने निजी स्वार्थों की परवाह किए बिना देश की मुक्ति के लिए अपना

बहुमूल्य योगदान दिया था। लेकिन आज़ादी मिलने के बाद स्थितियां बदलती गईं। अब ऐसे-ऐसे छुटभैए स्वयं को स्वाधीनता संग्राम के सिपाहसालार कहने लगे जिन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए कुछ नहीं किया था। सच तो यह है कि ऐसे लोग भी सुराजी बन गए जो पहले चोरी करते थे, दूसरों के घरों में सेंधमारी करते थे। इन लोगों ने बड़ी ही चालाकी और धूर्तता के साथ अपने आसपास के प्रदेशों की बागडोर अपने हाथ में ले ली। लोगों की सेवा करने के नाम पर दूसरों की ज़मीन जायदाद हथियाना शुरू किया। इस प्रकार जबरन तरीके से हथियाई गई जमीन पर लोगों के लिए स्कूल, कॉलेज, आश्रम जैसे संस्थान खोले। ऐसे सेवा संस्थान शुरू करने के पीछे इनकी मंशा साफ सुथरी नहीं थी। बल्कि इस प्रकार के उपक्रमों से इन नेताओं ने अपने स्वार्थों की पूर्ति करना आरंभ कर दिया। लोगों की आंखों में धूल झोंक कर ये लोग बहुत बड़े त्यागी और सेवाकर्मी होने का ढोंग रचने लगे। लेकिन इनके खाने के दांत और दिखाने के दांत और थे। सतह के नीचे यह लोग सारे गोरखधंधे करते रहे। 'मंगलगाथा' में वर्णित सिमंगल जैसा शख्स आजादी के बाद शिवमंगल वर्मा जी कहलाए जाने लगा। उसने विभिन्न प्रकार के गलत तरीकों को अपना कर ढेर सारी साधन-संपत्ति इकट्ठा की और इस अकूत संपत्ति का अपने बच्चों को वारिस भी बना दिया। दुनिया को दिखाने के लिए वे कहते रहे कि नई पीढ़ी इनकी बात नहीं मानती। लेकिन सच्चाई तो यही थी कि इन नेताओं ने अपने बच्चों को तमाम सुख सुविधाएं मुहैया कराई जो अन्य भारतीयों के नसीब में नहीं थीं। लोगों के सामने ये लोग बड़ा सेवाभावी जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति की तरह पेश आते थे। लोगों को लगता था कि इनका जीवन कितना सादगीपूर्ण है, लेकिन वास्तविकता यह नहीं थी। देश को लूट कर इन्होंने साधन संपत्ति इकट्ठा की। यही वजह है कि इस राष्ट्र का सही मायने में विकास नहीं हो पाया। शिवमंगल वर्मा जैसे लोग हैं जिन्होंने अपने स्वार्थ तथा बेईमानी के चलते इस देश को कमजोर बनाया है। कहना न होगा कि यह कथा ऐसे ही स्वार्थी

और धूर्त नेताओं की पोल खोल देती है और उनके तमाम पाखंड, झूठ और मक्कारी का पर्दाफाश करती है।

'काशी का अस्सी' राजनीतिक टिप्पणियों से भरा पड़ा है। इसमें आए पात्र अस्सी चौराहे पर पप्पू की दुकान में बैठकर सियासी हलकों के संदर्भ में चर्चा करते रहते हैं। इन पात्रों के वार्तालाप से तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां उजागर हुई हैं। उदाहरण के लिए – "जब वह विपिया भोंसड़ी के हर जगह से दुरदुराया और लतियाया जा रहा था तो यही अस्सी-भदैनी है जिसने उसका तिलक किया और कहा-राजर्षि । राजा नहीं फकीर है, देस की तकदीर है !...और ससुरा दिल्ली गया तो हमारे ही 'उसमें' डंडा कर दिया !...और अब तुम भी पगलाए भए हो का? चलो, पान खिलाकर प्रायश्चित् करो । ए देवराज ! दो ठो पान बढ़ाना तो !

मित्रो, तन्नी गुरू उधर गए तो मेरा ध्यान बच्चन की दुकान के आगे पड़ी बेंच पर गया जिसके आस-पास सड़क का इलाका 'संसद' के नाम से कुख्यात है।

और आपसे यह भी बता दें कि जिसने 1990 के अक्तूबर-नवम्बर महीने में अस्सी नहीं देखा, उसने दुनिया भी देखी तो क्या देखी ?

देश जल रहा था उसके पहले से। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक। सिर्फ दिल बचा था। दिल माने उत्तर प्रदेश ! मंडल-कमंडल के झगड़े ने इसे भी लपेट लिया। दिल्ली की सरकार अब गई कि तब गई-यही लगा हुआ था। पप्पू की दुकान के सामने, कहना वीरेन्द्र श्रीवास्तव का कि 'पी.एम. मंडल आयोग में फँस गया, सी.एम. बाबरी मस्जिद में और डी.एम. दोनों की व्यवस्था में देश भोंसड़ी के जहाँ-का-तहाँ है।"[35]

"यहाँ हफ्ते-भर के भीतर सारा समीकरण बदल जाता है और सिद्धान्त धरा रह जाता है! क्यों नहीं देखते लोग कि 3 अगस्त, 1990 को देवीलाल के निकाले जाने पर जो लोग 'वी.पी. सिंह

जिन्दाबाद' और 'देवीलाल मुर्दाबाद' बोल रहे थे, वही लोग 15 अगस्त, 1990 को मंडल आयोग की घोषणा के बाद 'वी.पी. सिंह मुर्दाबाद' बोलने लगे !

अपने कहे जानेवाले कई लोग एक-एक करके वी.पी. का साथ छोड़ रहे थे : अस्सी पर नेताओं की भीड़ जुटती लेकिन उदास ! सबकी नजर दिल्ली और 'अध्यक्षजी' पर। उन्होंने वी.पी. को हटाने की मुहिम तेज कर दी थी। 'मंडल आयोग' ने पूर्वांचल के इन नेताओं को तोड़ दिया था। इन्हें देखते ही भाजपाई नारा लगाते – 'ठाकुर बुद्धी, यादव बल ! झंडू हो गया जनता दल !' इन नेताओं के पास इसका कोई जवाब नहीं था ! ये भी झंडू हो गए थे क्योंकि ये न ठाकुर थे और न यादव ! इन्होंने सारी जिन्दगी 'विपक्ष' की राजनीति की थी, लेकिन बदले हालात में इन्हें अपने लिए दो-टूक जगह नहीं सूझ रही थी !

इसी बीच 'हर हर महादेव' की जगह 'जय श्रीराम' ने ले ली। पप्पू की दुकान में 'भाँग' और चाय की खपत बढ़ गई। अस्सी के सभी 'आदिवासी' रामभक्त हो गए और । कारसेवा की तैयारी में लग गए। 23 अक्तूबर को आडवानी की गिरफ्तारी ने सनसनी पैदा कर दी ! शंख, घड़ियाल, आतिशबाजी, मशाल, नारे अस्सी की दिनचर्या बन गए ! कारसेवकों के जत्थे निकालनेवाले वही लोग थे जिनके साथ इनका रोज का उठना-बैठना था ! 'मन्दिर-मस्जिद' के मामले में ये नेता सरकार के साथ थे लेकिन 'मंडल आयोग' ने इन्हें तमाशबीन बना दिया था !"[36]

दरअसल सन् 1990 में मंडल आयोग लागू हो जाने के बाद देश में जो सियासी माहौल गरमाया था उसका जायजा हम अस्सी में पप्पू की चाय की दुकान में बैठे लोगों के वार्तालाप से ले सकते हैं। इसके अलावा भारतीय जनता पार्टी के कद्दावर नेता लालकृष्ण आडवाणी ने सोमनाथ से अयोध्या तक एक रथयात्रा निकाली थी। यह वह समय है जब मंदिर-मस्जिद मुद्दा सियासी गलियारों में अपने चरम पर पहुंच गया था। इस कारण समूचे देश में उथल-पुथल मची हुई थी। उस समय वी.पी.सिंह भारत के प्रधानमंत्री पद पर विराजमान थे और

भाजपा इस सरकार को बाहर से अपना समर्थन दे रही थी। लेकिन मंडल आयोग के लागू हो जाने के बाद स्थितियों ने करवटें लेना शुरू किया। तत्कालीन समय में राजनीतिक गलियारों में अस्सी के जनमानस में क्या चल रहा था इसे लोगों की चर्चा से समझ सकते हैं।

यह उपन्यास धर्म के नाम पर होने वाली तिकड़मबाजी को भी बखूबी चित्रित करता है। देश में सन् 90 के बाद धार्मिक उन्माद अपने चरम पर था। कुछ राजनीतिक दल अपने शुरुआती दौर में लोगों की धार्मिक भावनाओं को भड़काने का काम भी कर रहे थे। भगवान राम और राम मंदिर का मुद्दा लेकर कुछ लोग काफी सक्रिय हो गए थे। उस समय हो रही राजनीतिक विषयक हलचलों पर यह उपन्यास प्रकाश डालता है। यथा – "दूसरी बात यह कि हमारे दिल-दिमाग के तन्तु कहीं-न-कहीं जीवित हैं। इनमें हमारे संस्कार हैं, जाति है, धर्म है ! जब डेढ़-दो करोड़ लोग 'जय श्रीराम', 'जै सियाराम' एक साथ गाना शुरू करेंगे तो हमारे न चाहते हुए भी अपने आप हमारे मुँह से निकल पड़ेगा; और फिर कहीं आँसू-गैस, लाठी-चॉर्ज और गोलियाँ चलनी शुरू हुईं तो सारे 'रामभक्त' हमें भारत की 'जनता' लगने लगेंगे ! और रामलला की दया से कहीं दो-चार डंडे हम भी खा गए तो हो गए धर्मनिरपेक्ष !...इसलिए हम यहीं खड़े-खड़े कारसेवा देखेंगे !...

एक मजेदार बात और गौर करने की है। जब पिछले दिनों दाल चौबीस रुपए किलो बिक रही थी तो बीस लाख की आबादीवाले इस शहर में एक भी ऐसा आदमी आपको मिला जो उसके खिलाफ सड़क पर चिल्लाया हो ? मेरी तो, मान लीजिए, पार्टी है; मैं उसके अनुशासन के बाहर नहीं जा सकता, लेकिन ये जो सड़क के उस पार नाच-गा रहे हैं-कहाँ थे उस समय ? ये नहीं बोल सकते थे क्योंकि बनियों के मुनाफे का मामला था।"[37]

"मित्रो, 30 अक्तूबर से लेकर 8 नवम्बर के बीच वह सारा कुछ हुआ जिसका इन्तजार था।

सरजू की जगह अयोध्या में खून की नदी बही! मस्जिद के ऊपर भगवा ध्वज लहराया !

रामलला ने ऐलानिया कहा कि अगर हमारा घर नहीं बना, तो तुम्हीं क्या, कोई भी सरकार नहीं टिकने पाएगी !

जद टूटा। एक सरकार गिरी, दूसरी सरकार बनी ! बनी तो क्या, बनती-सी नजर आई !

और इधर अस्सी पर कर्फ्यू लागू हुआ और फिर हट भी गया !

मैं जब शाम को पहुंचा तो हर तरफ 'जै श्रीराम दुकान में भाँग और चाय के लिए लोगों की धकापेल ! लेकिन बच्चन की बेंच खाली ! एक भी नेता नजर नहीं आया। अकेले रामवचन एक किनारे खड़े होकर खैनी ठोंक रहे थे ! उन्होंने मुझे देखते ही कहा-"सब लोग दिल्ली-लखनऊ गए हैं! कुछ सरकार बनवाने और कुछ अगले चुनाव की तैयारी में ! और कुछ यह देखने कि फायदा किधर है ? आइए, यहीं बैठते हैं !"[38] अस्सी चौराहे पर रह रही सामान्य जनता सियासत के बारे अत्यंत चौकन्नी दिखाई पड़ती है। इस संदर्भ में इन लोगों के अपने मत हैं। अपने इन मतों को वे अपनी चर्चाओं में शामिल करते हैं और खुलेआम इसकी बातें करते हैं। एक तरह से इस कथा-कृति के माध्यम से पता चलता है कि राष्ट्रीय राजनीति को लेकर अस्सी पर उपस्थित जनसमूह में किस प्रकार की बातें होती हैं। इन लोगों के बीच में पक्ष-विपक्ष दोनों मौजूद है। गौर करने की बात यह है कि कैसे वे अपने पक्ष को रखते हैं और उनकी बातों का खंडन करने के लिए विपक्ष के लोग भी मौजूद हैं। कहना न होगा कि सच्चे अर्थों में लोकतंत्र का मूलमंत्र यही है, अपनी समझ के अनुसार ये लोग स्वयं को व्यक्त करते हैं। लोकतंत्र की खूबी यही है कि देश के हर एक नागरिक को यह आज़ादी मिली हुई है कि वह अपने विचारों को निर्भयता के साथ व्यक्त कर सकता है।

3.6 सामंतवादी व्यवस्था

मध्ययुगीन यूरोपिय और भारतीय समाज में सामंतवाद की जड़ें बहुत गहरी थी। समय के साथ धीरे-धीरे इस व्यवस्था का पतन हो गया। लेकिन सामंतवादी सोच के पुराने अवशेष आज भी हमारे इर्द गिर्द दिखाई पड़ते हैं।

3.6.1 सामंतवादी मानसिकता एवं वंशवादी परंपरा

अतीत में सामंतशाही के कारण साधारण जनता को बहुत सारे जुल्म जबरदस्ती को झेलना पड़ा है। इस मानसिकता ने मनुष्य और मनुष्य के बीच के फर्क को और अधिक गहरा बना दिया था। विवेच्य कथाकार ने अपनी रचनाओं में ऐसी मानसिकता को उजागर करने की भरसक कोशिश की है।

'सदी का सबसे बड़ा आदमी' एक विलक्षण कथ्य की रचना है। यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करती है। इसमें चित्रित शौक साहब सामंतशाही का प्रतीक बन कर आए हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में ऐसे चाटुकार हैं जो अपने स्वार्थ के लिए किसी भी हद तक गिर सकते हैं। प्रस्तुत कृति में वर्णित शौक साहब पुराने जमाने के सामंत रह चुके हैं। जिस गली में उनका मकान है उसके तीसरी मंजिल पर बैठकर वे गली में आने-जाने वाले लोगों पर थूकते हैं। उनकी पिक के कारण अगर किसी व्यक्ति के कपड़े खराब होते हैं और वह गुस्से में आकर उन्हें जोर-जोर से गालियां देता है तो ऐसे शख्स को वे आदर-सम्मान के साथ ऊपर ले आते हैं। उसे साबुन से नहलाया जाता है और नए कपड़े पहना कर भेज दिया जाता है। इस बात की खबर समूचे इलाके में फैल गई है। यह जानने के बाद कि गुस्सा करने और गालियां देने पर वे नए कपड़े देते हैं और उसकी आवभगत करते हैं, अनेक लोग जानबूझकर उस गली से गुजरते हैं। लेकिन शौक साहब सभी पर थूकते नहीं हैं। वे ऐसे लोगों

पर थूकते हैं जो सचमुच की गालियां देते हैं या गुस्सा करते हैं। इसको लेकर उनकी नजर बड़ी पैनी है। अगर कोई आदमी थूकने पर झूठमुठ का क्रोध जताए और गालियां दे तब भी वे समझ जाते हैं कि यह सब नकली है। यह सिलसिला इसी तरह चल रहा था कि एक दिन शौक साहब एक व्यक्ति पर थूकते हैं। लेकिन एक नौजवान उस आदमी को उनकी थूक से बचा लेता है। वह दूसरी बार भी ऐसा ही करता है। इस बात से वे चिढ़ जाते हैं और उस नौजवान से शर्त लगाते हैं कि वे उस पर थूकेंगे और सिंकिया नौजवान उसे बचा ले। शौक साहब थूकते हैं और सिंकिया नौजवान उनकी थूक को बचाता है। यह क्रम बार-बार चलता है लेकिन सिंकिया उनकी थूक को अपने पर नहीं लेता। यह क्रम दो-तीन दिनों तक चलता है। लोगों के लिए यह बात लगभग किसी युद्ध के समान लगती है। अंत में शौक साहब और सिंकिया नौजवान दोनों थक जाते हैं। शौक के पास इतनी ताकत ही नहीं बची कि वे उस पर थूक पाए। ऐसे में अचानक नौजवान गायब हो जाता है उसके गायब हो जाने के बाद वे दुखी हो जाते हैं। वे नौजवान को ढूंढने की पूरी कोशिश करते हैं लेकिन वह नहीं मिलता। नौजवान का बाप उनके सामने आ जाता है और वे बाप से कहते हैं कि उनकी यह राजगद्दी वे उनके बेटे को देना चाहते हैं। इस संदर्भ में शौक और सिंकिया के बाप के बीच का संवाद गौर करने लायक है। यथा – “शौक साहब भीड़ की ओर मुखातिब हुए, ‘लोगो !’ उन्होंने भीड़ में ऐलान किया, ‘वह नौजवान जहाँ कहीं भी हो, आकाश में हो तो आकाश से, पाताल में हो तो पाताल से, धरती पर हो तो धरती से पकड़कर उसे हाजिर करो ! जो हाजिर करेगा, वह बख्शीश का हकदार होगा। जाओ!

भीड़ धीरे-धीरे छंटने लगी। लोग दौड़ते-धूपते नजर आने लगे। शौक साहब ने अपने ऐलान में पाँच दिन की मोहलत दी थी और कहा था कि इस दौरान वे यह विचार करेंगे कि थूकने का

कार्यक्रम आगे भी चलाया जाए, या बन्द कर दिया जाए। उनकी इस धौंस ने हर आदमी को चुस्त और बेचैन कर दिया था।

देखते-देखते गली सूनी हो गई।

'बुड्ढे !' जब सारे लोग चले गए और कोई नहीं रह गया, तो शौक साहब बोले, 'तैने अपने बेटे की कीमत नहीं जानी बुड्ढे ! बड़ी कीमती चीज है वो। बोल, कितना लगाएगा उसका मोल।'

'सरकार !' बूढ़े ने असमंजस में सड़क पर अपना माथा रख दिया।

'मैं थक गया हूँ। और अधिक थूकना मेरे बस का नहीं। अब यह काम तेरा बेटा करे, तो कैसा रहे? इसी गद्दी पर बैठकर ! इसी खिड़की के पास।' बूढ़ा उठ खड़ा हुआ। उसका मुँह खुला था और देर तक खुला रहा। वह अविश्वास के साथ खिड़की की ओर देख रहा था। उसने सूर्य को साक्षी करके दोनों हाथ जोड़े और आँखें बन्द कर ली, 'पैर की धूल को चन्दन बनानेवाले परवरदिगार ! ऐसा न करें, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा, मारे खुशी के मर जाऊँगा...'

जब उसने आँखें खोलीं, तो उसकी आँखों में आँसू थे। उसने बेचैनी से बेहाल होकर कहा, 'सरकार, आपने जो अभी-अभी कहा, उसे भूल तो न जाएँगे !'

'बुड्ढे ! शौक जो कहता है, उसे कभी नहीं भूलता।'

'अपनी बात से मुकर तो नहीं जाएँगे ?'

'बुड्ढे ! शौक की बात उसके मुँह से निकली हुई पीक की तरह होती है, जो वापस नहीं लौटती।'

बुड्ढे की खुशी का ठिकाना न था, लेकिन उसकी घबराहट बढ़ती जा रही थी। बेटा आने में देर कर रहा था। अब तक उसे लेकर न हाथी लौटे थे, न घोड़े, न बग्घी। उसे खुद पता नहीं था, वरना दौड़ा हुआ गया होता और पकड़ लाया होता।

'सरकार!' उसने अनुरोध किया, 'अगर इजाजत दें तो मैं खुद देखू।'

'नहीं, तू यहाँ से नहीं हिल सकता,'शौक साहब ने दृढ़ता से कहा।

बूढ़ा सोचने लगा कि उसका बेटा जो बड़ा ही बेकहा और जिद्दी था, कहाँ-कहाँ जा सकता है ! ठीक इसी समय जाने कहाँ से उसके मन में एक सन्देह पैदा हुआ।

'लेकिन हुजूर, वह नीच जात... दूसरों पर थूकना उसे कैसे सोभेगा ?' उसने शौक साहब से अर्ज किया।

'क्यों ?'

'उसी के भाई-बन्द यह कैसे बर्दाश्त करेंगे ?'

'जैसे मुझे करते हैं'

बूढ़ा हँसा, 'आपकी बात और है, सरकार !'

'हाँ, यह बात तो है,' शौक साहब गम्भीर हो गए और सोचने लगे। उन्होंने कई बार चिटकियों से अपनी भौंहें मसली, पान की गिलौरियाँ जमाईं, पीकदान उठाया और अन्त में राहत की साँस ली, 'मैंने फैसला कर लिया बुड्ढे ! अगर वह थूके और सबसे पहले तुझी से शुरू करे, तो कैसा रहे ?'

बूढ़ा अचकचाया, 'क्या मतलब सरकार ?'

'मतलब यह कि किसी और पर थूकने से पहले अपने बाप पर थूके, तो दूसरों को क्या एतराज?'

बूढ़े का जी धक से रह गया। वह घबरा उठा, 'अनर्थ हो जाएगा सरकार। वह जान दे देगा, लेकिन यह नहीं करेगा।'

'वह क्या करेगा, क्या नहीं करेगा, यह मुझ पर छोड़ !' शौक साहब ने उसे डाँटकर तुरन्त चुप कर दिया।"[39] शौक की बात पर बूढ़े पिता का यह कहना कि उसका बेटा मर जाएगा लेकिन अपने बाप पर कभी नहीं थूकेगा स्पष्ट करता है कि आज के इस स्वार्थपरता के कठिन दौर

में भी ऐसे लोग हैं जो अपने निजी स्वार्थों को तिलांजलि देने के लिए तैयार हैं। कहानी के अंत में यह नहीं बताया गया कि वह नौजवान मिला कि नहीं लेकिन आज भी उस इलाके में बिरहा दंगल होता है और सवाल-जवाब पूछे जाते हैं जिसमें शौक साहब और सिंकिया नौजवान का उल्लेख होता है।

'सदी का सबसे बड़ा आदमी' प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई साहित्यिक कृति है। मध्यकालीन सामंती युग में शौक जैसे लोग अपनी मनमानी करते थे तथा लोगों पर अन्याय-अत्याचार करते थे। उनके खिलाफ कोई आवाज भी नहीं उठता था। अगर कोई विरोध करता तो बड़ी बेरहमी से उस आवाज को कुचला जाता था। लेकिन आजादी मिलने के उपरान्त स्थितियां बदलने लगीं। जमींदारी समाप्त हो गई लेकिन सामंतशाही के तत्त्व आज भी समाज में मौजूद हैं। आज भी आम जनता पर ज़ुल्म, अत्याचार हो रहे हैं। यह सब इसलिए हो रहा है कि लोग इन जुल्मों, अत्याचारों को सह रहे हैं। शौक साहब आम लोगों पर थूकते हैं और कमाल यह है कि लोग भी अपने आप पर थुकवा रहे हैं। मतलब साफ है कि अपने क्षुद्र स्वार्थों में लिप्त लोग इस प्रकार की हरकतों को सहन करते हैं। कहानीकार ने इस आख्यान में वर्तमान स्थिति का जायजा लिया है, जिसमें स्वार्थ, बेईमानी जैसी चीजें बढ़ती जा रही हैं। स्वाभिमान से जीने वाले लोगों की आज बेहद कमी है। छोटी-छोटी सुविधाओं के लालच में पड़कर देश की आम जनता कुछ भी करने को तैयार हो जाती है। इसीलिए सदी का सबसे बड़ा आदमी कहने का हकदार वह व्यक्ति है जो अपने क्षुद्र स्वार्थों को दूर रख कर गलत चीजों का विरोध करता है और इन चीजों से नाता तोड़ना जानता है। यह जानते हुए भी कि यह व्यवस्था उन्हें चैन से जीने नहीं देगी, उन्हें कदम-कदम पर लांछित और अपमानित होना पड़ेगा, अपमान का विष पीना पड़ेगा इसके बावजूद वे इस क्रूर व्यवस्था से टकरा रहे हैं। इसमें मौजूद सिंकिया नौजवान इसी स्वाभिमानी और संघर्षशील लोगों का प्रतीक है। वह स्वाभिमान से जीते

हुए मानवीय मूल्यों के रक्षणार्थ प्रतिरोध का स्वर बुलंद करता है। एक तरह से कथाकार इस रचना में आम आदमी के प्रतिरोध की संस्कृति को सामने रखते हैं। समकालीन समाज में मूल्यों का अवमूल्यन इतनी तेजी से हो रहा है कि वह भूलता जा रहा है कि मनुष्य को जीने के लिए सुख-सुविधाओं के अलावा भी कुछ चीजों की आवश्यकता होती है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान स्वतंत्रता सेनानियों ने अपना सर्वस्व लुटा कर देश की आजादी के लिए लड़ाई लड़ी थी। देश की आम जनता के शोषण का प्रमुख कारण सामंतवाद था जो अपने जातीय एवं वर्गीय अहंकार में लीन होकर साधारण जनता का खून चूस रहा था। यही प्रमुख वजह थी कि भारत दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों का उपनिवेश बनकर रह गया। आज़ादी के पश्चात जमींदारी उन्मूलन जैसे उपक्रमों के कारणवश सामंत, जमींदार कमजोर हो गए। लेकिन सामंतवाद के तत्त्व वर्तमान में भी मौजूद हैं। यही वजह है कि शौक साहब जैसे लोग आज भी सामंतशाही के प्रतीक बने हुए हैं और आम जनता पर थूकते रहे हैं। मलाल इस बात का है कि लोग स्वयं पर थुकवाने के लिए तैयार बैठे हैं। सिंकिया नौजवान शौक साहब के इस वृत्ति का विरोध करता है। उसे किसी चीज की लालसा नहीं है। शौक़ ने सिंकिया पहलवान को अनेक लालच देने की कोशिश की लेकिन उसने इन सारे प्रलोभनों को ठुकरा दिया। इस बात से वे दुखी और नाराज़ हैं। वे जानते हैं कि अगर सिंकिया जैसे लोग इस देश में पैदा होने लगे तो वह दिन दूर नहीं जिसमें उनका कोई वजूद नहीं बच पाएगा। कहना न होगा कि यह रचना प्रतिरोध की संस्कृति को रचती है जो इस देश के लिए अवश्यंभावी है।

आपकी 'बाइस्कोप का लल्ला' कहानी प्रतिपादित करती है कि आज़ादी के बाद भी देश में सामंतवाद के प्रतीक जिंदा हैं। इस रचना में वर्णित शख्स एक बड़े घर के रोबदार व्यक्तित्व हैं जिन्हें उस प्रदेश के लोग सरकार बोलते हैं। समूचे इलाके में उनका इतना दबदबा है कि उनकी कही हुई बात पत्थर की लकीर के समान हो जाती है। उन्हें चिंता केवल इस बात की

है कि उनकी अपनी कोई संतान नहीं है। लेकिन कुछ वर्षों बाद उन्हें एक बेटा हो जाता है और फिर उस बच्चे की इतनी प्रशंसा शुरू हो जाती है कि लोग अचंभित रह जाते हैं। उनके बेटे में एक व्यंग है, यह लल्ला काणा है। यानी लल्ला की पुतलियां जब बाएं तरफ घूमती हैं तब उसे दाई तरफ दिखाई पड़ता है और जब दाईं तरफ घूमती हैं तब बाई तरफ दिखाई पड़ता है। लेकिन लल्ला के इस ऐब की भी सराहना की जाती है। समूचे प्रदेश में उसकी प्रशंसा के पुल बांधे जा रहे थे जिसमें रेडियो वाले, बाइस्कोप वाले, यहां तक कि अखबार वाले भी हर तीसरे-चौथे दिन उसके बारे में छापते रहते थे। इलाके के लोग बड़ी हैरत में थे। चूंकि अखबार, रेडियो, बोल रहे थे और लल्ला की बढ़-चढ़कर तारीफ कर रहे थे तो सुनने वाले भी दांतों तले उंगलियां दबाएं चुप रह जाते थे। यथा- "रोज-रोज की ऐसी खबरों ने लल्ला के लिए जनता और जमाने को पागल कर दिया। जाने कहाँ कहाँ से गठरी मोटरी बाँधे गाते बजाते लोगों का जत्था आया करता और हवेली के हाते के बाहर दिन-दिन-भर जिन्दाबाद बोला करता। वे अटारी की ओर एकटकी लगाए सोचा करते-लल्ला की पिपहरी कैसी होगी ? बजाता कैसे होगा? गुलेल किस लकड़ी की होगी ? निशाना कैसा होगा ?...

इलाके के लोग थोड़ी हैरत में थे। उन्हें उस रास्ते आते-जाते कभी-कभी लल्ला दिख जाया करता था, लेकिन सिवा इसके कि वह नौकरों-चाकरों की भीड़ में इस गोद से उस गोद कूद रहा है और कोई खासियत नहीं नजर आती थी। लेकिन जब अखबार और रेडियो बोल रहे हैं, दूर-दूर से देखने के लिए आलम टूट रहा है तो जरूर कोई खास बात होगी, जिसे वे मूर्ख जाहिल होने के कारण नहीं समझ पा रहे थे। यह कोई छोटी बात नहीं थी कि इत्ते से बच्चे ने उनके देस-जबार को इतनी बड़ी इज्जत बख्शी है। इसलिए जब कोई परदेशी खोद-खोदकर उनसे लल्ला के बारे में पूछता या जानना चाहता था तो वे सरकार की सारी हरमजदगी भुला देते थे और लल्ला के बारे में ऐसी बढ़-चढ़कर बातें बताते थे कि सुननेवाला दाँतों तले उंगली

दबा लेता था।"[40] इस प्रकार हर जगह से लल्ला की वाह-वाही होती रही। लेकिन उसकी मां को डर था कि कहीं कोई उस पर जादू टोना न कर दे, कहीं उसे किसी की बुरी नजर न लग जाए। भूत प्रेतों का डर भी उसे सताता था। सरकार को इस बात से भय लगता था कि कहीं फिरौती वाले, चोर, डकैत, बटमार, गुंडे या उनके दुश्मन उसके साथ कुछ गलत न कर दे। इसी बीच प्रदेश में लल्ला के दर्शन की बात चलाई गई और एक दिन तय किया गया जिसमें आम जनता को उसके दर्शन हो सकते हैं। लोग उसे देखने के लिए गए लेकिन जब जनता ने उसे देखा तो उसमें लोगों को ऐसी कोई खास बात नजर नहीं आती जिसके लिए उसकी प्रशंसा की जा सके। वह एक साधारण-सा बालक था। उस भीड़ में विरोधी पक्ष वाले भी जुटे थे। जब यह दर्शन का कार्यक्रम चल रहा था तब अचानक उसने नाइन के सिर पर पेशाब कर दिया। यह देखकर एक आदमी ने कहा कि देखो लल्ला उस नाइन पर पेशाब कर रहा है। उसकी यह बात सुनते ही सरकार के आदमी आए और उसे पकड़कर ले गए। उस आदमी को पेड़ पर लटका दिया गया। दूसरे आदमी ने भी आवाज़ उठाई और कहा कि क्या हमें गलत को गलत कहने का भी अधिकार नहीं है तब उसे भी पकड़ कर मारा गया। इसके बाद पूरे कार्यक्रम में भगदड़ मच जाती है और सब लोग वहां से भागने लगते हैं। इलाके में कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस कार्यक्रम में नहीं जा सके थे, वे यह जानने के लिए उत्सुक थे कि आखिर वहां क्या हुआ ? उन्हें रेडियो और अखबार के माध्यम से पता चला कि कैसे लल्लादर्शन कार्यक्रम सफल हुआ और इस संदर्भ में बढ़-चढ़कर बातें कही गई थीं। लेकिन जो लोग वहां जाकर आए थे वे बताते हैं कि यह सब उन्होंने देखा ही नहीं बल्कि वहां सिर्फ हंगामा हो गया था। इस बात पर बुजुर्ग कहते हैं कि यह लोग देर से पहुंचे होंगे या बहुत पीछे रह गए होंगे। जब लोग कहते हैं कि हम किसी तरह से वहां से भागकर यहां तक आए हैं तब बुजुर्गों ने चिढ़कर कहा कि "यह साले लौंडे कोई भी काम कायदे से नहीं होने देंगे, जहां कहीं जाएंगे, खुराफात ही करेंगे"[41]

इस तरह कहानी का संदेश स्पष्ट है कि कैसे एक सामान्य से बालक को बढ़ा चढ़ाकर पेश करने की कोशिश की जाती है। यह भारत की वर्तमान स्थिति पर करारा व्यंग्य है। आजादी के उपरांत देशभर में जमींदारी उन्मूलन का कार्यक्रम बड़े जोर-शोर से शुरू किया गया था। लेकिन जमींदारों ने अब दूसरा मार्ग अख़्तियार किया है और वह मार्ग है राजनीति में प्रवेश का। इस समयकाल में भारतीय सियासी दलों में वंशवाद की परंपरा शुरू हो गई थी। पहले जमाने में जो लोग राजा-महाराजा, सामंत हुआ करते थे उनके वंशज अब नेता-मंत्री होने लगे। उनके बच्चों में चाहे लाख अवगुण हो लेकिन उन कमियों को खूबियों की तरह पेश किया जाने लगा था। इसमें प्रसार माध्यमों ने भी बहुत बड़ी भूमिका निभाई। यह रचना हमारे प्रसार माध्यमों पर भी तीखा व्यंग्य करती है। ये माध्यम सामंतों, जमींदारों के हाथों बिक चुके हैं। पैसों के लिए किसी भी प्रकार के ग़लत समाचार छाप देना अब सामान्य हो गया है। एक समय था, समाचार पत्रों को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता था। लेकिन यह देश का दुर्भाग्य है कि यही मजबूत स्तंभ बिकाऊ हो चुका है। लल्ला की सारी गलत हरकतों को भी किसी खूबी की तरह पेश किया जा रहा है और जो लोग इसके विरोध में हैं उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। कहना न होगा कि भारतीय राजनीतिक सूबे में आए पतन को यह रचना बखूबी चित्रित करती है। देश में किस तरह से वंशवाद की रूपरेखा तैयार की जाती है यह इस कृति में देखने को मिलता है। अंत में वृद्धों का नई पीढ़ी के लोगों पर यह आरोप लगाना कि इन नौजवानों की ही कोई गलती होगी जो उस कार्यक्रम को ठीक से नहीं देख सके दर्शाता है कि पुरानी पीढ़ी आज भी उस सामंतीय सोच के जंजाल से बाहर नहीं आई है। युवा पीढ़ी ऐसी चीजों के विरोध में अपनी आवाज़ बुलंद करना चाहती है लेकिन वे गलत साबित किए जाते हैं। यही वजह है कि देश में अयोग्य लोग ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर आसीन हैं तथा वे मुल्क की बेहतरी के लिए कोई फैसला नहीं ले सकते। यही वजह है कि देश की तरक्की उस तरह से नहीं हो रही

है जिस तरह से होनी चाहिए थी। इसमें यह संदेश है कि हमें जल्द से जल्द इस सामंतवादी मानसिकता से किनारा करने की आवश्यकता है। अगर हम चाहते हैं कि हमारे राष्ट्र का विकास सही दिशा में हो तो इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ने से रोकना अत्यंत लाज़िमी है वर्ना लल्ला जैसे अयोग्य-मूर्ख लोग राजनीति की बागडोर अपने हाथों में ले लेंगे और फिर इस मुल्क का विकास कतई संभव नहीं है।

3.6.2 पतनशील सामंतवादी समाज

ब्रिटिश सरकार के समाप्ति के बाद सामंतवादी व्यवस्था का पतन शुरू हो गया था। लेकिन सामंतीय मानसिकता की जड़े बहुत गहरी थीं तथा इस सोच से वास्ता रखने वाले लोगों का दामन छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी। यही वजह है कि इस मानसिकता वाले समुदाय का पतन हो गया।

'जोतसी ने कहा था' में कहानीकार ने सामंतवादी मानसिकता के कारण व्यक्ति किस प्रकार विनाश की ओर अग्रसर होता है इसका यथार्थ वर्णन किया है। इसमें वर्णित राजा सिंह एक संपन्न जमींदार हैं लेकिन उनकी कोई संतान नहीं थी। इसलिए वे हमेशा उदास रहते थे। कुछ वर्षों बाद उन्हें बेटा हुआ और उन्हें लगा मानो सारे जहान की खुशी उन्हें मिल गई हो। पुत्र के जन्म के बाद उनके जोतसी ने कहा था कि बेटा होनहार है, बड़ा भाग्यवान है, रोज तरक्की करेगा, बढ़ोतरी पर रहेगा, खानदान का नाम रोशन करेगा। राजा सिंह का सुपुत्र बड़ा होने लगता है और राजा सिंह उसे लोगों के साथ गलत व्यवहार करने के लिए अक्सर उकसाते रहते थे। जैसे कोई जा रहा है तो उसे गाली देना या फिर किसी को ढेला मार देना, इस प्रकार की चीजें करने के लिए कहते थे। उनकी सोच थी कि अकड़ कर, तन कर, शान से रहना चाहिए, किसी ने अनाप-शनाप किया तो उसे एक चांटा मार देना चाहिए। इसके चलते

बेटे का व्यवहार इतना अशिष्ट और अभद्रपूर्ण हो गया कि एक दिन राजा साहब सो रहे थे तब उनके बेटे ने उनकी मूछें पकड़ लीं और जोर से खींचने लगा। वे जग गए और पुत्र की इस हरकत के लिए उसे रोकने के बजाय हंसने लगे। आगे चलकर भी वह अनेक प्रकार की गलत-सलत चीजें करता रहता है। राजा सिंह का सुपुत्र स्कूल में जाने लगा था। स्कूल में भी उसका अभद्र व्यवहार जारी रहा, कभी वह किसी की कलम तोड़ देता तो किसी की दवात छीन लेता, कोई पढ़ रहा है तो उसे चिकोटी काट लेता। वह अपने अध्यापकों से भी बुरा बर्ताव करता, मास्टर की छड़ी पकड़ कर भाग जाता। अपने लड़के की इस बेहूदगी को लेकर लोग राजा सिंह से शिकायत करते लेकिन वे इस पर हंस पड़ते। वे उसकी सारी गलत करतूतों पर मन ही मन खुश होते। लेकिन जमींदारी टूट जाने के उपरान्त उनका परिवार परेशानी में पड़ गया। उनके घर की हालत बदल गई इसके बावजूद उनका गुरुर नहीं टूटा। बेटा पेहलवानी कर उस्ताद बन जाता है और कोई काम नहीं करना चाहता। धीरे-धीरे घर की हालत इतनी खराब हो जाती है कि उसे एक छोटी-सी दुकान लगानी पड़ती है। दूकान नहीं चलती तो वह शहर जाकर मजदूरी करने लगता है और अंत तक आते-आते उसकी दशा ऐसी हो जाती है कि वह संन्यासी बन जाता है। कहानी के अंत में यह संकेत है कि उस्ताद किसी के दो बैल चोरी करके मेले में रोजगार करने गए थे। इस तरह एक अमीर जमींदार के बिगड़ैल बेटे की हालत इतनी खस्ता हो जाती है कि चोरी करके पेट भरने की नौबत उस पर आ जाती है।

सामंतवादी संस्कारों के कारण कैसे समूचा परिवार बर्बाद हो जाता है यह दर्शाने की कोशिश इसमें की गई है। अपने बड़प्पन के नशे में चूर एक बाप अपने बेटे को अनुचित मार्ग पर चलने के लिए उद्युत करता है। पिता द्वारा किया गया लाड़-प्यार ही उसकी तबाही की वजह बन जाती है। अपने लाडले सपूत को उसकी गलतियों के प्रति सचेत कराने के बजाय उसकी सारी गलतियों को हंसकर टाल दिया जाता है और आगे चलकर यही बातें उनके लिए

परेशानी का सबब बन जाती हैं। यहां संदेश स्पष्ट है कि सामंती संस्कारों के गुरुर के चलते एक बाप ही अपनी संतान के बर्बादी का कारण बनता है।

'हवेली' में ध्वस्त हो चुके सामंती संस्कारों के दर्शन होते हैं। इसमें जीवन की विकट परिस्थिति को गहरे और मारक प्रभाव के साथ प्रतिपादित किया गया है। जीवन की कटु वास्तविकता के दंश झेल कर भी उसे दूर ठेलने की कोशिश करते एक निरीह व्यक्ति की यह दास्तान है। इसमें चित्रित बड़े भाई साहब जिस हवेली में रह रहे हैं वह खंडहर हो गई है। लेकिन अपनी मरी हुई इज्जत या दिखावे के साथ जिने की उन्हें आदत-सी हो गई है। अंत में उनके अभावग्रस्त जीवन की असलियत सामने आती है। इसमें आए भाई साहब का दिखावा तार-तार हो जाता है जब वे भोजन की थाली पटकते हुए अपनी पत्नी पर चिल्लाते हुए कहते हैं – "सब्जी नहीं थी, तो प्याज कोहडौरी का चोखा नहीं बनाना था? साली की आदत हो गई है। जब देखो, तब टोर्रा नमक और प्याज की गांठ रख देती है।"[42] अपनी कमजोरी तथा कुंठा को वे पत्नी पर गुस्सा करके व्यक्त करते हैं। इस तरह ह्रासोन्मुखी सामंती मानसिकता के तत्व आज भी उनमें मौजूद हैं। कुल मिलाकर यह ध्वस्त सामंती जीवन पर एक प्रामाणिक और मार्मिक व्यंग्य है।

रचना में वर्णित बड़े भाई साहब में बचपन से ही सामंतीय आचार विचार भरे हुए हैं। उनका बचपन ताल्लुकेदार के बेटों के साथ गुजरा है। सच्चाई यह है कि ताल्लुकेदार ने उनके बाबा को हवेली इनाम में दी थी। लेकिन भाई साहब को लगता है कि वह भी उसी वर्ग से ताल्लुक रखते हैं। इसलिए वह उस अभिजात्य को अपने व्यक्तित्व का हिस्सा बनाते हैं। सामंतवाद में छोटे लोगों के प्रति एक प्रकार का तिरस्कार वाला भाव दिखाई पड़ता है। उन्हें लगता है कि छोटे लोगों के बीच उठने-बैठने और मिलने-जुलने से इज्जत घटती है। लेकिन सच्चाई यह है

कि उनकी आर्थिक हालत बेहद खस्ताहाल है। इसके बावजूद वे एक झूठ फैलाने की कोशिश करते हैं कि वे एक रईस आदमी हैं। वह इसी भ्रम में रहते हैं कि बाकी लोग उन्हें बड़ा आदमी समझते हैं, लेकिन लोगों को उनकी आर्थिक दशा के बारे में पता है। इस प्रकार यह रचना सामंतवाद से पीड़ित एक व्यक्ति की मनोदशा को प्रस्तुत करती है।

'कहानी सरायमोहन की' में भी ध्वस्त हो चुके सामंतीय सोच के दर्शन होते हैं। एक समय था जब सवर्ण कही जाने वाली जातियों में निम्न जाति के प्रति हिकारत से भरे विचार कूट-कूट कर भरे हुए थे। लेकिन समय के साथ और विशेषकर आजादी के उपरान्त सामंतवाद के वर्चस्व का किला ढह गया। हिंदी में एक मुहावरा अक्सर चलता है 'रस्सी जल गई पर बल नहीं गया' ऐसी ही हालत इस कहानी में चित्रित ठाकुर और ब्राह्मण की है। इनका सब कुछ नष्ट हो चुका है लेकिन ऐंठ अभी बाकी है। "काशीनाथ सिंह ने इस कहानी को कुछ इस तरह बुना है कि सामन्ती जीवन प्रणाली के अन्तर्विरोधों की पोल मौजूद जीवन यथार्थ से खुलती जाए। सतह के जीवन को उसी के नीचे से झांककर देख लिया जाए। कहानी दर्शाती है कि व्यवस्था का फूहड़पन उसी वस्तु में निहित है। जो व्यवस्था अपने गौरव में मस्त थी, उसकी जगहँसाई बाहर से नहीं आई। देश जो काल से कटा है और काल जो देश से कटा है – कैसे उलझनों में डूबा है। बाबू साहब और पंडित जी का घर से पलायन और एक मज़दूर की गोद में गिरना नये काल-बोध में संक्रमण की तस्वीर है।"[43]

'रेहन पर रग्घू' के जरिए उपन्यासकार इस तथ्य को उजागर करता है कि भारतीय समाज में आज भी पुराने सामंतवाद के अवशेष मौजूद हैं। इसमें जिस पहाड़पुर गांव का जिक्र लेखक ने किया है उसमें आज भी इस प्रकार की मानसिकता दिखाई पड़ती है। गांव में मुख्य रूप से ठाकुर, अहीर और चमारों की बस्तियां हैं। चमटोले वर्षों से ठाकुरों के यहां हलवाहे का काम

करते आए हैं। ठाकुर इनकी मेहनत को औने-पौने दामों में खरीद लेते हैं। जी तोड़ मेहनत मजदूरी करने के बाद भी उनके जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। लेकिन एक समय ऐसा भी आता है जब चमटोले ठाकुरों के खेतों में काम करने से इंकार कर देते हैं। इस बात को लेकर दोनों जातियों के बीच तनाव उत्पन्न हो जाता है। लेकिन ठाकुरों की हालत ऐसी है कि वे किसी प्रकार का श्रम नहीं करना चाहते। उन्होंनेे इससे पहले कभी मेहनत मजदूरी नहीं की है। अब भी वे परिश्रम करने से जी चुराते हैं। रघुनाथ जब ठाकुरों को नया ट्रैक्टर लाने संबंधी सुझाव देते हैं तब गांव के अन्य ठाकुर इस बात के लिए तैयार नहीं होते। दरअसल पहाड़पुर में रहने वाले ठाकुर सामन्तवादी मानसिकता से इतने ग्रसित हैं कि खेतों में जाकर श्रम करना उन्हें अपने शान के खिलाफ लगता है। चमटोले जो शतकों से उनके यहां हलवाहे का काम करते रहे हैं वे ही उनके खेतों में अपना पसीना बहाते रहे हैं। लेकिन जब वे खेतों में काम करने से इंकार कर देते हैं तब उन्हें लगता है कि आखिर यह लोग कहां जाएंगे। इन्हें कभी न कभी तो हमारे पास आना ही पड़ेगा। गौरतलब है कि इन संस्कारों में पले बढ़े ये लोग बदलते समय को पहचान नहीं पाए। अपनी इस अहंकारपूर्ण सोच की अकड़ में वे यही मान बैठे कि चमटोले उनके पैरों पर आ गिरेंगे। उनकी इस अहंकार की भावना को धक्का तब लगता है जब चमटोले अहीरों के साथ गठजोड़ कर लेते हैं। कुछ लोग गांव छोड़कर शहर की ओर चले जाते हैं। इस बात से गांव के ठाकुर हाथ मलते रह जाते हैं। इस प्रकार लेखक ने वर्षों से चली आ रही सामन्तीय मानसिकताओं के दर्प को तोड़ने की कोशिश की है। यह समकालीन समय का यथार्थ है जिसमें दलित जातियों में स्वाभिमान की भावना जागृत हुई है। दलितों में आया यह बदलाव उल्लेखनीय भी है क्योंकि जब तक इस वर्ग के भीतर स्वाभिमान की भावना जागृत नहीं होती तब तक उनका समाज में ऊपर उठना संभव नहीं है।

कहना न होगा कि वर्तमान स्थिति में आरक्षण ने भी उन्हें एक मौका मुहैया कराया है कि वे समाज में स्वाभिमान से सर उठाकर जी सके।

उपन्यास में छब्बू पहलवान जैसा शख़्स है जो सामंतशाही से भरा है। वह अपने हलवाहे झूरी की घरवाली के साथ शारीरिक संबंध रखता है। अपनी ताकत के बलबूते पर वह समझता है कि उसे रोकने टोकने वाला गांव में कोई नहीं है। उपन्यास में छब्बू वाला प्रसंग दर्शाता है कि ग्रामीण इलाकों में सवर्ण जातियों द्वारा पिछड़ी जातियों के लोगों पर किस प्रकार का शोषण किया जाता था। पिछड़ी जाति की बहू बेटियां सवर्ण जातियों के पुरुषों द्वारा इस्तेमाल की जाती थीं। एक तरह की दहशत इन लोगों ने दलितों पर कायम की थी। यह उनकी सामंतवादी मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि वे इन महिलाओं के साथ यौनाचार में लिप्त थे। पहलवान की हत्या और उनके जननांग को काटकर फेंक देने वाली घटना से साफ है कि अब दलित उस प्रकार का अनीतिपूर्ण-अत्याचारपूर्ण बर्ताव सहने वाले नहीं हैं। इसमें उपन्यासकार ने दलितों में आयी नवीन चेतना को दिखाने की कोशिश की है।

3.7 आर्थिक समस्या

आधुनिक युग में मनुष्य का जीवन अर्थ केंद्रित हो गया है। पहले ग्रामीण जीवन में उसकी सारी जरूरतें गांव में ही पूर्ण हो जाती थीं, लेकिन अब इन जरूरतों को पूर्ण करने के लिए उसे पैसों की आवश्यकता पड़ती है। स्वातंत्र्योत्तर काल में बड़े पैमाने पर शहरीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोग उदर निर्वाहन के लिए नगरों महानगरों की ओर जाने लगे। इस कारण भी अद्यतन युग में धन की महत्ता बढ़ती गयी। मनुष्य की आवश्यकताओं में भी धीरे-धीरे बढ़ोतरी हो गयी और उसे आर्थिक तंगी महसूस होने लगी। यही वजह है कि वर्तमान कालीन मनुष्य आर्थिक किल्लत से जूझता हुआ दिखाई पड़ता है।

3.7.1 अर्थाभाव से जूझ रहे सामान्य व्यक्ति की पीड़ा

आज के समय में निम्न-मध्य वर्ग का व्यक्ति पैसों की कमी के कारण चिंतित रहता है। पैसों के अभाव के कारण वह जिंदगी भर अनेकानेक कठिनाइयों से गुजरता है। आपके कथा साहित्य में अर्थाभाव से गुजर रहे आम आदमी की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है।

आपकी 'बैल' कहानी आर्थिक विपन्नता झेल रहे एक स्कूल मास्टर की व्यथा है। ढुक्कूलाल एक छोटे से स्कूल में बच्चों को चित्रकारी पढ़ाते हैं। वे अकेले रहते थे और अक्सर गंभीर रहा करते थे। एक बार वे कक्षा में आए और उन्होंने बच्चों को एक चित्र बनाने के लिए कहा चित्र कुछ इस प्रकार था – "सावन का महीना हो। बादल छाए हो। बिजली कड़क रही हो। हवा थर-थर चल रही हो। पेड़-पौधे काँप रहे हों। सुकुमार सिया प्यारी भैंसें पगुरी कर रही हों। लेकिन एक बैल प्यास से बेहाल आसमान की ओर मुँह बाए 'ड्रांग-ड्रांग' कर रहा हो – एक चातक की तरह ...हाँ, ध्यान से सुनो! खूब घनघोर पानी बरस रहा हो और बैल एक चातक की तरह।..अब बनाओ।"[44] सभी विद्यार्थियों ने चित्र बनाए, लेकिन परसिद्ध नामक लड़के ने जो पेंटिंग बनायी उसमें बैल की जगह गुरुजी का चेहरा बनाया और उनके गोल चेहरे के अन्दर लिख दिया 'भोंसड़ीवाला'। अचरच की बात यह है कि मास्टर ने सबसे ज्यादा नंबर भी उसी को दे दिए। लेकिन मास्टर साहब जब उससे कहते हैं कि बैल मैं नहीं तुम हो तब उसका चेहरा तमतमा उठता है और वह उनसे गुस्से में कहता है - "बैल तू है, तेरा बाप है, तेरा खानदान है! लाला लूली की जात !"[45] इस बात पर ढूक्कूलाल बिना किसी क्रोध से कहते हैं - "देखा इस पगले को? न बीबी, न बच्चे, न एक धूर जमीन। इतनी भी नहीं कि सुर्ती की खेती कर सकूँ। अरे, अपने आठ-दस पालतू चूहे हैं उनके लिए चने चाहिए, सो बाजार से ले ही आता हूँ, लेकिन मेरे पास

जमीन थी। मेरी जमींदारी थी, मेरे लाडलो ! कलेजे के टुकड़ो, मेरी जमींदारी थी। एक घोड़ा, तीन भैंसें, एक गाय, बारह-बारह बैल ! साठ बीघे खेत और यह सब - यह सारी जमीन जिस पर विद्यालय खड़ा है, और वह फुटबाल का मैदान, और वह बगीचा और वे पीछेवाले कृषि के फार्म...अपने बाप-दादा से पूछो। वे लोग बताएँगे सब ! तब मैं बहुत छोटा था..लेकिन ये सारे खेत मुंशी बचाऊलाल ने ले लिये। और अब हर महीने 40 रुपए।...तू ही बोल, इतने में बैल कैसे आ सकता है ? और सच पूछो तो आए ही क्यों ? किस बात के लिए बैल लूं ? इसीलिए कह रहा हूँ बेटा कि बैल तू ही है ..इधर आ, गले मिल ।"[46]

द्रष्टव्य है कि मास्टर ढुक्कूलाल अपना दुख व्यक्त कर रहे हैं। सच बात यह है कि उन्हें फंसा कर उनकी जमीन हड़प ली गयी है। उनके लिए एक बैल खरीदना भी बहुत बड़ी बात है क्योंकि उनकी हैसियत ही नहीं कि वे एक बैल खरीद सके। इसलिए वे अपने लिए बैल का नाम सुनकर हताश हो जाते हैं। उनके लिए यह शब्द मूर्खता का प्रतीक नहीं है बल्कि उनके लिए यह हैसियत वालों का प्रतीक है। स्कूल के प्रिंसिपल उनसे कहते हैं कि आप उस लड़के की रिपोर्ट कर दीजिए ताकि उस पर स्कूल की ओर से एक्शन लिया जाए। इस पर वे प्रिंसिपल से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि आप उस पर एक्शन नहीं ले पाएंगे। प्रिंसिपल साहब के दबाव डालने पर वे एक पन्ने पर लिखना शुरू करते हैं – "महोदय सविनय निवेदन यह है कि मुझे ठीक से सोए हुए आज इक्कीस साल सात महीने हो गए हैं। इस दौरान कभी सुख की नींद नहीं आई। मैं घर से विद्यालय और विद्यालय से घर आते-जाते लोगों के खेत और उन्हें जोतते हुए बैल देखता रहा। यह ज़रूर है कि असमय ही मेरी औरत मर गई, बच्चा मर गया। लेकिन जमीन रहती तो मेरी दूसरी शादी हो सकती थी, बच्चे भी हो सकते थे, दरवाजे पर दो-चार बैल भी रह सकते थे । बचाऊलाल ने यह कैसे मान लिया कि जब मेरे कोई नहीं है और सारे खेत अन्त में उन्हीं के बाल-बच्चों के नाम कर दूँगा तो क्यों न ढुक्कू के सारे

खेत अभी दखल कर लूँ?...लिहाजा आज मेरे पास इतने पैसे भी नहीं हैं कि मैं कोई वकील कर सकूँ और कचहरी दौड़ सकूँ। और हाँ, कचहरी की दौड़ के लिए छुट्टी भी बचाऊ को ही देनी है । और आप ही कहने लगेंगे कि लड़कों का नुकसान होता है छुट्टी नहीं मिलेगी। अतः मैं सभी अध्यापकों और लड़कों को हाजिर- नाजिर जानकर आपसे अनुरोध करता हूँ कि या तो बचाऊलाल से ज्यादा नहीं, सिर्फ़ पाँच बीघे खेत दिला दें (बैलों की व्यवस्था कहीं और से कर लूँगा) या जादू उर्फ यदुनाथ सिंह को विद्यालय से हमेशा के लिए निकाल दें क्योंकि उसने बेंच का सहारा देकर मेरी जान बचाई थी ।"[47] उनके इस खत से पता चलता है कि उनकी यह हालत उन्हीं के मामा ने की है। उनकी जमीन-जायदाद हड़पने के बाद उन्हें एक फटीचर से स्कूल में सामान्य-सी नौकरी दी जाती है। यह भारत के आम जनता की दुर्दशा है जो बेईमान और भ्रष्ट शासन तंत्र का शिकार हो रही है। एक मास्टर की जिंदगी, उसके सारे सपने-आकांक्षाएं आर्थिक बदहाली के कारण नेस्तनाबूत हो जाते हैं। वह अपना समूचा अस्तित्व गंवा चुका है। प्रस्तुत रचना आर्थिक महत्ता को भी प्रतिपादित करती है। ढुक्कूलाल को सतत् अपमान के घूंट पीकर चुप रहना पड़ता है क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति बेहद कमजोर है। उनका प्राचार्य से यह कहना कि उस लड़के पर आप कोई एक्शन नहीं ले सकते जताता है कि जिस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति बेहतर है उसके खिलाफ जाना अत्यंत मुश्किल काम है। अतः यह कृति तंगहाली से जूझ रहे एक सामान्य व्यक्ति की पीड़ा के बयान को दर्ज करती है।

अक्सर देखा गया है कि धन की कमतरता मनुष्य के स्वाभिमान को तोड़ने का काम करती है तथा पैसों की कमी के कारण मनुष्य लाचार हो जाता है। कहानीकार की 'तलाश' आर्थिक किल्लत के कारण उपजी व्यक्ति की लाचारी को दर्शाती है। जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए रुपयों-पैसों की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। लेकिन इसकी कमतरता मनुष्य को

बेबस बना देती है। यह झूरी सिंह नामक व्यक्ति का किस्सा है। वह शहर में एक शिक्षा संस्थान खोलना चाहता है। इस अधिष्ठान के लिए जमीन, बंगला, गाड़ी, नौकर, कर्मचारी वर्ग आदि तमाम चीजें जुटाना चाहता है। कथावाचक और झूरी सिंह के बीच में इस बात को लेकर चर्चा हो रही है कि इसका अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और डायरेक्टर किसे बनाया जाए। झूरी ने यह भी सोच रखा है कि इसके लिए पैसों का इंतजाम कैसे हो सकता है। अधिष्ठान के अध्यक्ष के लिए वह प्रधानमंत्री, शिक्षा मंत्री, गृह मंत्री तक के नामों का सुझाव देता है। उसने यह भी सोचा है कि शहर के मशहूर सेठ से वह चंदे का इंतजाम कर लेगा। अक्सर वह कथावाचक से बातचीत करते हुए कहता है कि अगर यह संस्थान बन जाता है तो उसे डायरेक्टर बनाया जा सकता है। उनकी यह बातें कथावाचक की पत्नी सुनती है और गुस्से से वहां से चली जाती है और अपने पति को ऊपर भोजन के लिए बुलाती है। पत्नी के तेवर देखकर झूरी सिंह उसे कहता है – "तुम एक काम करो खाना खा लो, तब तक मैं सिगरेट फूंक रहा हूं।'

'तुम नहीं खाओगे क्या?'

'अरे मेरा छोड़ो। मैं तो कहीं भी खा लूंगा"[48] कथावाचक भोजन करने के लिए ऊपर जाता है। पत्नी गुस्से से कहती है – "वह दस लोगों को डायरेक्टर होने का न्योता दे चुका है। उनके यहां खाता घूमता है, लोग उसका मजाक भी उड़ाते हैं और गम्भीरता से बातें भी करते हैं। आखिर किस बात से डरते हो तुम लोग ? ... खुद खाने का ठिकाना नहीं, पास में एक कौड़ी नहीं, रहने का ठिकाना नहीं, लफंगों की तरह यहां से वहां करता रहता है और संस्थान खोलेगा!"[49] कहानी के अंत में झूरी सिंह उनसे कहता है कि उसके साइकिल का टायर फट गया है या तो अपनी साइकिल दो या खाने का बंदोबस्त करो। यह एक ऐसे व्यक्ति की दास्तान है जिसके पास रुपए पैसे की किल्लत है। उसकी आर्थिक हालत इतनी खराब है कि दो वक्त का भोजन जुटाने तक का पैसा उसके पास नहीं है। वह अक्सर अपने मित्रों-परिचितों के घर

जाकर संस्थापन के संदर्भ में बड़ी-बड़ी बातें करता है। लोगों को सब्जबाग दिखाता है और इस बहाने से उनके घर भोजन करता है। काशीनाथ जी अर्थाभाव के कारण उपजे व्यक्ति की इस लाचारगी को सही तरह से पहचानते हैं और बड़े ही मार्मिक ढंग से उसकी विवशता को इस रचना में व्यक्त करते हैं।

'काशी का अस्सी' में भी अर्थ की कमी के कारण उपजी लाचारी को प्रकट किया गया है। इस उपन्यास में चित्रित धर्मनाथ शास्त्री की पीड़ा यह है कि वह अपने परिवार को रोजमर्रा की सामान्य चीजें भी मुहैया नहीं करा सकते। जब वे अपने अगले बगल देखते हैं कि अन्य जातियों के लोगों की आर्थिक स्थिति उनसे काफी बेहतर होती जा रही है। लेकिन उनके बीवी-बच्चे छोटी-छोटी चीजों के लिए भी तरस रहे हैं। यही वजह है कि वे दीर्घकाल से चली आ रही मान्यताओं को तोड़ने के लिए विवश हो जाते हैं। यह परिस्थिति आर्थिक लाचारी के कारण निर्माण हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक कमजोरी मनुष्य को अपने मूलभूत सिद्धांतों से भी झुकाने के लिए मजबूर कर देती है।

3.7.2 अर्थ की चिंता में सुखों से वंचित जीवन

समकालीन युग में मनुष्य के लिए रुपया-पैसा एक अवश्यंभावी तत्व बन गया है। सच्चाई यह है कि जिंदगी को व्यवस्थित चलाने के लिए धन की गरज पड़ती है। पैसों की कमी के कारणवश व्यक्ति को समाज में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लेकिन इसी धन का अतिरिक्त मोह जीवन को असंगत बनाता है। कहा भी गया है कि पैसों की जगह जेब में है न कि दिमाग में, लेकिन कुछ लोगों के दिमाग में धन इस तरह छाया रहता है कि वे समझ ही नहीं पाते कि इसी पैसे के अतिरिक्त लालच के कारण वे जिंदगानी का असली आनंद उठाने से महरूम रह जाते हैं। इस युग में मनुष्य की खुशियों का पैमाना बदल गया

है। समाज में ऐसे अनेक लोग हैं जो मात्र धन की प्राप्ति के बाद ही खुशियां महसूस करते हैं। जीवन में भरपुर मात्रा में पैसा कमाना ही उनका एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। धन प्राप्ति का नशा उनके दिलों दिमाग पर हावी रहता है और वे हमेशा पैसों के पीछे भागते रहते हैं।

'दौलत का दुखड़ा' में पैसे के पीछे भागने वाले एक ऐसे व्यक्ति का वर्णन है जिस पर दौलत का नशा इस कदर छाया हुआ है कि वह जीवन के वास्तविक सुखों से वंचित रह जाता है। वह अपने दिमाग से रुपए-पैसे को निकाल ही नहीं पाता। इसमें सोनकर नाम का एक रईस आदमी है जिसकी जिंदगी से नींद गायब हो गई है। उसका कहना है कि विगत एक-डेढ़ साल से वह बिल्कुल भी नहीं सोया है। इसलिए वह शहर के प्रसिद्ध हाकिम अब्दुल हलीम के पास जाता है। वह उसे बताता है कि पिछले डेढ़ वर्ष से वह अनिद्रा का शिकार है। उसने बड़े-बड़े शहरों के डॉक्टर किए लेकिन चैन की नींद उसे नहीं मिली। वह हाकिम को अपनी बीमारी के बारे में जानकारी देते हुए कहता है – "साहब, भगवान का दिया हुआ मेरे पास सब कुछ है – कार, बँगला, जमीन, नौकर-चाकर। आपकी दया से कालीन का एक बिजनेस भी है – छोटा-सा, एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट का जिसके चलते महीने में एकाध बार विदेश का भी चक्कर लग जाता है। जौनपुर वाली रोड पर बसें भी चलती हैं और मिर्जापुर में ट्रकें भी। तो सब कुछ है आपके पास। अगर नहीं है तो एक मामूली-सी चीज-नींद। ... तो आश्चर्य करोगे डॉक्टर कि मुझे कोई लत नहीं है – न दारू, न सिगरेट, न पान, न बीड़ी, न गाँजा, न भाँग। एक भी नहीं। डॉक्टर लोग हैरत में हैं। आज तक कोई नहीं समझ पाया कि ऐसा क्यों हो रहा है। जब मैं बताता हूँ कि पिछले डेढ़ साल से मैं सोया नहीं हूँ तो किसी को विश्वास नहीं होता। और साहब, मैं आपसे कसम खाकर कहता हूँ कि नींद तो नींद, इस दरमियान मुझे झपकी तक नहीं आई है। बस, देखिए, इसी तरह जम्हाई आती है – बार-बार... बार-बार... मुझे पता चला कि आप बड़े नामी हकीम हैं। आपके हाथ में बड़ा जस है। सोचा, कौन जाने मेरी भलाई आप के ही भेस में

छिपी हो ! मैं बताता हूँ तो सुनकर लोग दहल उठते हैं कि अब तक जिन्दा कैसे हूँ? लेकिन सच कहिए तो मैं ही जानता हूँ कि किस तरह जिन्दा हूँ। मैं जानता हूँ कि आप मेरा ब्लड-प्रेशर जानना चाहेंगे, शुगर के बारे में पूछेगे, ई.सी.-जी.सी. पूछेंगे। देखिए वे सूटकेस, डॉक्टरी रिपोर्टों से भरी पड़ी है। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ, इन्हें साथ लिये जाता हूँ। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ, पता कर रखता हूँ कि उस शहर का सबसे बड़ा डॉक्टर कौन है और उससे भी मिलने का मौका निकाल लेता हूँ।"[50] डॉक्टरों के अलावा वह ज्योतिषियों, साधु-संतों, बाबाओं के पास भी गया, लेकिन फिर भी नींद उसे मयस्सर नहीं हुई। वह हाकिम अब्दुल को एक प्रसंग बयान करता है – वह एक दिन किसी बड़े से होटल में ठहरा हुआ था कि एक जोरदार अंधड आयी। वह रेलिंग को पकड़ता हुआ अंदर को देख रहा था तब उसने देखा कि एक रिक्शावाला अपने रिक्शा में आराम से सो रहा है। उस पर अंधड़ या सड़क पर से गुजरती हुई गाड़ियों के आवाजाही का कोई असर नहीं है। फिर वह बताता है कि वह चाहता था कि उस रिक्शेवाले के पास जाए और उसे कहे कि वह सब कुछ देने के लिए तैयार है बस यह नींद उसे दे दी जाए। लेकिन सच्चाई यह है कि सोनकर की अनिद्रा की वजह उसकी बेशुमार दौलत है, जिसे वह अपनी छाती से चिपकाए हुए बैठा है। धन-दौलत ने ही उसकी नींद हराम कर रखी है। लेकिन वह इसे बिल्कुल भी छोड़ना नहीं चाहता। उसके दिलो-दिमाग में हरदम पैसे का ही नशा छाया रहता है जो उसकी नींद उससे कोसों दूर किए जा रहा है।

अंत में उससे प्रश्न पूछने पर कि क्या वह नींद के लिए अपनी सारी दौलत छोड़ सकता है ? इस सवाल का वह घुमा फिरा कर जवाब देने लगता है। उसके कहने का तात्पर्य यही निकलता है कि वह अपने वैभव को छोड़ना नहीं चाहता। वह इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि इसीके कारण उसकी जिंदगी से सुखचैन छिन गया है। वह इतनी ऊंचाई पर पहुंचा है कि अब वह वापस लौटना नहीं चाहता। प्रस्तुत आख्यायिका धन-दौलत, शोहरत और

नाम के पीछे भागते एक ऐसे दौलतमंद का चित्रण है जो जीवन के वास्तविक सुखों से दूर है। इसके बावजूद वह अपने रुपयों पैसों से चिपके बैठा है। इसके माध्यम से लेखक कहना चाहते हैं कि धन का नशा मनुष्य के जीवन से सुख-चैन हर लेता है।

'समस्या' कहानी पैसों की चिंता में लिप्त होने की वजह से जीवनयापन के सामान्य सुखों का भी उपभोग नहीं कर सकने वाले इंसान का बखान करती है। यहां जोशी नामक आदमी है जो एक दफ्तर में क्लर्क है। वह रिक्शे से अपने आॉफिस में जाना चाहता है। लेकिन पिछले एक घंटे से वह रिक्शे वाले से पैसों के लिए बहस कर रहा है। वह रिक्शे वाले को उसकी मांग के अनुसार पैसा देना नहीं चाहता। आखिर में कथावाचक के कहने पर वह रिक्शा में उसके साथ बैठ जाता है। रास्ते में वह लोगों की आलोचना करता है। बरसात के कारण उसके जूते भीग गए हैं वह अपने पॉकेट से रुमाल निकाल कर उन जूतों को पोंछता है और उसी रुमाल से वह अपनी नाक भी साफ़ करता है। अंत में जब कथावाचक रिक्शे से उतरता है तब जोशी भी तुरंत उतरता है। कथावाचक जोशी के पैसे रिक्शे वाले को दे देता है। जोशी जी उनसे पूछते हैं कि उसने कितने पैसे रिक्शा-चालक को दिए क्योंकि वह छह पैसे के लिए कह रहा था। कथावाचक उसे कहता है कि जाने दीजिए जो पैसे दिए सो दे दिए। उसकी सहानुभूति इन रिक्शा खींचने वाले लोगों के प्रति है, ये लोग दिन भर जी तोड मेहनत करके थोड़े से पैसे कमा लेते हैं। उसे लगता है कि लेखक ने कुछ ज्यादा ही पैसे रिक्शा चालक को दिए तब वह तुरंत फिर से रिक्शे के लिए मुड़ जाता है।

यह पैसे के मामले में बेहद कृपण आदमी का किस्सा है। उसका दिमाग हरदम पैसे के इर्द-गिर्द लगा रहता है। यहां तक कि वह मानवीय संबंधों को भी रुपए-पैसों के माध्यम से ही देखता है। दरअसल कृपणता मनुष्य की एक वृत्ति है। इस वृत्ति का वह अनेक बार बुरी तरह

से शिकार हो जाता है। उसकी जिंदगी की सबसे बड़ी समस्या है कि वह जीवन के छोटे-छोटे सुखों का उपभोग नहीं ले पाता क्योंकि जिस पैसे को जेब में होना चाहिए था वही पैसा उसके दिमाग में भर गया है। इस कहानी में स्पष्ट संकेत है कि कैसे कंजूस व्यक्ति जीवन में छोटी-छोटी चीजों का भी आनंद नहीं उठा पाते। हरदम पैसे की चिंता में रहकर जीवन के सामान्य सुखों से भी वंचित रह जाते हैं।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में रघुनाथ के दोनों बेटे संजय और धनंजय पैसों के लालच से भरे दिखाई देते हैं। संजय एक सॉफ्टवेयर इंजीनियर है, वह एक अति महत्वकांक्षी युवा के रूप में उपन्यास में आया है। उसके जिंदगी में आने वाले प्रत्येक शख्स को वह अपनी सफलता की सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल करता है। ऐसा लगता है मानो उसका एक ही उद्देश्य रह गया है और वह है भरपूर पैसा कमाना। स्वार्थ लिप्सा और धन के लालच में वह इतना अंधा हो गया है कि अपने मां-बाप तथा अपनी धर्मपत्नी को भी दगा देता है। वह अपनी पत्नी सोनल का इस्तेमाल अमेरिका जाने के लिए करता है और वहां जाने के बाद उसे किसी चाय में पड़ी मख्खी की तरह दूर कर देता है। वह अमेरिका में आरती गुर्जर नामक लड़की से शादी करता है। उसका आरती से शादी करने का मकसद भी ढेर सारी दौलत कमाना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समय में स्वार्थ लिप्सा और पैसों के प्रति लालसा इतनी बढ़ गई है कि संजय जैसे पढ़े-लिखे युवकों के लिए रिश्ते नातों का कोई मतलब नहीं रह गया है। अपनी तरक्की के लिए वह अपनी पत्नी को भी किसी सीढ़ी की तरह उपयोग करता है। पैसों का अति लालच मानवीय संवेदना को कितना नीचे गिरा सकता है, इसका दर्शन इस उपन्यास में बखूबी होता है।

संजय की तरह उसका भाई धनंजय भी शोहरत के लालच में पड़ा है। उसे भी अपने माता-पिता की बिल्कुल फिक्र नहीं है। वह दिल्ली में एक विधवा के साथ रह रहा है। विधवा महिला के साथ रहने का कारण है कि वह महिला उसे सारी सुख-सुविधाएं मुहैया कराती है। अपनी स्वार्थ लिप्सा और आरामदेह जिंदगी के लिए उसे पैसों की जरूरत है। इन जरूरतों को पूरा करने के लिए उसे विधवा महिला की जरूरत है। इसी प्रकार गांव में रघुनाथ के भतीजे हैं जो उसकी जमीन हड़पना चाहते हैं। स्वार्थ लिप्सा और रुपये-पैसों के लालच की बीमारी ग्रामीण जीवन में भी घर कर गई है। जमीन जायदाद के लिए अब खून खराबा हो रहा है। नाते-रिश्तेदारों की अब उपयोगिता महसूस नहीं होती।

आधुनिक युग में समय के साथ जनता में स्वार्थांधता और धन का लालचीपना बढ़ता ही जा रहा है। इसके आगे मानवीय मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। समाज में अपने निजी स्वार्थों को लेकर इतनी तेज आंधी कभी नहीं देखी गयी थी। रचनाकार मनुष्य के इन मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन को अपने समूचे यथार्थ के साथ अपनी साहित्यिक रचनाओं में पेश करता है।

3.8 आम आदमी की पीड़ा

सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत आम आदमी को हमेशा से ही बहुत सारी तकलीफों का सामना करना पड़ा है। एक तरह से उसकी जिंदगी अनेकानेक संघर्षों से भरी हुई है। वह अक्सर उच्च वर्ग के शोषण का शिकार होते रहा है। शहरी और ग्रामीण व्यवस्था में इस वर्ग के साथ नाइंसाफी होती रही है। विवेच्य लेखक ने अपनी रचनाओं में आम आदमी के दुख-दर्द को व्यक्त किया है। उनकी कहानियों में आर्थिक दुर्बलता से जूझ रहे सामान्य आदमी की वेदना को वाणी मिली है।

3.8.1 भयग्रस्त व्यक्ति की व्यथा

आम आदमी अनेक कठिनाइयों का सामना करते रहता है। इनके कारण वह अक्सर चिंतित रहता है। समाज के ताकतवर लोगों के आगे उसे अक्सर झुकना पड़ता है। एक तरह से वह भयग्रस्त वातावरण में जीने के लिए अभिशप्त है।

'अपने लोग' में दफ़्तर में काम करने वाले एक भयग्रस्त व्यक्ति के दर्द को उजागर करने का प्रयास किया गया है। दफ्तर में कार्यरत कर्मचारी अपने बॉस के आतंक से इस कदर पीड़ित है कि वह अपनी जिंदगी को सहज रूप से नहीं जी पा रहा है। कार्यालय में दो व्यक्ति काम कर रहे हैं जिसमें एक आदमी बाबू के रूप में काम करता है तो दूसरा वहीं पर चपरासी है। एक दिन बाबू चपरासी से कहता है कि हम दोनों जंगल की ओर चलते हैं। दोनों जंगल की ओर जाते हैं। वहां पहुंचने के बाद बाबू उसे अपने बाॅस के बारे में बताता है कि उसका स्टेनो के साथ चक्कर चल रहा है। चपरासी उसे बताता है कि यह सब वह पहले से ही जानता है। यहां तक कि उसने एक दिन स्टेनो के साथ वह सब किया जो बाॅस भी नहीं कर सके थे। उस लड़की ने उसे धमकी दी थी कि वह साहब को इसके बारे में बताएगी या फिर चीखेगी-चिल्लाएगी लेकिन इस बात से वह नहीं डरा क्योंकि उसे मालूम था कि यह सब वह नहीं कर सकती। उसकी बात सुनकर बाबू आश्चर्यचकित हो जाता है। चपरासी जब उससे पूछता है कि उसे जंगल में क्यों लाया गया है तो बाबू साहब उसे कहता है कि पहले तुम अपनी वर्दी उतारो और मुझे गालियां दो। वह अपनी वर्दी उतारता है और शुरुआत में उसे सामान्य गालियां देता है। लेकिन बाबू उसे ऊंचे और कड़े स्वर में गालियां देने को कहता है। इसके बाद वह उसे मां-बहन की धुंआधार गालियां देता है। बाबू साहब फिर से उसे कहता है कि वर्दी उतार कर उसे मारे। लेकिन वह कहता है कि इस बार वह वर्दी नहीं उतारेगा। वह उसे बताता है कि मारते समय मुझे और तुम्हें दोनों को मालूम होना चाहिए कि मैं चपरासी हूं। बाबू अपने हाथ से

चाकू निकालता है और उसे दिखाता है और कहता है कि वह दफ्तर जाएगा और जब साहब उसे बुलायेगा और कहेगा कि क्यों न उसे नौकरी से अलग कर दिया जाए तब वह उसे चाकू दिखाएगा। बाबू चाकू खुद से नहीं खरीदता है। दरअसल बात यह थी कि साहब की बीवी ने चपरासी से फरमाइश की थी कि वह सब्जी काटने के लिए उसे चाकू ला कर दे और यह बात बाबू ने सुन ली थी। वह बाजार से चाकू ले आया था और अपने जेब में रख दिया था। उसके बाद चपरासी उसे जूते उतारकर मारता है, इससे वह घायल भी होता है। चपरासी चाहता है कि उसके मन में बैठा बॉस का डर बाहर निकले। लेकिन अंत में बाबू कहता है कि चाकू दिखाने वाली बात बाॅस से नहीं कहना। उन्हें पता न चले कि उसने चाकू दिखाया था। इस बात से चपरासी को गुस्सा आता है वह उसे एक गाली देता है और बाबू को वही नाले में फेंक कर वापस शहर की ओर चला आता है।

यह कथा मनुष्य के मन में बैठे भय को उजागर करती है। अपने बॉस को लेकर मन में बैठे डर के कारण बाबू की जिंदगी तबाह हो रही है। वह तिल-तिल कर मर रहा है। साहब के डर ने उसके समूचे अस्तित्व को ही निगल लिया है। इसके बावजूद वह उसका विरोध नहीं करता। यह भय उसके मन में इस कदर बैठा हुआ है कि साहब बार-बार उसे काम से निकाल देने की धमकी देता है इसके बावजूद वह उसका प्रतिरोध नहीं करता। अक्सर उसकी 'हां' में 'हां' मिलाते रहता है। प्रकारांतर से लेखक इस कृति के माध्यम से कहना चाहते हैं कि मनुष्य के मन में बैठा हुआ अनावश्यक डर उसकी जिंदगी को तबाह कर सकता है। यह रचना प्रतिपादित करती है कि दफ्तरों में ऊंचे पद पर बैठे लोग अमानवीयता के साथ अपने मातहतों का दोहन करते हैं। लेकिन सच तो यह है कि ज्यादातर शोषण भी उन्हीं लोगों का होता है जो यह सब होने पर भी चुप्पी मार जाते हैं। लेकिन जो लोग विरोध करने से नहीं डरते उनका दोहन आसान नहीं है। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि इस नाइंसाफी के खिलाफ आवाज उठाई जाए।

यह आज के समय की मांग है कि अगर हम इससे मुक्ति चाहते हैं तो आम-आदमी को बिना भयाक्रांत हुए इस दमन के विरूद्ध लड़ना चाहिए। यही इस कहानी का प्रतिपाद्य है।

दरअसल मृत्यु एक ऐसी स्थिति है जहां तक हर जीव को पहुंचना होता है। लेकिन भय एक ऐसा मनोविकार है जो मनुष्य को जीते जी खत्म कर देता है। आपकी 'मौज मस्ती के दिन' व्यक्ति के भीतर बसे मृत्यु भय को उद्घाटित करती है। यह एक साधारण आदमी की दुखगाथा को दर्ज करती है। इसमें आए सुखराम को शहर के एक कार्यालय में साधारण सी नौकरी मिली थी। इस बात की खुशी गांव में रह रहे उनकी घरवाली और मां को मिल जाती है। इस बात से खुश होकर वे गांव में मिठाई भी बाटतीं हैं। एक दिन सुखराम साहब के घर उनका दस्तखत लेने गए थे कि अचानक उनका पैर घर की कुतिया लूसी पर पड़ जाता है। उनके पैर के नीचे आने के कारण लूसी चीखने लगती है। इतने में एक महिला बंगले से बाहर आती है और उन्हें गुस्से से देखती है। इस घटना से वह भयभीत हो जाता है और वहां से भाग जाता है। वहां से जाने के बाद उसे पता चलता है कि उसकी पिंडलियों से खून बह रहा है। वह डर के मारे अस्पताल में जाता है। वहां डॉक्टर उसे कुत्ते की खोज खबर रखने के लिए कहता है क्योंकि कुत्ते के काटने के बाद दस-पंद्रह दिनों तक उस पर नजर रखनी चाहिए। वह लूसी पर नजर रखने के लिए साहब के बंगले के बाहर घूम रहा था कि उन्होंने सुखराम को वहां घूमते हुए देख लिया। आॉफिस में वे सुखराम से पूछते हैं कि "एक बात बताओ, तुमने उसे मारा ही था या कुछ खिलाया भी था।"[51] उन्हें शक होने लगता है कि उसने कुतिया को कुछ खिलाया है जिसके कारण वह बीमार रहने लगी है। लोगों ने सुखराम को तरह-तरह की बातें बता कर डरा दिया था। उसे बताया गया था कि कुत्ते के काटने के बाद कैसे मनुष्य की तड़प-तड़प कर मौत होती है। इस बात से लेकर वह बेहद खौफजदा था और इस बात की फ़िक्र उसे सताने लगी कि कहीं उसे भी उसी प्रकार की भयानक मौत न मिले। वह इसी फिक्रमंदी में

डूबा हुआ था कि कार्यालय से एक बाबू आता है और उसके हाथ में एक लिफ़ाफ़ा थमा कर चला जाता है। उस लिफ़ाफे में सुखराम के निलंबन का आदेश था। कुछ दिनों बाद लूसी मर जाती है और वह दिन-रात इसी सोच में पड़ा रहता है कि क्या सच में उसके पैर के नीचे आने से उस कुतिया की मौत हो गई ? उसके मौत के बाद उसे लगता है कि वह बच सकता है। लेकिन जब उसे यह एहसास होता है कि वह जीवित रह सकता है तो भविष्य में आने वाले खतरों और चिंताओं से वह फिर से बेचैन होने लगता है। उसे लगता है कि एक दुर्लभ अवसर उसके हाथ आया था जो दुर्भाग्य से उसके हाथ से निकल चुका है। उसे शहर में एक चपरासी की नौकरी मिली थी। इस नौकरी की अहमियत उसके जीवन में इतनी थी कि उसे लगता है कि अब उसके जीवन में मौज-मस्ती के दिन आ गए हैं। इस काम पर नियुक्ति के बाद उसने अनेक सपने देखे थे, बहुत सारी इच्छाएं पूर्ण करने के बारे में सोचा था। लेकिन एक छोटी-सी घटना के कारण उसके सारे सपने चकनाचूर हो गए। घटना भी कितनी साधारण थी कि उसके पैरों के नीचे साहब की कुतिया आ गई थी।

यह कथाकृति एक निम्न वर्ग के व्यक्ति की तकलीफ़ को बयान करती है। इसके साथ ही उच्च मध्यवर्गीय लोगों की निम्नवर्गीय समाज के प्रति असंवेदनशीलता को भी दर्शाती है। सुखराम के बॉस को इस बात की जरा भी परवाह नहीं है कि उसे कुत्ते ने काटा है या नहीं। बल्कि वे इस बात से ज्यादा चिंतित हैं कि उनकी कुतिया बीमार रहने लगी है। उन्हें आदमी की इतनी चिंता नहीं है जितनी कि अपने कुत्ते की। इसके अंतर्गत लेखक ने उच्च-मध्य वर्ग के निम्न वर्ग के प्रति अमानवीयतापूर्ण रवैए को दिखाया है। समकालीन युग में शहरीकरण के विस्तार के साथ एक ऐसा नया वर्ग पनपा है जिसे निम्न वर्ग की पीड़ा का बिल्कुल एहसास नहीं है। मनुष्य जीवन की कीमत एक साधारण कुत्ते से भी कम कर आंकी जाती है। उनके लिए घर का कुत्ता ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। किसी साधारण आदमी के जीने मरने से उन्हें कोई

फर्क नहीं पड़ता। सुखराम को निलंबित करने से पहले शायद इस संदर्भ में भी नहीं सोचा गया कि जब उसकी नौकरी नहीं रहेगी तब उसके और उसके परिवार वालों पर क्या गुजरेगी। इसमें मृत्यु भय से पीड़ित एक व्यक्ति की वेदना को भी दर्शाया गया है। एक ऐसा आदमी जिसके जीवन में अभी-अभी खुशहाली ने कदम रखा था कि उसकी सारी खुशियां उससे दूर चली गयीं। कह सकते हैं कि यह कहानी उच्च मध्य वर्ग की निष्ठुरता एवं एक सामान्य आदमी के मृत्यु बोध की पीड़ा को बड़ी ही मार्मिकता से पेश करती है।

'रेहन पर रग्घू' में रघुनाथ का दर्द भी यही है कि उन्हें ताकतवर लोगों के समक्ष झुकना पड़ा। उन्हें एक ऐसी गलती की सजा भुगतनी पड़ी जो उन्होंने की ही नहीं थी। उनकी गलती मात्र यह थी कि उनका बेटा एक होनहार नौजवान था जो पढ़-लिखकर इंजीनियर बन गया था। वे जिस कॉलेज में अध्यापक थे उसी कॉलेज के मैनेजर जिनका वह संस्थान था वे अपनी बेटी का विवाह उनके बेटे से करना चाहते थे। लेकिन संजय की पसंद कोई और लड़की थी। यही वजह है कि उन्हें न चाहते हुए भी सेवानिवृत्ति लेनी पड़ी। इसके बाद उनकी सामान्य-सी जिंदगी में अनेक मुश्किलें उत्पन्न होती हैं। गांव में भी अपने ही भतीजों द्वारा वे पीटे जाते हैं। इस प्रकार वे एक भयग्रस्त वातावरण में जीने के लिए विवश हो जाते हैं।

इसके अलावा शहर में जिस कॉलोनी में वे रहने आए हैं, वहां अक्सर ऐसी वारदातें हो जाती हैं जिसके कारण एक दहशत सबके मन में बैठ गई है। शहर के नए इलाकों में भू-माफियों का राज स्थापित हो चुका है। चोरी, डकैती, हत्याएं, अपहरण जैसे मामले यहां पर रोजाना होते रहते हैं। कालोनी में रहने वाले राय साहब की हत्या की जाती है। जिस व्यक्ति पर उन्होंने विश्वास किया था वही भुटेले गुरु उनकी हत्या करवाता है। यहां पर बापट उनके एकमात्र दोस्त बन गए थे। लेकिन उनका भी कत्ल हो जाता है। इस वारदात की एफ. आई. आर. उन्हीं के गोद

लिए गए बेटे के नाम दर्ज हुई है। इस लड़के को बापट जी ने अनाथालय से गोद लिया था। उस बच्चे को उन्होंने पढ़ाया-लिखाया तथा नौकरी भी दिला दी। लेकिन वह बापट का फ्लैट अपने नाम लिखवाना चाहता था। यही वजह थी कि वह उनका खून करने पर उतारू हो गया। अपने आस पास हो रही इन घटनाओं के कारण रघुनाथ सकते में आ जाते हैं। उनकी मानसिक अवस्था के बारे में उपन्यासकार लिखते हैं – "रघुनाथ ने बिना खाए पिए रात गुजारी। नींद ही नहीं आई! वे कमरे की बत्ती बुझा कर सोते थे, लेकिन आज जलती हुई छोड़ दी। एक बजे रात तक उनकी आँखों के आगे बापट का चेहरा घूमता रहा और कानों में उनके गाने – 'हाए हाए ये जालिम जमाना!' लेकिन इसके बाद इसी के बाद उनके दिल ने कान में 'धक् धक्' के बजाय 'कत्ल कत्ल' धड़कना शुरू कर दिया तो रोशनी का रंग पीला से लाल होने लगा। फिर तो वे जिधर नजरें घुमाते, उधर ही फावड़ा, कुल्हाड़ा, हंसिया, चाकू, कटार, ईंट, पत्थर, तमंचा, उछलते कूदते ललकारते दिखाई पड़ने लगे। थोड़ी ही देर में बल्ब से रोशनी नहीं जैसे खून के फव्वारे छूटने लगे और चारो दीवारें लाल हो गईं! वे उठ कर बैठ गए और खुद से बुदबुदाए – 'इसी दुनिया में कभी हरा रंग भी होता था भाई, वह कहाँ गया?"[52] ऐसे दहशत से भरे माहौल के कारण आम आदमी का जीना दुश्वार हो चुका है। साधारण जनता भयग्रस्त वातावरण में जीवन व्यतीत करने के लिए अभिशप्त है। आम आदमी की इस पीड़ा को रचनाकार ने अपने साहित्यिक कृतियों में वाणी देने की कोशिश की है।

3.8.2 निम्न वर्गीय समाज में व्याप्त विकृतियां

समाज मुख्यतया तीन वर्गों में बटा हुआ है – उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग। इसके प्रत्येक वर्ग में कुछ कमियां पाई जाती हैं। 'हस्तक्षेप' निम्नवर्गीय समाज के विकृतियों से भरी जीवनशैली को प्रस्तुत करती है। इसके अंतर्गत लेखक ने एक गरीब बस्ती का चित्रण किया है जिसके निवासी अक्सर एक-दूसरे से मारपीट करते हैं, लड़ाई-झगड़ा करते हैं, गाली गलौज करते

हैं और आपस में चल रहे लड़ाई-झगड़े को रोकने के बजाय इसे और अधिक प्रोत्साहित करते हैं। इलाके में जब बखेड़ा होता है तब बस्ती के लोग तमाशबीन बनकर तालियां बजाते हैं। यहां पर रहने वाला जंगी जब अपनी घरवाली को घर से बाहर निकाल कर पीटता है तो बस्ती वाले खड़े होकर तमाशा देखते हैं। उन्हें यह सब देखने में मजा आता है। उसी इलाके में रहने के लिए रसूल मियां आए हैं जो यह सब रोकने की कोशिश करते हैं। एक दिन जंगी अपनी औरत को सबके सामने पीट रहा था तब रसूल बीच में हस्तक्षेप करता है और उससे कहता है– "अच्छा तो ख़बरदार जंगी ! रसूल गुस्से से कांपते हुए भीड़ के आगे चला आता है, यार, तू आदमी से न सही, खुदा से तो डर ! तू हैवान है क्या ? ऐ, आखिर तू चाहता क्या है?'

'हट जा रसूल, बीच में न पड़ !' जंगी मुँह में ही गुगुआता है।

'हाँ, ठीक कहते हो चचा, हट जा !' लड़का हामी भरता है।

'अबे, हट कैसे जा ? ऐं !' रसूल लपककर जंगी को पकड़ता है और जबर्दस्ती खींचकर अलग कर देता है।

जंगी औरतों, मर्दो और बच्चों की भीड़ के बीच रसूल के हाथ में अपनी कलाई पकड़ाए एक विजेता की तरह खड़ा है और मुँह से झाग उगल रहा है। उसकी छाती के सभी हाड़ दिखलाई पड़ रहे हैं और फूलते दम के साथ ऊपर-नीचे हो रहे हैं। वे कोई और होंगे जो दिक में औरत की कमाई पर जीते होंगे और उसके तलवे चाटते होंगे। यहाँ तो मुँह नहीं खोला कि जबान खींच ली। वह एक भेड़िए की तरह चारों ओर देखकर गुर्रा रहा है जैसे कह रहा हो कि 'देखो, औरत को किस तरह रखा जाता है ? एक तुम हो कि सहलाते हो ?' उसके गले की सारी नसें तनी हुई हैं। हाथों की भोथरी अँगुलियाँ नाखूनों की तरह पैनी और खड़ी हैं। बीच-बीच में वह जमीन पर पड़ी औरत को देखता जाता है और शान के साथ अपने पैरों के पास थूकता जाता है।

'शाबाश, शाबाश !' लड़का गमछे से जंगी की पीठ, सीने, जाँघ और टाँगों के पसीने पोंछ रहा है, 'ठीक है, थोड़ा सुस्ता ले। और चाची...'

'हट जा चाची के बच्चे !' रसूल उसके हाथ से गमछा छीनकर फेंक देता है। औरत एक हाथ से अपने पेट को पकड़े और जाँघों पर पड़े चिथड़े को सँभालती घिसटती हुई खोह के अन्दर चली जाती है और रोना शुरू करती है। 'हुँह, छिनाल कहीं की !' जंगी धिक्कार के साथ हाँफता है।"[53]

रसूल बस्ती वालों की इन जानवरों जैसी हरकतों को रोकने की भरसक कोशिशें करता है। वह चाहता है कि ये लोग सभ्य मनुष्यों की तरह रहे लेकिन यहां के निवासी एक ऐसे जीवन के आदी हो चुके हैं जिसमें उन्हें इस प्रकार की चीजें करने में मजा आता है। यही सब उनके मनोरंजन का एकमात्र साधन बना हुआ है। अंत में रसूल को घासी टोले से बाहर निकाल दिया जाता है। गंदगी में रहते और नारकीय जीवन जीते-जीते यहां के लोग इसी प्रकार का निकृष्ट कोटि का जीवन जीने के अभ्यस्त हो चुके हैं। वे यह नहीं जानते कि जिंदगी को बेहतर ढंग से कैसे जिया जा सकता है। रसूल जैसा व्यक्ति जब उनकी जिंदगी बेहतर बनाने की कोशिश करता है तो बस्ती वालों को वह किसी खलनायक की तरह लगने लगता है। "रसूल घासी टोले का सिरदर्द है। इसके चलते टोले में मार-पीट, झगड़ा-फसाद सब कुछ मुहाल हो रहा है। पहले की बात और थी। लड़ो, झगड़ो, मारकर हाथ-पैर तोड़ दो, सिर फोड़ लो, रात-दिन बमचख मचाए रहो, मजा ही मजा था। न कोई देखनेवाला, न सुननेवाला। लेकिन अब तो पत्ता भी खड़का कि कमबख्त हाज़िर। पूछो कि जब तुम हमें कपड़े-लत्ते नहीं दे सकते, खाना नहीं दे सकते, सुख-चैन नहीं दे सकते, दवा-दारू नहीं कर सकते, तो तुम्हें यह कहने का क्या हक़ है कि ऐसे नहीं, ऐसे रहो। हम जैसे रहते आए हैं, रह रहे हैं, इसमें तुम्हारे बाप का क्या जाता है ? आटा-दाल भी बेचते तो एक बात थी, उधार और कर्ज भी चल जाता, लेकिन बनाओगे चटाई और ऐसे नहीं, ऐसे रहो।

'कहो अल्ला मियाँ के नातेदार, तुम जो हमारे मामले में टपक पड़ते हो और कहते हो यह न करो, वह न करो। कहते हो न ? तो क्यों कहते हो ?' लड़का अपनी टाँग खुजलाता हुआ बोलता है।

'हमें झगड़ा-फसाद अच्छा नहीं लगता।'

'तुमसे तो कोई करने नहीं जाता।'

'आपस में ही कोई क्यों करें ?'

'क्यों न करे ? तुम कोई इन्दिरा गांधी हो!"[54]

इस रचना के माध्यम से लेखक यह रेखांकित करने का प्रयास करता है कि ऐसे लोगों की मानसिकता को बदलना बेहद मुश्किल है क्योंकि यह जीवन प्रणाली उनके दिलों दिमाग में इस तरह घुस गई है कि उससे बाहर निकलने के बारे में वे सोच ही नहीं पाते। व्यक्ति को उसके इर्द-गिर्द का सामाजिक परिवेश इतना प्रभावित करता है कि इस जंजाल से बाहर निकल पाना उसके लिए लगभग असंभव हो जाता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन परिस्थितियों के बाहर निकलने की मानसिकता भी वह खो देता है।

'आदमी का आदमी' में एक शख्स की बीवी किसी गैर मर्द के साथ भाग गयी है और वह इस घटना के बाद सनक गया है। वह शहर के चौराहे पर खड़े होकर कोयले से लेकर सरकार तक को गालियां देता है। उसके एक हाथ में हमेशा डंडा होता है और दूसरे हाथ से वह लोगों को सलाम ठोकता है। सड़क पर जो दुकानें हैं उन दुकानदारों के सभी प्रकार के छोटे-मोटे काम वह करता है। उनके लिए वह विश्वसनीय बन चुका है। पुलिसवाले भी उसे फटी पुरानी वर्दी पहना कर चौराहे के बीचोबीच खड़ा कर देती है और उससे ट्रैफिक पुलिस का काम करवाती है। वह भी यह काम बड़े ही मुस्तैदी के साथ करता है। चुनाव के दौरान पार्टी के लोग उसका

उपयोग करते हैं। चुनावों के समाप्ति के बाद वह एक परचून की दुकान खरीदता है। वह लोगों को अपना माल उधार भी देता है। एक दिन वह लेखक को अपनी दुकान में बुलाता है और ठंडई पिलाता है। लेखक ने गौर किया कि अब उसके दोनों हाथ सलाम वाले हाथ हो गए हैं। लेकिन उसके बाद वह अस्सी चौराहा छोड़कर नगर के सबसे बड़े चौराहे गोदौलिया की ओर जाता है। अस्सी घाट मुहल्ले पर चर्चाएं हैं कि उसने अपनी दुकान बेच दी है या फिर उस दुकान में जो आदमी बैठा है वह उसी का भतीजा है जिसने दुकान पर कब्जा किया है। वह अब फिर से सनक गया है। अतः इस रचना में जो व्यक्ति आया है वह सनकी तो है लेकिन सांकेतिक रूप में यह आभास भी मिलता है कि वह यह सब जानबूझकर कर रहा है। दरअसल यह रचना एक सामान्य आदमी के आंतरिक दुख का वृत्तांत पेश करती है।

3.9 बेरोजगारी

आधुनिक काल में बेरोज़गारी देश की एक प्रमुख समस्या बन गयी है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद बहुत बड़े पैमाने पर लोगों ने गांव से शहरों की ओर रुख किया। आज़ादी के पश्चात स्थानांतरण की प्रक्रिया और अधिक तेज हो गई। वर्तमान समय में इस समस्या में काफी वृद्धि हुई है। बेरोज़गारी एक ऐसा मसला है जो व्यक्ति को भावनात्मक रूप से ग्रसित करता है। इसका असर केवल उसी व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता जो बेकारी की मार झेल रहा है बल्कि यह उसके परिवार को भी बुरी तरह से प्रभावित करता है।

3.9.1 बेरोजगारी से चिंतित युवा पीढ़ी

आज के समय में बेरोज़गारी एक अहम समस्या के रूप में उभर कर सामने आयी है। विशेषकर युवा पीढ़ी के लिए बेकारी का दंश काफी दुखभरा होता है।

'लोग बिस्तरों पर' सन् 1960 के बाद आए अकहानी आंदोलन के प्रभावस्वरूप लिखी गई रचना है। इसमें युवाओं की रोजगार संबंधी मुद्दों पर विचार किया गया है। इसमें एक बूढ़ा है जिसकी हालत किसी लाश की तरह हो गई है, अर्थात वह अपने घर में पड़ा हुआ है। उसका बेटा शहर की नगरपालिका का कौंसिलर है। एक बेरोजगार युवक उनके यहां नौकरी मांगने के लिए आता है। उस युवक की मुलाकात कौंसिलर के बूढ़े बाप से होती है जो घर में अपने नौकर के साथ अकेला पड़ा हुआ है। घर आए युवक से वह ढेर सारे प्रश्न करता है। बूढ़ा व्यक्ति अकेलेपन की जिंदगी से उकता गया है। युवक से वह जिस प्रकार की भाषा में बात करता है, उससे स्पष्ट है कि जीवन मूल्यों में उसकी कोई आस्था नहीं है। बूढ़े व्यक्ति और युवक के बीच चल रही बातचीत का एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "तुम घूस ले सकते हो?'

'सोचना पड़ेगा,' उसने कहा।

'बेईमानी कर सकते हो ?' उसने सिर झुका लिया।

'मक्कारी ?'

सिर झुका रहा।

गद्दारी?'

उसने सिर उठाया।

'तुम जा सकते हो ?'

वह लाश का चेहरा देखने लगा।

'यू गेट आउट!' चीख के साथ ऐनक नाक से सरककर तोंद पर गिर पड़ी।"[55]

कहानी में अन्य संकेतों से भी स्पष्ट है कि युवा वर्ग बेरोज़गारी के विकराल रूप का शिकार हो चुका था। यह एक ऐसा दौर है जब हमने चीन और पाकिस्तान के साथ दो जंग लड़ी थीं। इन युद्धों के कारण भारत की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर हो गई थी। एक सामान्य-सी

नौकरी पाने के लिए युवा वर्ग किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार था। निरंतर बेकारी और अर्थाभाव के कारण उसका आत्मविश्वास कमजोर पड़ गया था। गरीबी और बेकारी के चलते वह स्वयं को छोटा महसूस करता है। उसके भीतर एक प्रकार की हीनता ग्रंथि पैदा हुई थी। इसी चीज का फायदा कुछ गिने-चुने लोग उठाते हैं। सच्चाई यह है कि पूंजीवाद ने हमारे देश के युवाओं को आत्महीन बना दिया है। मामूली से मामूली नौकरी पाने के लिए युवा वर्ग का बहुत बड़े पैमाने पर शोषण हो रहा है। यह रचना पूंजीवाद के इसी शोषण की ओर इशारा करती है। समाज में एक वर्ग ऐसा है जिसके हाथ में सत्ता और धन की ताकत है जिसके बलबूते पर वह देश के युवाओं के साथ खिलवाड़ कर रहा है। युवावर्ग को पंगु बनाया जा रहा है। यहां संकेतात्मक शैली में युवाओं की बेरोजगारी और उनमें बढ़ रही हताशा की ओर इशारा किया गया है।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में वर्णित धनंजय एक ऐसा पात्र है जिसके हाथ में जीविका-निर्वाह के लिए कोई साधन न होने के कारण वह जीवन में अनेक समझौते करता है। वह किसी भी प्रतियोगी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाता क्योंकि इन परीक्षाओं में सफल होने के लिए जिस योग्यता की आवश्यकता है वह उसके पास नहीं है। लेकिन वह सब कुछ पाना चाहता है। इसके बावजूद वह अपनी जीवनयापन का तोड़ निकाल लेता है। अपने ऐशों आराम को प्राप्त करने के लिए वह एक विधवा औरत के साथ रहने लगता है। उसके जरिए वह जीवन की तमाम जरूरतें पूरी करता है। बेरोज़गारी ने उसे इतना आत्माहीन बना दिया है कि पैसों की प्राप्ति के लिए वह मूल्यविहीन हो गया है। वह इस अर्थ में एक स्वार्थी और चालाक व्यक्ति के रूप में उपन्यास में आया है। वास्तविकता यह है कि वह अपने उदर निर्वाहन के लिए कोई काम नहीं करता। वह आरामतलबी की जिंदगी व्यतीत करना चाहता है। इसके बदले में वह अपना स्वाभिमान भी गिरवी रख सकता है। एक तरह से कहा जाए तो यह नई सदी का

यथार्थ है जिसे लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत किया है। बेरोजगारी की दशा व्यक्ति को किस प्रकार आत्महीन बनाती है इसका यह उत्तम उदाहरण है।

3.9.2 बेकारी के कारण फैला आक्रोश

वास्तविकता यह है कि अगर कोई व्यक्ति जीविका निर्वाहन में असफल रहता है तो उसे अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। आर्थिक बदहाली के कारण वह अनेक मनोविकृतियों का शिकार हो सकता है।

'मुसइ चा' तत्कालीन समय की बेरोजगारी का विदारक चित्र प्रस्तुत करती है। इस समस्या के कारणवश युवाओं की हालत एकदम पस्त हो चुकी थी। देश के शिक्षित नौजवान के लिए यह एक तरह का मोहभंग का युग था। मुसइ चा विश्वविद्यालय से निकलने के बाद दो सालों तक नौकरी के लिए इधर उधर भटकता रहा। लेकिन उसे कहीं भी काम नहीं मिला। वह एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्राचार्य के पास पहुंचा और उनसे कहा कि उसे काम की बेहद जरूरत है। उन्होंने उसे प्रबंधक के पास भेजा, उसने मंत्री के पास, मंत्री जी ने विद्यालय के अध्यक्ष और उस क्षेत्र के विधायक के पास भेजा। इस तरह घूमते-घूमते मुसइ चा फिर से प्राचार्य महोदय के पास आता है और नौकरी देने की याचना करता है। लेकिन वे उससे कहते हैं कि कोई जगह खाली नहीं है तो कैसे वे उसे काम पर रख सकते हैं। इस पर वह कहता है कि उसे क्लर्क की जगह भी मिल जाए तो काफी है। प्रधानाचार्य उसे बताते हैं कि उस पद पर फिलहाल एक आदमी काम कर रहा है। इस पर मुसइ चा का जवाब था कि वह तो काना है। प्रिंसिपल उसे जवाब देते हैं कि काना है तो क्या हुआ काम तो करता है। इस पर मुसइ चा बोलता है कि अगर उसकी दूसरी आंख फोड़ दी जाए तो मुझे रख लेंगे? इस प्रकार उसने क्लर्क की बची खुची आंख भी निकाल ली। उसके बाद वह कथावाचक के पास आता है और

उससे पूछता है कि तुम्हारा लिपिक अस्पताल में है और मर रहा है। उसके बाद वह लेखक को चिट्ठियां भेजता रहता है। जिसमें अक्सर पुलिस के खिलाफ लिखता है। इस बीच कथावाचक को मुसइ चा के बारे में छिटपुट समाचार मिलते रहे हैं। एक समाचार यह भी आया कि उसकी मौत हो गई। एक दिन कथा वाचक गांव से शहर आ रहा था। तब उसने देखा कि कहीं पर एक सभा होने वाली थी। उस सभा में भाषण करने के लिए एक मंत्री महोदय जा रहे थे। जिन्हें बीच रास्ते में ही रोक लिया गया था। वहां पर एकत्रित हुए युवक नेताजी से नौकरी की गुहार लगा रहे थे। उन्होंने देखा कि उस सभा को जो व्यक्ति संबोधित कर रहा था वह और कोई नहीं बल्कि मुसइ चा ही थे।

दरअसल यह कथा रचना देश के युवाओं में बेकारी के कारण फैले गुस्से को व्यक्त करती है। लंबे समय तक हाथ में कोई काम न होने के कारणवश नौजवानों के भीतर गुस्सा और आक्रोश बढ़ता जा रहा था। कहीं न कहीं यह देश के नेतृत्व की अदूरदर्शिता और अयोग्यता का परिणाम भी था। सत्ताधारी वर्ग अपनी प्रजा के प्रति बेपरवाह थी। तत्कालीन राजनीति बड़ी मात्रा में स्वार्थ केंद्रित हो गई थी। जिसमें भ्रष्ट प्रशासन के कारण युवा वर्ग एक त्रासदपूर्ण अवस्था से गुजर रहा था। रोजगार उपलब्ध न होने के कारण उनके भीतर आक्रोश का भाव उभरना स्वाभाविक था। सरकार भी युवाओं के इस रोष का दमन करने की कोशिश में लगी थी। पुलिस की स्थिति का वर्णन करते हुए मुसइचा कहते हैं – "ठीक है कि वह पुलिस है मगर एक बात है। वह तुम्हें आदमी के रूप में नहीं देखना चाहती – रहने भी नहीं देना चाहती। वह हर व्यक्ति से उम्मीद करती है कि वह चोर हो, उचक्का हो, बदमाश हो, कातिल हो...और तुम जब उसके आगे आदमी साबित होते हो तो वह निराश हो जाती है, बेहद दुखी होती है।"[56] मंत्रीजी के रास्ते में जो नौजवान उनका रास्ता रोक कर खड़े हैं वह मंत्री जी को क्या सुझाव देते हैं देखिए – "जनाब ! ये जो लड़के हैं, पढ़ाई-लिखाई करके घर बैठे हैं। कोई

काम नहीं मिल रहा है। सो, इन्होंने मन्त्री के आगे तीन प्रस्ताव रखे हैं – हर एक से पाँच सौ रुपए, एक बोतल शराब और एक नफ़ीस रंडी। उनका कहना है कि इनमें से चाहे जो ले लो । बल्कि तीनों ही ले जाओं मगर रोज़गार दो!"[57] किसी मंत्री महोदय को खुलेआम इस प्रकार का सुझाव देना स्पष्ट करता है कि देश के नेतृत्वकर्ता का चरित्र किस कदर गिर चुका है। जनता इनकी असलियत अच्छी तरह से जानती है। प्रकारांतर से यह करारा व्यंग्य है कि ऐसे-ऐसे भ्रष्ट और नक्कारा लोग ऊंचे पदों पर आसीन हैं जिनकी औकात ही नहीं थी कि वे इन पदों तक पहुंचते। लेकिन यह देश का दुर्भाग्य है कि ऐसे भ्रष्ट और पाखंडी लोग मंत्री बन बैठे हैं और समूचे शासन तंत्र को अपने कब्जे में किए हुए हैं। जाहिर सी बात है कि जब ऐसे लोग उच्च पदों पर आसीन होंगे तो इस राष्ट्रीय विकास कैसे हो सकता है। यही वजह थी कि बेरोज़गारी की समस्या सर्वत्र विकराल रूप धारण कर रही थी। इसी समस्या को इस कथा कृति में दर्शाया गया है।

3.10 युवा वर्ग में व्याप्त असंवेदनशीलता

युवक और युवतियां प्रत्येक राष्ट्र का भविष्य होते हैं। सामाजिक विकास के लिए युवाओं का संस्कारशील और नीतिवान होना आवश्यक है। तरुण वर्ग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने इर्द-गिर्द के समाज के प्रति संवेदनशील हो। अगर वह अपने समूह के प्रति भावप्रवण नहीं है तो ऐसे समाज का पतन निश्चित है। वर्तमान युग में युवाओं में पनप रही असंवेदनशीलता चिंता का विषय बना हुआ है। यह देखा गया है कि अनेक सामाजिक मुद्दों के प्रति हमारा युवा वर्ग संवेदनहीन बनता जा रहा है। विवेच्य कथाकार की साहित्यिक रचनात्मकता में युवा वर्ग में बढ़ रही इस असंवेदनशीलता को बखूबी चित्रित किया गया है।

3.10.1 सामाजिक मुद्दों के प्रति लापरवाही

आज के युग में युवाओं में व्याप्त बेपरवाही समाज के लिए एक चिंतनीय विषय बना हुआ है। लेकिन यह चिन्ता और अधिक गहरी बन जाती है जब सामाजिक मसलों के प्रति भी हमारा युवा वर्ग असंवेदनशील हो जाता है।

विवेच्य साहित्यकार की 'एक बूढ़े की कहानी' बलात्कार की दर्दनाक पीड़ा को सामने लाती है। इस घृणित अपराध को लेकर युवा वर्ग में व्याप्त दयाहीनता को यह कृति रेखांकित करती है। भारतीयों में स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर हमेशा से ही एक जुगुप्सा का भाव रहा है। विशेषकर यौन संबंधों को लेकर समाज में एक प्रकार का रहस्यमयी भाव दिखाई देता है। इसमें एक पांच साल की छोटी-सी बच्ची के साथ बलात्कार हुआ है। इस घटना में शक की सुई उसी के बाप के ऊपर जाती है। संकेत यह है कि बच्ची के बाप ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया है। इस घृणित अपराध के संबंध में एक बूढ़ा बात कर रहा है और उसकी बातें दो युवक सुन रहे हैं। इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना को सुनने के बाद वे दोनों युवक उसकी बातों से परेशान होने के बजाय बूढ़े की बातों को चटखारे लेकर सुनते हैं। वृद्ध की बातों में उन दोनों युवकों को मजा आ रहा है। वे उस बूढ़े से सारी बातें जानना चाहते हैं कि लड़की किस अवस्था में मिली थी तथा उस लड़की के साथ क्या-क्या हुआ था। उन युवकों के अभद्र व्यवहार पर वह बुजुर्ग गुस्सा भी होता है – "फिर क्या, यह कोई किस्सा नहीं है। आँखों देखी एक सच्चाई, अगर यह सचमुच ठीक है तो ! हमारे जमाने में चोरी, छिनाला, धोखाबाजी, बेईमानी – हाँ, बेईमानी भी होती थी और छिनाला भी। सब होता था लेकिन यह नहीं कि तुम सारी इंसानियत को उठाकर ताख़ पर रख दो। सारी नैतिकता और समझ। अगर तुममें भैंसे जैसी ताकत है, जवानी शरीर में अँटाए नहीं अँट रही है, तुम्हारी जाँघों और पुट्ठों में बलगम भर गया है तो उसके लिए और जगहें हैं, और रास्ते हैं..."[58]

"तो यह बात है। बच्ची भी छोकरी है और छोकरी तो छोकरी है ही। तुम्हारे लिए सबकुछ हँसी और मज़ाक की चीज़ है। न कोई शर्म और न लिहाज। न करने के लिए बात है और न सुनने के लिए कान। समझ तो जैसे रह ही नहीं गई। खैर छोड़ो! तुमको इससे क्या मतलब कि मुझे ये बातें कैसे मालूम हुईं !"[59] यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि एक पांच साल की मासूम बच्ची के साथ हुए बलात्कार जैसे घृणित अपराध को लेकर दोनों युवक बेहद संवेदनहीन हैं, वे इस घटना से बिल्कुल विचलित नहीं होते।

यह प्रसंग दर्शाता है कि कैसे हमारे मानस में सेक्स को लेकर कुंठाएं घर कर गई हैं। भारतीय समाज में यौनिकता को लेकर एक प्रकार की जुगुप्सित मनोवृत्ति दिखाई पड़ती है। कहना न होगा कि समकालीन समाज की सोच इस कदर गिर चुकी है कि एक बाप द्वारा बेटी के साथ हुई जबरदस्ती के बावजूद युवकों में इसको लेकर कोई गुस्सा नहीं दिखाई पड़ता तथा इस घटना को लेकर उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। उलटे सारे प्रसंग को लेकर वे रोमांचित हो जाते हैं। प्रस्तुत कहानी में यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि हमारा युवावर्ग सेक्स को लेकर कितना कुंठाग्रस्त हो गया है।

'उपसंहार' में भी युवा वर्ग की संवेदनहीनता को चित्रित किया गया है। कृष्ण ने द्वारका नगरी बसाते हुए जिन आदर्शों की कल्पना की थी वे सारे आदर्श उनकी आंखों के सामने ध्वस्त हो रहे थे। वे देख रहे थे कि यदुवंशियों और भोजवंशजों के बीच कलह चल रहा है। हालात इतने बिगड़ चुके थे कि महिलाओं के साथ बलात्कार जैसी घटनाएं हो रही थीं। उनकी अपनी संतानें बड़े-बूढों के साथ अभद्रतापूर्ण व्यवहार कर रहे थे। उनका पुत्र चारुदेष्ण कृतवर्मा के मुंह पर चांटा मार देता है। जिस तरह से युवाओं का बर्ताव था, उससे वहां के निवासी परेशान थे।

श्रीकृष्ण बिगड़ती हुई स्थितियों को लेकर एक सभा बुलाते हैं और उसमें वे उपस्थित सदस्यों के सम्मुख अपनी चिंताएं व्यक्त करते हैं। द्वारका नगरी में जवान लड़के गलत मार्ग पर निकल पड़े थे और इनमें मानवीय मूल्यों का लोप हो रहा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस समुदाय का युवक संस्कारहीन और मूल्यहीन हो जाता है उसका विनाश अवश्यंभावी है। युवा जन के अभद्रतापूर्ण व्यवहार को देखकर साफ पता चलता है कि यह एक पतनशील समाज है। इन बातों को वर्तमानकालीन संदर्भों में देखें तो कह सकते हैं कि आज हमारे समक्ष यह एक बहुत बड़ी चुनौती बनी हुई है कि कैसे देश का नौजवान नीतिवान और संस्कारी बन सकता है? क्योंकि यही वह वर्ग है जिसे एक लंबा रास्ता तय करना है। देश के भविष्य की बागडोर इन्हीं युवाओं के हाथों में है। अगर युवा असंस्कारशील और मूल्यहीनता की राह पर चलते हैं तो देश का पतन निश्चित है। कहना न होगा कि युवा पीढ़ी के व्यवहार को लेकर इस उपन्यास में चिंताएं प्रकट की गई हैं।

3.10.2 देशज संस्कारों से कटता युवा

भारतवर्ष पर लगभग दो सौ वर्षों तक अंग्रेज़ो का शासन रहा था। ब्रिटिशों की दो सौ वर्षों की गुलामी के पश्चात हमने मुक्ति की सांस ली थी। इस दासता का परिणाम यह हुआ कि भारतवासियों में हीनता की ग्रंथियां भर गई थीं। वे अंग्रेजों के समक्ष अपने आप को बौना समझने लगे थे। यहां तक कि वे अपने लोगों और भाषा को भी तुच्छ समझने पर आमादा हो गए थे। अंग्रेजी भाषा के समक्ष वे अपनी मातृभाषा को हीन समझते थे।

आपका उपन्यास 'अपना मोर्चा' सन् 1967 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हुए भाषा आंदोलन पर लिखा गया है। यह विश्वविद्यालय में प्रवेश कर गए राजनीति के दुष्प्रभाव को भी विवेचित करता है। इस आंदोलन से लेखक किस हद तक प्रभावित रहे हैं, इसका प्रमाण

यह उपन्यास है। इसमें विश्वविद्यालयीन परिसर है जहां अध्यापक, छात्र तथा यहां की सियासत केंद्र में है। लेखक के निशाने पर यहां पढ़ने वाले छात्र भी हैं क्योंकि इन विद्यार्थियों का सामान्य जनता के प्रति रवैया अत्यंत असंवेदनशीलपूर्ण है। इसमें वर्णित प्राध्यापक वर्ग संस्थान में पढ़ने वाले विद्यार्थियों पर तीखा व्यंग्य करते हुए कहता है – "मैं देखता हूं कि उनमें असंतोष बढ़ रहा है – बढ़ता जा रहा है। वे दिल से नहीं पढ़ना चाहते। इसके बावजूद उन्हें लगता है कि पढ़ने के सिवा उनके सामने और कोई चारा नहीं है। वे कक्षा में तरह-तरह की हरकतें करते हैं। हमें छेड़ते हैं, पीछे बैठकर कोई जासूसी किताब पढ़ते हैं, लड़कियों के प्रसंग पर कान खड़े करते और ठहाके लगाते हैं। वे कभी-कभी हमें हूट करते हैं और गैलरी में खड़े होकर कुत्ते-बिल्लियों की बोलियां बोलते हैं।"[60]

ध्यातव्य है कि इन ऊंचे संस्थानों में पढ़ने वाला विद्यार्थी उच्च शिक्षा अर्जित करने के बाद अपने ही देशज संस्कारों से कटता जा रहा था। ऊंची शिक्षा प्राप्त करने वाले युवाओं की हालत यह है कि वह अपने मां-बाप तथा गांव-घर के खिलाफ हो रहा था। हमारे शिक्षित युवक-युवतियां अपने ही लोगों से दूर होते जा रहे थे। उनके लिए रिश्ते-नातों की कोई कद्र नहीं रह गई है, अपने गांव घर के लोग उसे अब गंदे और जाहिल लगने लगते हैं। उच्च विद्या हासिल करने का नतीजा यह हो रहा है कि वह अपने करीबी लोगों के प्रति और अधिक अमानवीय हो रहा है। युवाओं का हाल यह है कि वह एक सामान्य रिक्शे वाले को बिना पैसे दिए चल देता है, जिस दुकान में वह चाय पीता है उसे चाय के पैसे नहीं देता और अगर दुकानदार उससे पैसे मांगता है तो उसे गालियां देता है, वह किसी गरीब की हत्या करके जश्न भी मनाता है। जब वह देखता है कि उसे पढ़ाने वाला अध्यापक बाजार से सब्जी खरीद रहा है या फिर कोयले की बोरी ढो रहा है तो वह उस पर फब्तियां कसता है। मेहनत करने वाले लोगों के प्रति उसके मन में किसी भी प्रकार का सम्मान का भाव नहीं है। उनकी श्रम में कोई आस्था

नहीं बची है। उपन्यास लेखक विभिन्न प्रसंगों एवं संदर्भों का हवाला देकर इन ऊंचे शिक्षा संस्थानों में पढ़ रहे छात्रों के चरित्र को उद्घाटित करते हैं।

इसमें एक उल्लेखनीय चरित्र ज्वान है। ज्वान ग्रामीण जीवन में पला बढ़ा एक साधारण किसान है, लेकिन वह शहरीजिवन के दोगलेपन को भली भांति जानता है। वह विश्वविद्यालय में मौजूद उच्च विद्या विभूषित चरित्रों पर अपना गुस्सा व्यक्त करता है। डॉ. श्यामाचरण दुबे अपने लेख में ज्वान के संदर्भ में लिखते हैं – "ज्वान और उसकी अनुभव-संपन्नता दुनिया के सारे बौद्धिक सिद्धान्तों पर भारी पड़ जाती है। वह पढ़े-लिखे विश्व विद्यालयीन चरित्र की बखिया उधेड़ता है। उसका आंखिन देखा ही अधिक सशक्त होकर उभरता है। वह शहराती छात्रों की आत्मा के चूहों को उनके पिस्सुओं समेत ही बाहर निकाल कर देख लेता है। वह यह भी अनुमान कर लेता है कि उनके जीवित रहने की कुछ गुंजाइश शेष है, यदि नहीं तो फिर उनका मर जाना ही ठीक है। ज्वान का यह मंतव्य भारतीय कृषक की जमीन से विकसित जड़-प्रसूत आधुनिकता की ओर ही संकेत करता है। वह अपने विचारों में गैरराजनैतिक रवैया अपनाता हुआ अपनी सम्पूर्ण प्रतिबद्धता आदमी के प्रति जाहिर करता है। 'मैं तुममें से हर एक को, तुम्हारे भीतर के पिस्सुओं को भी जानता हूँ लेकिन हां, मैं आदमी पर, उसकी शक्ति पर कभी अविश्वास नहीं करता। मैं जानता हूँ कि तुम में से कोई भी ऐसा नहीं है जिसे गरीब कहा जा सके...मगर यह ख़ास बात नहीं है, ख़ास बात है गरीबी की समझ।' ज्वान की भाषा फसलों की भाषा है। ज़िन्दा रहने की भाषा है। भाषा की रक्षा करने वाले जुलूसबाज़ ही ज्वान की भाषा को रौंद रहे हैं। आज ज्वान की यह समस्या अधिक विकराल हो गई है।"[61] विश्वविद्यालय जैसे संस्थानों में पढ़ने वाला युवक आम जनता के प्रति बेहद गैरजिम्मेदाराना रवैया अपनाए हुए है। वह स्वयं को आम जनता से अलग समझता है। उनके भीतर यह अहंकार भरा हुआ है कि वह सामान्य जनता से काफी ऊपर है। अपने श्रेष्ठता के दंभ से ग्रस्त

युवा साधारण आदमी की पीड़ाओं से कटा हुआ है। जबकि उसे इस स्थिति में पहुंचाने के लिए इसी आम जनता का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। युवकों के गैर जिम्मेदाराना और अमानवीय व्यवहार का प्रस्तुत उपन्यास में यथार्थवादी ढंग से रेखांकन हुआ है।

3.11 भ्रष्ट व्यवस्था

भारत जैसे विकसनशील देश में भ्रष्टाचार एक जटिल सामाजिक मुद्दे के रूप में उभर कर आया है। इस सरजमीं पर भ्रष्टाचारियों का फैलाव लगभग हर क्षेत्र में हुआ है। कह सकते हैं कि स्वाधीनता के उपरांत देश का विकास जिस गति से होने की उम्मीद थी वह नहीं हो पाया इसका सबसे प्रमुख कारण स्वार्थी और बेईमान राजनीतिज्ञों में व्याप्त चरित्रहीनता है। आज के समय में राजनीतिक स्थितियां इतनी खराब हो चुकी हैं कि अब सियासत समाज को सुधारने का मार्ग न रह कर दौलत-शोहरत कमाने का जरिया बन गया है। इस क्षेत्र में पंचायत स्तर पर काम करने वाले पंचों-सरपंचों से लेकर बड़े-बड़े नेताओं-मंत्रियों पर भ्रष्टाचारी होने के आरोप लगते रहे है। यहां तक कि समय-समय पर देश के सर्वोच्च पद पर विराजमान प्रधानमंत्रियों पर भी इसके संगिन आरोप लगे हैं। आजादी से लेकर अब तक हम राजनीतिज्ञों द्वारा किए गए अनेक घोटालों से परिचित हैं। गौरतलब है कि ईमानदार, प्रामाणिक राजनेताओं की नस्ल अब अत्यंत दुर्लभ बन चुकी है।

3.11.1 सरकारी कार्यालयों में फैला भ्रष्टाचार

देश में सरकारी कार्यालयों में भ्रष्टाचार का विषैला जीवाणु लगभग किसी कैंसर की भांति सभी जगह फैल गया है। शायद ही कोई सरकारी विभाग होगा जिसमें इस विषैले जंतु ने स्पर्श न किया हो। प्रशासनिक स्तर पर होने वाले भ्रष्टाचार के कारण आम जनता को अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

'माननीय होम मिनिस्टर के नाम' रचना सरकारी कार्यालयों में फैली सड़ांध का चित्रण करती है। नेहरू युग के समाप्ति के बाद सरकारी कार्यालयों में भ्रष्टतंत्र बहुत तेजी से फैलने लगा था। भ्रष्ट व्यवस्था के कारण साधारण जनता तकलीफ़ उठा रही थी। सरकारी दफ्तर भ्रष्टाचारियों के अड्डे बन गए थे। आम आदमी को अपना छोटा-सा काम करने के लिए प्रशासनिक अधिकारियों को घूस देनी पड़ती थी। सरकारी दफ्तरों का सूरत यह थी कि बिना घूस दिए कोई काम नहीं होता था। सरकारी प्रशासनिक प्रणाली में ऊपर से लेकर नीचे तक सभी भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हुए थे।

प्रस्तुत कृति के अंतर्गत सरकारी कार्यालयों में एक नया कानूनगो आया है। उसने अपना पदभार भी नहीं संभाला कि उस प्रदेश के सारे छोटे-बड़े नेता आकर अपनी धाक जमाने की कोशिश करते हैं। कानूनगो पर अपना रौब जमाने के लिए वे तरह-तरह के हथकंडों का इस्तेमाल करते हैं। वे जताना चाहते हैं कि इस प्रदेश में उनका कितना बड़ा रुतबा है। सरकारी शासन तंत्र में कार्यरत ऊंचे ओहदे वाले अधिकारी चारित्रिक रूप में इतने गिर चुके हैं कि गरीब जनता को जाड़े के दिनों में ठंड से बचाने के लिए जलाने के लिए जो लकड़ी दी जाती है उस पर भी अफसर पैसा खा जाते हैं । इन अधिकारियों के भ्रष्टता का एक उदाहरण दृष्टव्य है – "दूसरी वजह है तहसीलदार की बदमाशी। उसे जाड़े में गरीबों के सहायतार्थ सड़क चौराहों पर लकड़ी जलाने के लिए तीन हजार मिले थे, सौ पचास की लकड़ी जलवाया होगा या कौन जाने वह भी न जलवाया हो और अब कहता है कि हर कानूनगो आठसौ-आठसौ के खर्च का हिसाब दें। जो कहा गया कि तीन कानूनगो तो दे सकते हैं, लेकिन एक तो जाड़े में थे ही नहीं, वह कैसे दें तो इसका जवाब है कि चाहे जैसे दें हम नहीं जानते। हां, हमारी मेज पर 25 तारीख को चार बजे तक बिल आनी चाहिए।"[62] इस तंत्र के अंतर्गत लोगों से पैसा हड़पना ही इन

अधिकारियों का एकमात्र लक्ष्य रह गया था। सरकारी महकमों में ईमानदारी, प्रामाणिकता, सच्चाई जैसे मानवीय मूल्य गायब हो रहे थे इसका चित्रण प्रस्तुत कथा रचना में हुआ है। इसमें एक पात्र है मौर्या जो काश्तकारों से पैसा लेकर उनका काम करने की बात करता है। लेकिन सच्चाई यह है कि उसने अब तक सिवाय रौब झाड़ने के कुछ भी नहीं किया। देहात के अनपढ़ खेतिहर पहले तो उसकी बातों में आ जाते हैं। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें समझ में आने लगता है कि नेताजी काम-वाम कुछ करने वाले नहीं हैं। केवल पैसा खा रहे हैं। मौर्या काश्तकारों के सामने कानूनगो से बड़ी-बड़ी बातें कर सामान्य देहातियों को बरगलाना चाहता है। लेकिन अब वे उसकी असलियत अच्छी तरह समझ रहे हैं और वे उसके झांसे में नहीं आना चाहते। अंत में इन सामान्य किसानों में विद्रोह की भावना पनपने लगती है। मौर्या को भी समझ में आने लगता है कि अब ये लोग चुप नहीं रहने वाले तो वह भीतर से डर जाता है। शुरू में वह कलेक्टर को फोन करने की बात करता है, लेकिन बाद में होम मिनिस्टर के नाम पत्र लिखने के लिए बैठता है। यह भी उसकी एक चाल ही है, वह बाकी लोगों को दिखाना चाहता है कि उसकी पहुंच होम मिनिस्टर तक है। अतः यह कहानी सरकारी प्रणाली में आए बेईमानी, फरेब, धोखाधड़ी का चित्रण करती है।

3.11.2 आर्थिक विषमता और भ्रष्टतंत्र

आर्थिक असमानता के कारण भ्रष्ट व्यवस्था को फलने-फूलने का मौका मिलता है। जिन लोगों के पास सत्ता और पैसों की ताकत होती है वे इसके बलबूते अपना काम निकालने में सफल हो जाते हैं। लेकिन इस वृत्ति के कारण आम आदमी बुरी तरह से पीड़ित होता है।

'अधूरा आदमी' में एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उभर कर आया है जिसके भीतर वर्तमान परिस्थितिवश आक्रोश भर गया है। इसमें चित्रित ज्वान की एक आंख नहीं है, उसका एक हाथ

भी नहीं है। उसका समूचा शरीर कमजोर पड़ गया है। इसके बावजूद वह तत्कालीन परिस्थितियों के विरुद्ध डटकर खड़ा है। जहां अन्य लोग सामाजिक समस्याओं के प्रति अपनी आंखें मूंदे हुए हैं वहीं ज्वान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दुरावस्था को लेकर चिन्तित है। उसके दुख का कारण देश में बढ़ती गरीबी है। ज्वान की उद्विग्नता इस बात को लेकर है कि समूचे मुल्क में इतना कुछ गलत हो रहा है और लोग हैं कि इस बात को लेकर निश्चिन्त हैं। इसमें एक प्रसंग है जिसमें ज्वान और लेखक दोनों फिल्म देखने जाते हैं। फिल्म में एक स्थान पर लेखक के मुख से निकल जाता है जरा यह लड़की तो देखना कितनी अच्छी है। इस पर ज्वान गुस्से में कहता है कि क्या मैं कोई चमार हूं कि बैठे-बैठे चमड़ी की तारीख करूं। इस फ़िल्म के संबंध में वह अपनी राय प्रकट करते हुए कहता है – "देश में इतनी अधिक समस्याएं हैं और एक भी इसमें नहीं। सेठों की मोटी-मोटी लड़कियां हैं साली, जो छाती उघारकर और जांघें खोलकर प्यार करती हैं।... इससे अच्छी तो कहीं मुहब्बत और जंग थी जो कोई बात तो कहती है, भले ही उसका सारा विद्रोह और क्रांति बारह स्क्वायर फीट में ही होता हो।"[63]

ध्यातव्य है कि अस्सी के दशक में देश में गरीबी को लेकर बड़ी बहस छिड़ गई थी। देश की तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने गरीबी हटाओ जैसे नारे भी दिए थे। लेकिन उनके द्वारा दिया गया नारा मात्र नारा ही बनकर रह गया क्योंकि दरिद्रता हटाने के लिए जिस प्रकार के कठोर कदम उठाने की आवश्यकता थी वह नहीं उठाए गए। जिस सरजमीं पर भ्रष्टाचार का बोलबाला हो, नेता गण अपने स्वार्थ में अंधे हो, निम्न वर्ग की समस्यायों के प्रति जहां भयानक बेफिक्री का आलम हो ऐसे देश से विपन्नता कैसे हट सकती है? देश में गरीबी का सवाल एक बड़ा सवाल था। यही वजह थी कि ज्वान इस बात को लेकर काफी बेचैन रहते थे। एक स्थान पर वे इस संदर्भ में कहते हैं –"सच कहता हूँ कि गरीबी से मुझे

कोई प्यार नहीं था, मैं उनकी हिमायत दूसरो को साफ-सुथरे लोगों को चिढ़ाने के लिए करता था, उन्हें अपराधी होने का एहसास कराने के लिए। गरीब होना और गरीब रह जाना दुनिया का सबसे जहन्नुम है यार, उसे प्यार करने का अर्थ है, वहीं रहना पसन्द करना और यह कोई कैसे पसंद कर सकता है कि वह भूखों मरे। कर सकता है कोई पसन्द? चोरी, डकैती, झगड़ा, मार-पीट, बेईमानी, झूठ, छिनाला-आदमीयत के ये सारे कोढ़ इसी गरीबी की उपज हैं, फिर कोई कैसे इसे पसन्द कर सकता है? लेकिन धीरे-धीरे, हाँ, धीरे-धीरे मुझे समझ आई कि मैंने न अपना खून किया, न दूसरे का किया, लेकिन आदमीयत को बनाए रखने के लिए इस गरीबी का खून करना चाहिए। और चूँकि 'गरीबी' एक आदमी नहीं है, इसलिए यह काम एक आदमी नहीं कर सकता। और इसका तरीका भी वह नहीं है जो मैं इन बहसों में अपनाता था कि 'आगे बढ़ो । लपक लो' । 'तरीका तो यह है कि तुम खुद आगे बढ़ो और देखो कि किसी के पीछे तो नहीं रह गए हो। यह नहीं कि आगे बढ़ जाओ और बुलाओ कि तुम भी पीछे-पीछे चले आओ। ऐसा चोरों और डाकुओं का सरगना करता है।"[64] उनकी बातों से पता चलता है कि वह चाहते हैं कि देश की दरिद्रता सही अर्थों में समाप्त हो जाए क्योंकि उनके लिए आर्थिक विषमता ही इस देश के पिछड़ेपन का मुख्य कारण है। इसलिए वह हर चीज को आर्थिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करते हैं। अंत में उन्हें एक बात समझ में आती है कि अकेले-अकेले लड़ने से या चीखने-चिल्लाने से समाज में बदलाव नहीं आने वाला। अगर गरीबी से लड़ना है तो सभी निम्न वर्ग के लोगों को एकत्रित आना पड़ेगा। इसलिए वे संगठन का महत्त्व समझने लगते हैं और सभी उपेक्षित, शोषित, निम्न वर्ग के लोगों को संगठीत करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत कृति एक ऐसे व्यक्ति का वृत्तांत है जिसके भीतर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विडंबना को लेकर आक्रोश है और वह इसे बदलने की मंशा पाले हुए है।

3.11.3 राजनीतिक एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचार

देश में राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर होने वाला भ्रष्टाचार बेहद गंभीर विषय बना हुआ है। वर्तमान स्थिति का हाल यह है कि बहुत कम नेता और अधिकारी ऐसे बचे हैं जो भ्रष्टतंत्र से अपने आप को दूर रखते हो।

'कविता की नई तारीख' प्रशासनिक स्तर पर फैले दुरावस्था को उजागर करती है। चरित्रहीन बनकर कुछ लोग सुख सुविधाओं को प्राप्त कर लेते हैं। इसके चलते ईमानदारी से जीवन यापन करने वाले व्यक्ति के मन में भी विचलन पैदा होता है। प्रस्तुत कहानी मनुष्य के इसी विचलन को दर्शाती है। इसकी शुरुआत में कथावाचक अपनी जड़ता, एकरसता से ऊबा हुआ था। इससे निजात पाने के लिए वह अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अपने साली के यहां मेहमान बनने के लिए निकल पड़ता है। उसकी पत्नी हमेशा अपने किस्मत का रोना रोती है। लेखक उसे समझाने की कोशिश करता है कि एक छोटी-सी जिंदगी हमें मिली है जिसे चाव के साथ जीना चाहिए लेकिन वह हमेशा खिन्न रहती है। उसका साढू और साली साल में एक बार उनके यहां आते हैं। वे जब भी आते हैं तब पंद्रह-बीस दिनों के लिए उनके मेहमान बनकर रह जाते हैं। उनकी मेहमान-नवाजी के चलते लेखक के घर का सारा आर्थिक बजट गड़बड़ा जाता है। इसके बावजूद वे लोग वहां आने के बाद उन्हें होने वाली असुविधाओं का भी जिक्र करते रहते हैं। उनके द्वारा दी जाने वाली हिदायतों को लेकर लेखक को लगता है कि "यह है हमारी जेब से सारे पैसे निकलवा लेना, कपड़े उतरवा लेना, फिर गले लगाना और अंत में चूतड़ पर चार लात लगाकर चल देना।"[65]

लेखक रेलगाड़ी से अपने साढू भाई सानू के यहां गया है। रेल से उतरने के बाद साढू भाई अपने साथ कुछ अफसरों को लाया है। सानू उनसे कहता है कि आपने जरा भी अपनी प्रतिष्ठा

का ख्याल नहीं किया। कम से कम स्लीपर में तो आते। सानू को यह बात नागवार लगती है कि उनका साढू सामान्य श्रेणी से सफर कर आया है। सानू के घर आने के बाद चाय पान के समय लेखक के बेटे गुड्डू के हाथ से चाय का प्याला गिर जाता है और चाय उनकी साली रेखा की साड़ी पर गिरती है। वह गुड्डू को तो कुछ नहीं कहती लेकिन अपने नौकर कोमल को एक जोरदार चांटा इसलिए मारती है कि उसने चाय का प्याला इस तरह भर कर क्यों दिया था। कथावाचक अपने साढू का ठाट-बाट देख कर अचंभित है। लेकिन उसकी पत्नी जब से यहां आयी है तब से परेशानी में है। वह देख रही है कि उसका शौहर जो अपनी लेखनी के माध्यम से जिन सुख-सुविधाओं का विरोध कर रहा था उन्हीं चीजों की ओर आज ललचाई हुई नजरों से देख रहा है तब वह उससे कहती है – "दूसरों को देखकर मुझमें हीनता जरूर पैदा होती थी – लेकिन अपने को समझा लेती थी, बाद में तो मुझे उनसे चिढ़ होते-होते नफरत तक हो गई थी। और आज भी है यह।... और यह मैंने तुमसे जाना था, इसमें दो राय नहीं। तुम्हारी बातें सुन-सुन कर। तुम्हारे विचारों की जानकारी के कारण। ...लेकिन यहां जिस तरह मैं तुम्हें उन सारी सुविधाओं की तरफ ललचाए आंखों से ताकते हुए देखती हूं तो सोचती हूं – बुरा न मानना मेरी बात का – सोचती हूं कि कहीं इनके खिलाफ तुम इसलिए तो नहीं थे कि ये दूसरों के पास क्यों है, तुम्हारे पास क्यों नहीं? ...अगर बेईमानी बुरी चीज है तो ये चीजें क्यों अच्छी लग रही हैं और अगर यह सचमुच अच्छी है तो बेईमानी और घूसखोरी कैसे बुरी हैं?"[66]

इसी बीच सानू उन्हें अपने दोस्तों के यहां लंच-डिनर करवाता है। एक दिन अचानक एक अधेड़ आदमी लेखक के पैरों पर आकर गिर पड़ता है। वह उस आदमी को पहचानता है क्योंकि वह शख्स रामलाल है जो कभी उसके बचपन का साथी रहा है। लेखक उससे पूछता है कि इस तरह से वह क्यों गिड़गिड़ा रहा है, उसे पता चलता है कि उसका साढू रामलाल का

अफसर है और उसने रामलाल को सस्पेंड किया हुआ है। लेखक उसे सस्पेंड करने का कारण पूछता है। वह बताता है कि उस पर घूसखोरी करने का आरोप है। वह लेखक को बताता है – "तो जद्दू भैया, मैं घूसखोर हूं ... यही कहा साहब ने, लेकिन कौन घूसखोर नहीं है ? क्या मैंने नया लिया था ? वह नहीं जानते थे ? मैं उनका अर्दली था – उनसे भेंट कराने या मिलवाने के पांच रुपए या दस रुपए ! जैसा असामी हो! बस! वह मज़े में जानते थे। मेरी गलती केवल इतनी ही है कि मैंने उनके भांजे से ले लिया ! मुझे क्या मालूम कि कौन भांजा है, कौन मामा? बस सस्पेंड! मैंने माफी मांगी, गिड़गिड़ाया कसमें खाईं...।"[67]

एक रात बारिश में भीगते हुए दोनों बीयर पीने बैठते हैं। यह इस कहानी का महत्त्वपूर्ण मोड़ है जहां लेखक और सानू भरपुर बातें करते हैं। इन बातों के दरमियान वह लेखक को बताता है कि किस तरह से वह बेईमानी और चोरी करता है और कैसे नेताओं, अफसरों के बदौलत बेईमानी फैल रही है। यह सब करने के बावजूद लोगों ने उसे एक सख्त अफ़सर होने का प्रमाण पत्र भी दे दिया है। वह कवि सम्मेलन आयोजित करता है और चंद पैसों की खातिर कवि अपना सम्मान गिरवी रखते हैं। वह लेखक से कहता है "आपको मालूम है हम अफसरों में कवि का क्या मतलब है? कवि का अर्थ है फटीचर, चूतियां, कमजोर, निठल्ला, चिरकुट बुरा न मानेंगे आप !"[68] वह कथावाचक को कवियों-साहित्यकारों की ओछी हरकतों के बारे में बताता है कि वे कैसे पैसे के लिए मोहताज रहते हैं। एक तरह से वह लेखक को ही अपमानित करता है उसकी बात से खफा होकर लेखक जोर से चीखता है और गिलास, बोतल, सिगरेट, प्लेट और दूसरे सारे सामान के साथ फर्श पर लुढ़क जाता है। दूसरे दिन वह स्वयं को एक कमरे में बेड पर लेटा हुआ पाता है। इस बीच उसकी पत्नी और रेखा के बीच बातचीत हो रही है। इस वार्तालाप में रेखा अपनी बड़ी बहन को ऐसी-ऐसी बातें सुनाती हैं जिससे कि वह अपने आप को हीन समझे। वह अपने बड़प्पन की बातें करती है। उसकी बातें सुनने के बाद उसकी पत्नी

ठंडे स्वर में अपने बहन को बताती है – “मेरी छोटी बहन ! यह आदमी मेरा पति, मेरे पाँच बच्चों का बाप जो घायल भेड़िए की तरह तुम्हारे डनलप के गद्दे पर बेतरतीब पसरा हुआ है, जिसे थोड़ी देर पहले तुमने काफ़ी खरी-खोटी सुनाई है, जिस पर किसी ज़माने में तुम मरती थीं- नहीं, मुझे कह लेने दो, मुझे सब मालूम है और तुम बहुत कुछ कह चुकी हो - और जिस पर आज भी मरनेवालों की कमी नहीं है - यह आदमी! मुझे अचरज है कि रात-भर इस सारी रात अपमान सहता हुआ कैसे चुप रहा है ? जिस आदमी ने सबकुछ बर्दाश्त किया है लेकिन अपमान नहीं - यह क्यों चुप रह गया - मुझे आश्चर्य है। आज तक किसी से नहीं कहा मैंने, लेकिन तुमसे कह रही हूं कि शादी के बाद जब मैं इसके घर गई तो पहली ही शाम - मैं अपने बच्चों की कसम खाकर कहती हूं कि पहली शाम इसने मुझसे बीस रुपए माँगे थे - बीस रुपए और वह भी उधार ! दोस्तों की ज़िद पर उन्हें सिनमा दिखाने के लिए ! मेरे मुँह से निकला, 'अगर इतने ही कंगाल थे तो मुझे क्यों ले आए?'...हे बच्चों, तुम लोग बाहर जाओ ! जाओ बेटा ! बाहर खेलो... हां ? तो मुझे कहना नहीं चाहिए था लेकिन मुँह से निकल गया तो निकल गया और इधर देखो ! मेरे बाएं गाल पर आज भी एक उँगली का निशान है और यह भी बताऊँ कि जिसे 'सुहाग-रात' कहते हैं, उसे मैंने ब्याह के तीन महीने बाद जाना।...और तब से मैं बराबर देखती रही हूँ कि इसने कभी किसी का रोब नहीं सहा, किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया, किसी की खुशामद नहीं की, किसी का ताना नहीं सहा - और आज वही आदमी यहाँ लाश की तरह पड़ा हुआ है ? क्यों हुआ ऐसा ? ...मैंने इस मर्द के साथ सोलह साल गुजारे हैं...सारी जवानी गुजारी है इसके साथ और मैंने किसी नशे का असर नहीं देखा इस पर - चाहे शराब हो, चाहे गाँजा, चाहे भाँग, चाहे दौलत ! हाँ, दौलत !

यह धनी से धनी और दबंग से दबंग आदमी के साथ ऐसे पेश आता रहा है जैसे वह कौड़ी का तीन हो ! मेरे कहने का यह अर्थ क़तई मत लेना कि मैं इसके या अपने अपमान का बदला

ले रही हूँ। न, ऐसा मत सोचना । बदला मैं तुमसे क्या लूंगी जिसे यही नहीं मालूम कि उसके बाप को गुज़रे कै महीने हो गए और भाई घर पर है या जेल में ? नहीं, पहले पूरी बात तो सुनो ! मेरी मुश्किल यह है सिर्फ कि इसने खुद अपनी ठोड़ी क्यों फोड़ ली? जान-बूझकर क्यों फोड़ी? क्या इसलिए कि यह सानू का कुछ नहीं कर सकता था? क्या इसलिए कि वह मेरा रिश्तेदार और तुम्हारा पति था? क्या इसलिए कि शुरू से ही तरह-तरह की फरमाइशें करके, यह माँग के, वह माँग के, दूसरों की देखा-देखी अपने भीतर सपने जगा के, औरों के आगे इसे नाचीज ठहरा के मैंने इसे कुन्द बना दिया? इसकी धार भोथर कर दी?...वरना तुम तो तुम, ये इत्ते से बच्चे तक इसकी दाढी पर फूल खिलाक़र चले जाएँ और यह...यह...।"[69]

दरअसल प्रस्तुत रचना मनुष्य के विचलन से गुजरते हुए मुक्ति की बात करती है। कहानी में चित्रित लेखक अपने साढू के वैभव को देखकर विचलित होता है। उसकी पत्नी को यह एहसास हो जाता है कि उसने भी तरह-तरह की मांगे रखकर अपने पति को कमजोर करने का प्रयास किया है। साढू के घर आने के बाद उसकी शानो शौकत को देखकर लेखक के मन में विचलन पैदा होता है। लेखक ईमानदारी की जिंदगी जीते आया है। अच्छी खासी पगार पाने के बावजूद ऐसी अनेकानेक चीजें हैं जो उसके पहुंच के बाहर हैं। लेकिन उसका साढू कम तनख्वाह पाने के बावजूद तमाम सुख-सुविधाओं का लाभ उठाता है। यह सब वह बेईमानी के बलबूते पर करता है। साढू की शान-शौकत देखकर लेखक के मन में उन चीजों के प्रति आकर्षण निर्माण होता है। काशीनाथ सिंह की कलात्मकता की खूबी यही है कि साढू के शोहरत से लेखक के मन में जो विचलन पैदा हुआ है उसे वे कहीं भी छिपाने की कोशिश नहीं करते बल्कि उस मानसिक विचलन को सहज रूप में उजागर करते हैं। उसने इन चीज़ों के प्रति आकर्षण को लेकर अपने मन पर नियंत्रण रखा था। लेकिन कुछ समय के लिए ही सही इस ऐश्वर्य का उपभोग वह करना चाहता है। शायद पत्नी के व्यवहार के कारण उसके भीतर

यह विचलनता पैदा हुई हो। लेकिन अंत में उसी के कारण इस भटकन से वह मुक्ति पाता है। साढू भाई के घर में रहते हुए वह अत्यधिक तनाव और घुटन महसूस कर रहा था। वह अपने आप को छोटा भी महसूस करने लगा था। उसकी परेशानी यह थी कि कुछ कह भी नहीं सकता था क्योंकि साढू और साली उसके धर्मपत्नी के रिश्तेदार थे। अंत में लेखक का सूरज को देख कर चिखते हुए 'गुड मॉर्निंग सर' कहना दर्शाता है कि उसे उस घर से निकलते हुए कितनी खुशी हो रही है। एक तरह से वह स्वयं को मुक्त अनुभव करता है। मानसिक तनाव से मुक्ति उसके लिए बेहद अहमियत रखती है।

गौरतलब है कि भारतीय राजनीति में सातवें दशक के बाद नेतृत्वकर्ता के चरित्र में गिरावट आती गयी। सियासत अधिक से अधिक स्वार्थ केंद्रित होती गई। चुनाव में एनकेन प्रकारेण जीतना ही राजनयिकों का मुख्य मकसद बन गया था। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जहां देश का नेतृत्व करने वाले महानुभावों ने ईमानदारी, प्रामाणिकता और निस्वार्थ भाव से देश की सेवा की थी, वही स्वातंत्र्योत्तर काल में बदलाव दिखाई देने लगा था। सन् सत्तर के बाद नेताओं की एक ऐसी जमात पैदा हुई जिनका मकसद केवल अपने स्वार्थों को साधना था। ऐसे स्वार्थी और पाखंडी किस्म के नेतृत्व के कारण समूचे देश में भ्रष्टाचारियों का बोलबाला होने लगा था। भारतीय सियासी दुनिया में ऐसे लोग भी प्रवेश कर गए थे जो अपराध की दुनिया में सक्रिय थे। इसीलिए देश में गड़बड़झाला तेजी से बढ़ने लगा था। इस संदर्भ में 'काशी का अस्सी' उपन्यास का एक उदाहरण प्रस्तुत है –"अन्दर जाने के बाद पांडेजी का मूड बदला ! बैठने के बाद बोले- 'गुरूजी, गौर किया आपने ? राजस्थान, दिल्ली, मध्य प्रदेश, मणिपुर-इन चार प्रान्तों में चुनाव हो, गए। हर पार्टी ने रुपए लेकर सीटें बेचीं। यह भी पता नहीं किया कि उसके घर के वोट भी उसे मिलेंगे या नहीं। इन्हीं में कुछ राष्ट्रीय क्या, अन्तर्राष्ट्रीय नेता भी थे जो अपनी ही विधानसभा के 180 बूथों में से 60 से अधिक के बारे में नहीं जानते ! लेकिन

इन्हीं में से कई जीते भी क्योंकि इनकी नेतागिरी प्रेस पालिटिक्सवाली नेतागिरी है। ये अखबारों में अच्छा-से-अच्छा बयान देते हैं। इनके चौथे ग्रेड के वे मित्र हैं जो भ्रष्ट, खूनी और दलाल हैं। ये उनके लिए जगह-जगह सभाएँ आयोजित करते हैं। और उस सभा में ऐसे ही लोगों के खिलाफ भाषण करते हैं। ये सुनते हैं, तालियाँ बजाते-बजवाते हैं और 'जिन्दाबाद' बोलते हुए अगले सभामंच के लिए चल देते हैं-अपनी कारों और जीपों के काफिले के साथ !"[70]

रामबचन पांडे का यह वक्तव्य राजनीतिक दलों में फैले भ्रष्टतंत्र पर निर्ममता से प्रहार करता है। यथा – "भ्रष्टाचार लोकतंत्र के लिए ऑक्सीजन है, है कोई ऐसा राष्ट्र जहां लोकतंत्र हो और भ्रष्टाचार न हो ? जरा नजर दौड़ाइए पूरी दुनिया पर, ये छोटी-बड़ी राजनीतिक पार्टियां क्या हैं? अलग-अलग छोटे-बड़े संस्थान, भ्रष्टाचार के प्रशिक्षण केन्द्र, सिद्धान्त मुखौटे हैं जिनके पीछे ट्रेनिंग दी जाती है। आप क्या समझते हैं, जो आदमी चुनाव लड़ने में पन्द्रह-बीस लाख खर्च करेगा वह विधायक या सांसद बनने पर ऐसे ही छोड़ देगा आपको ? देश को ? चूतिया है क्या?

'फिर राजनीति का मतलब क्या हुआ आचार्य ?' साथ में खड़े शैलेन्द्र ने ऐसे पूछा था जैसे चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से पूछा हो।

'राजनीति बेरोजगारों के लिए रोजगार कार्यालय है, इम्प्लायमेंट ब्यूरो। सब आई.ए.एस., पी.सी.एस. हो नहीं सकता। ठेकेदारी के लिए भी धनबल-जनबल चाहिए, छोटी-मोटी नौकरी से गुजारा नहीं। खेती में कुछ रह नहीं गया है। नौजवान बिचारा पढ़-लिखकर, डिग्री लेकर कहाँ जाए ? और चाहता है लम्बा हाथ मारना। सुनार की तरह खुट-खुट करनेवालों का हश्र देख चुका है, तो बच गई राजनीति। वह सत्ता की भी हो सकती है, विपक्ष की भी और उग्रवाद की भी। समझिए कि दादागिरी यहाँ भी है, उठा-पटक है, चापलूसी है, हड़बोंगई है, तरबली है, संघर्ष है लेकिन यह कहाँ नहीं है ? पाना और खोना किस धन्धे में नहीं है ?'

तो रामवचन पैंसठ के जमाने के एम.एस-सी. हैं और पिछले तीस वर्षों से राजनीति में बेरोजगार हैं। वे इस दौरान होनेवाले सभी चुनावों-चाहे संसद हो, चाहे विधानसभा के तीन-चार महीने पहले गम्भीर हो जाते थे। अबकी भी हो गए थे। टिकट की आशा में। लोगों पर उलटी-सीधी टिप्पणी बन्द कर दी थी। सबको मिलाकर चल रहे थे कि कौन जाने टिकट मिल जाए तो यही लोग काम आएंगे।

कहते हैं, टिकट देने दिलाने की कला में माहिर एक सज्जन ने पांडेजी से पूछा था एक बार –

'अच्छा बोलो, किस पार्टी का टिकट ल्योगे ?'

'तोरी जेब में है का ?'

'हाँ है। इसलिए कहता हूँ, कांग्रेस का ल्योगे?'

'कांग्रेस से कौन लड़ना चाहेगा जी ?'

'तो भाजपा तो नहीं देगा तुम्हें !'

'उससे टिकट ही कौन माँग रहा है ?'

'सपा का ल्योगे ?'

'हाँ सपा के बारे में सोच सकता हूँ।'

अस्सी की टिप्पणी थी-छिनरौ के घर बैठे टिकट लोगे ? हाथ-पाँव हिलाओगे नहीं, कहीं जाओगे नहीं, किसी से कहोगे नहीं, कुछ करोगे नहीं, गाँठ से एक दमड़ी खोंगे नहीं, मुलेमा (मुलायम) ऐसे टिकट दे देगा? चूतिया है वह !"[71] इस प्रकार राजनीतिज्ञों में व्याप्त भ्रष्टता को यह उपन्यासिका समूचे यथार्थ रूप में विवेचित करती है।

3.12 प्रेम की अभिव्यक्ति

मनुष्य जीवन में युवावस्था में किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम का भाव जागृत होना स्वाभाविक है। विवेच्य साहित्यकार ने प्रेम के इस नाजुक विषय पर बहुत कम लिखा है।

3.12.1 किशोर प्रेम की अभिव्यंजना

मनुष्य जीवन में किशोरावस्था एक ऐसा मोड़ है जिसमें उसके भीतर नाजुक भावनाओं का प्रस्फुटन होना स्वाभाविक है। प्रेम की कोमल भावनाओं को वह अपने भीतर पहली बार अनुभव करने लगता है।

लेखक की 'बैलून' किशोर-प्रेम की अभिव्यक्ति की कहानी है। इसमें एक नव युवक है जो एक युवती से प्रेम करता है। शुरू-शुरू में वह अपनी प्रेमिका को केवल प्रेम भरी नजरों से देखता है। लेकिन वह चाहता है कि इस देखा देखी के आगे कुछ और भी हो। एक दिन वे दोनों अपने-अपने घरों में बैठकर बत्ती का स्विच ऑन-ऑफ करने लगते हैं। इस प्रकार वे संकेतों के माध्यम से एक दूसरे से अपनी प्रेम की भावना प्रकट करते हैं। लेकिन इसका मजा भी कुछ ही दिनों तक बना रहता है। दोनों इस क्रिया से ऊब जाते हैं। कुछ दिनों बाद युवक रास्ते में एक बैलून खरीद लेता है और अपनी प्रियतमा की राह देखता है। एक दिन जब उसकी माशूका रास्ते से गुजरती है तब उसे देखकर वह बैलून को चूम लेता है, इस पर वह शरमा जाती है और वह खुश हो जाता है।

एक बार गांव में महीने भर का जलसा लगा हुआ था । कुछ दिनों बाद जलसा खत्म हुआ, सभी लोग जलसे से लौटने लगे थे तब उसने डरते हुए एक बच्चे के हाथ में बैलून थमा दिया। बच्चा बैलून उस लड़की को देता है। इस बात पर वह बहुत खुश हो जाती है। दूसरे दिन उसने देखा कि वह बैलून के साथ खेल रही है, उसे चूमती है, अपने सीने से लगाती है। इसके बाद वह शाम का इंतजार करते रहता है। वह देखता है कि शाम के वक्त वह उस बैलून को लेकर आ रही है। प्रेमी एक गली के अंधेरे में खड़े होकर उसका इंतजार कर रहा है।

लड़की उसके पास आती है और कहती है आप अपना बैलून वापस लीजिए। वह उसके हाथ में बैलून थमा कर वहां से चली जाती है। युवक घर आकर सोचता है कि वह अपनी प्रेमिका से प्रेम भरी बातें करेगा। वह अपनी माशूका से मिलने भी जाता है लेकिन जो वह कहना चाहता था वह कह नहीं पाता और हकला कर रह जाता है। फिर दोनों अपने-अपने घर चले जाते हैं। सुबह जब वह जगता है तो उसे लगता है कि उस लड़की में उसकी कोई रुचि नहीं रह गई है। "सुबह मुझे लगा, उस लड़की में मेरी कोई रुचि नहीं रह गई है। लेकिन मैं इसे महसूस करूं, इसके पहले ही मैंने पाया कि उसकी भी मुझमें कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है।"[72] दरअसल यह रचना किशोर प्रेम की मानसिकता को उजागर करती है। आज के युग में स्थितियां ऐसी बन गई है कि प्रेम-भावना में स्थिरता नहीं दिखाई पड़ती। युवावर्ग के लिए प्रेम मात्र एक एडवेंचर की वस्तु बनती जा रही है। प्रेमी-प्रेमिका चाहते हैं कि उनकी इस भावना में हमेशा कुछ न कुछ घटित होता रहे। जब वे देखते हैं कि इस प्रेम भावना में कुछ हरकत नहीं हो रही तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। दोनों को एक दूसरे में कोई रुचि नहीं रह जाती।

प्रकारांतर से कथा लेखक कहना चाहते हैं कि नवयुवकों के लिए प्रेम के मायने काफी सतही हैं। उनके इस प्रेम में सच्चे प्रेम की गहराई नहीं है। कहना न होगा कि सच्चा प्रेम अपनी मूल्यवत्ता खोते जा रहा है। यह मात्र बाहरी शारीरिक सुंदरता तक ही सीमित रह गया है तथा मन की अतल गहराइयों में नहीं उतर पाता। प्रीति में जिस धैर्य की आवश्यकता होती है वह आजकल के प्रेमियों में एकदम से गायब है।

'पहला प्यार' एक किशोरावस्था में आगमन करने वाले युवक के पहले प्रेम का किस्सा है। इसमें एक किशोर के मन में उपजे स्त्री के देह के प्रति आकर्षण को दर्शाया गया है। शशांक पांडे जिसे फत्ते गुरू भी कहा जाता है को एक लड़की से प्रेम हो जाता है। फत्ते गुरु

ब्राह्मण कुल से संबंध रखते हैं। उन्हें जिससे प्रेम हुआ है वह चिपरी पाथने का काम करती है। फत्ते गुरु उस युवती के शरीर को देखकर आकर्षित होते हैं। "उनसे रहा नहीं गया और फिर जाकर खिड़की के पास खड़े हो गए। अबकी उनकी नजर उसकी पिंडली पर गई – गोरी और मांसल पिंडली पर। उसने कछाना मार रखा था, साड़ी के अगले हिस्से को बटोरकर लाँग की तरह पीछे खोंस रखा था लिहाजा गुराई की दो लहरें पिंडलियों के ऊपर जाकर जाँघ के पिछले हिस्से में गुम हो रही थीं। 'येह ! येह ! येह!' उनके होंठों से इसी प्रकार के निरर्थक शब्द निकलते रहे।"[73] फत्तेगुरु उस लड़की के देह से आकर्षित हो जाते हैं और उनके भीतर उसके प्रति अनुराग की भावना उत्पन्न होती है। वह उस छोरी को चाहने लगे थे। उनके बड़े भाई भोला एक डाकिया हैं। दोपहर में वे घर आते हैं और उस लड़की से जिस अंदाज़ में बातें करते हैं उन बातों को सुनकर फत्ते गुरु का जी मसोस कर रह जाता है। अपने भाई की बातों में उन्हें फूहड़ता नजर आती है। भैया जब उस लड़की को बीड़ी देते हैं तो फत्ते उसे बीड़ी पीने से मना करते हैं। भोला जिस तरह से उसके साथ हरकतें कर रहे थे उन्हें देखकर उसका मन विचलित हो रहा था। अंत में उसके भैया उसे भरी दुपहरी में घर से बाहर जाने के लिए कहते हैं। भोला अपने छोटे भाई को वहां से हटाना चाहते थे। फत्ते बड़े ही असहाय भाव से घर के बाहर निकलते हैं। घर से बाहर जाकर वे अत्यंत दुखी होकर दौड़ने लगते हैं। इस प्रकार फत्ते गुरु के प्रेम का अंत बेहद दुखदाई ढंग से होता है।

यह कृति किशोर मन में उपजे स्त्री के देहाकर्षण को बड़े ही मार्मिक रूप से प्रस्तुत करती है। किशोरावस्था में निर्मित प्रेम वर्ण-जाति, वर्ग जैसी बातों से कोई मतलब नहीं रखता। फत्ते ने जब एक साधारण-सी चिपरी पाथने वाली लड़की से प्रेम किया था तब उनके मन में जात-पात की बात नहीं आयी। उनके जातीय संस्कार और उस लड़की के संस्कारों में भी काफी अंतर है। उसे यह कतई पसंद नहीं कि वह जिस लड़की से प्यार करता है वह बीड़ी पीती है। उसके

बातचीत करने का तरीका भी उसे नहीं सुहाता। इसके बावजूद वे उससे आकर्षित हो जाते हैं। इसके अंतिम दृश्य में अपने भैया द्वारा फत्ते गुरु को घर के बाहर भेज देना संकेत करता है कि भैया ने उस लड़की के साथ अकेले में शारीरिक संबंध स्थापित किए होंगे। इस बात का कुछ-कुछ अंदाजा फत्ते गुरु को भी लग जाता है। इस बात से उसका किशोर मन टूट जाता है। कह सकते हैं कि एक ओर उसका किशोर मन है तो दूसरी ओर जीवन का कटु यथार्थ। उसका पाला अभी तक जिंदगी के कठोर यथार्थ से नहीं पड़ा है। अभी वह कोमल भावनाओं को मन में संजोए हुए हैं, अपने मधुर सपनों में खोए हुए हैं कि अचानक उन भावनाओं को गहरी ठेस लग जाती है। रचना स्पष्ट संकेत करती है कि समाज में कैसे एक किशोर मन की कोमल भावनाएं टूट कर आहत हो जाती हैं।

3.12.2 आधुनिक ढंग का प्रेम

अद्यतन युग में प्रेम के मायने बदल गए हैं। इस जटिलताओं से भरे युग में प्रेम-भावना इतनी सरल और सहज नहीं रही। स्त्री-पुरुष के प्रेमपूर्ण संबंधों में अनेक प्रकार की उलझनपूर्ण स्थितियां उत्पन्न हुई हैं।

रचनाकार की 'बीमारी' पति-पत्नी के संबंधों की दास्तान है। पति अपने कामों में व्यस्त है और उसकी बीवी घर के रोजमर्रा के कामों से ऊबती रहती है। उसकी एक छोटी-सी इच्छा है कि वे दोनों किसी दिन सारनाथ के लिए घूमने के लिए चलेंगे। लेकिन उसकी यह इच्छा भी पूरी नहीं हो पाती। इस कारण वह हमेशा उदास रहती है और इस वजह से वह बीमार पड़ने लगती है। उसका चेहरा पीला-मुरझाया रहता है, होठ सूख जाते हैं, उसकी आंखों के नीचे नीलापन दिखने लगता है। इसलिए पुरुष उसे डॉक्टर को दिखाता है। डॉक्टर कहता है कि उसे कोई बीमारी नहीं है और कुछ गोलियां लिख कर देता है। घर जाते हुए उनका रिक्शा एक जगह पर

रुकता है। वहां काफी लोग बस के लिए खड़े थे। उन्हें पता चलता है कि ये सारे लोग सारनाथ के लिए जाने के लिए रुके हैं। वह बीवी से कहता है कि अगर तुम ठीक हो जाती तो हम कभी सारनाथ चलेंगे। इस बात को सुनते ही पत्नी तुरंत खिल जाती है और उसे लगता है कि वह एकदम ठीक हो गई है। उदाहरण स्वरुप – "सोनी पहले कभी सारनाथ जाना चाहती थी। मुझे स्मरण आया। मैं नहीं जा सका था। मैंने उसे देखा। देखता रहा। सोचा, पता नहीं सोनी का अब क्या होगा? मैं दुखी हो आया, 'तुम अच्छी हो जाती तो किसी दिन सारनाथ हो आते!' क्या सच कह रहे हो?' उसने सिर उठाया!

मैं हँसा-उदास हँसी, 'पगली, पहले अच्छी तो हो जा!'

'मुझे हुआ क्या है? ठीक तो हूँ?' उसकी आँखें चमक उठीं ईश्वर करे, तुम्हें कुछ न हुआ हो!' मैंने उसे धीरज बँधाया ! कुछ देर तक चुप्पी रही।

'तो कब चल रहे हो?' वह फिर बोली।

मैं मुस्कराया, 'मेरा क्या है? तुम अभी ठीक हो जाओ, अभी चलूँ। कल हो जाओ, कल। परसों हो जाओ, परसों।'

'तो चलो न, कल चलें!'

'कल?' मैं चौंका।

लेकिन सोनी अपनी माँग के साथ पूरी स्वस्थ हो आई थी। उसके चेहरे पर बीमारी का कोई लक्षण न था। पीड़ा की कोई रेखा न थी। वह प्रसन्न थी और मुझे जोह रही थी।

'क्यों, तुम नहीं चाहते, मैं कल तक अच्छी हो जाऊँ?' उसका सारा प्यार स्वर में भर आया।"[74] अतः पति द्वारा सामान्य-सी इच्छा पूरी हो जाने पर उसकी सारी उदासी दूर हो जाती है और उसे लगता है कि वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गई है। उसके चेहरे पर बीमारी का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता।

इसमें यह बताने की कोशिश की गई है कि इच्छाओं के दमन के कारण व्यक्ति मानसिक रूप से बीमार पड़ने लगता है। मन में होने वाली व्यथा का परिणाम उसके शरीर पर भी पड़ने लगता है। कहानी में स्पष्ट संकेत है कि मनुष्य को अपनी रोजमर्रा की जिंदगी से बाहर निकल कर कुछ अलग करना अत्यंत जरूरी है वर्ना एकरसता से भरी जिंदगी उसके जीवन के रस को सोख लेती है। पारिवारिक जीवन में खुशहाली के लिए पुरुष का भी यह कर्तव्य है कि वह अपनी स्त्री की सामान्य इच्छाओं का ख्याल रखें। इन इच्छाओं को नजरअंदाज करने का मतलब है पारिवारिक सुखों से महरूम हो जाना। पारिवारिकता के इसी सत्य की ओर यह कथा संकेत करती है।

'रेहन पर रग्घू' में आधुनिक युग के स्वार्थी प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। प्रस्तुत कथाकृति में वर्णित संजय एक सॉफ्टवेयर इंजीनियर है। उसके लिए प्रेम शब्द का मतलब है अपना करियर। यथा – "संजय ने प्यार किया था सोनल को! यह प्यार किसी सड़कछाप टुच्चे युवक का दिलफेंक प्यार नहीं था, इसमें गुणा भाग भी था और जोड़ घटाना भी! जितना गहरा था, उतना ही व्यापक! सोनल संजय के प्रोफेसर सक्सेना की इकलौती बेटी थी! थ्रू आउट फर्स्ट क्लास, नेट और दर्शन से पीएचडी। नौकरी तो पक्की थी बनारस के विश्वविद्यालय में जहाँ उसके मामा कुलपति थे – लेकिन उसमें अभी देर थी; तब तक शादी का इंतजार था!
शादी के आड़े आ रहे थे उसके ओठों से बाहर आ गए दाँत और चिपटी नाक जिनकी क्षतिपूर्ति वह अपने सर्टिफिकेट से करती थी! रही सही कसर पूरी कर रही थी सक्सेना की फैलाई हुई यह अफवाह – कि उन्हें एक ऐसे जहीन साफ्टवेयर इंजीनियर युवक की जरूरत है जो एक अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के तीन साल के कट्रैक्ट पर कैलिफोर्निया जा सके। इस जरूरत का मतलब पूरा इंस्टीट्यूट समझता था।

संजय फाइनल की परीक्षा दे चुका था, रिजल्ट की घोषणा बाकी थी! इधर कई बार माँ बाप का संदेश आया था कि आओ, लड़की देख जाओ!

...तो, गाँव आने से पहले सक्सेना सर से विदा लेने गया था संजय! इसे यों भी कह सकते हैं कि उसे डिनर पर बुलाया था सक्सेना सर ने!

गर्मी की शाम! अपने लान में सक्सेना बेंत की कुर्सी पर चुपचाप बैठे थे। माली गमलों में पानी दे रहा था। बँगले के अन्दर की बत्तियाँ जल रही थीं। किसी कमरे से संगीत की धुन आ रही थी! रिटायरमेण्ट के करीब, दिल के मरीज प्रो. सक्सेना संजय की मौजूदगी से बेखबर चुपचाप बैठे थे और सामने देख रहे थे। काफी देर बाद उन्होंने पूछा – 'कौन सा इंस्ट्रूमेण्ट है?' संजय ने नासमझी में सिर हिलाया! संजय निरुत्तर, फिर सिर हिलाया! वे मुसकराए और ऊँची आवाज में पुकारा-'सोनू!'

'और राग? कौन सा राग है?'

जीन्स के पैण्ट और टीशर्ट में उछलती हुई सोनल आई – 'हाँ पापा!' संजय खड़ा हो गया। सक्सेना मुसकराए, पहले संजय को देखा, फिर सोनल को! सोनल भी मुसकराई। संजय सोनल से मिला तो कई बार था, लेकिन देखा पहली बार। उसे लगा कि किसी लड़की को टुकड़ों में नहीं, .. 'टोटैलिटी' में देखना चाहिए! कितना फर्क पड़ जाता है? साथ ही लड़की और पत्नी को एक ही तरह से नहीं देखना चाहिए। रूप रंग, हाव भाव, नाज नखरे लड़की में देखे जाते हैं, पत्नी में नहीं! ये सब पुराने कन्सेप्शन हुए – हमारे पापा मम्मी के जमाने के, हमारे नहीं!"[75] संजय जैसा अति महत्वकांक्षी युवक अपनी प्रेमिका को भी सफलता की सीढ़ी चढ़ने का जरिया समझता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि संजय के प्रेम में सच्चाई नहीं है बल्कि उसके दिमाग में अपने फायदे-नुकसान का गणित सदैव घूमते रहता है।

इसमें एक किस्सा सरला और प्रदीप भारती का भी है। सरला रघुनाथ की बेटी है जो एक स्कूल में टीचर है। वह थ्रिल को अनुभव करने के लिए अपने कॉलेज के प्रोफेसर से प्यार करती है। उनके साथ वह एकांत जगह पर भी जाती है और उससे शारीरिक सुख भी प्राप्त करना चाहती है। लेकिन जब उसे पता चलता है कि प्रोफेसर एकदम कायर व्यक्ति है तो वह उसे दुत्कारती है। आगे चलकर वह सुदेश भारती को चाहने लगती है। सुदेश जिले के एस.डी.एम. हैं और उनकी जाति चमार है। सरला यह अच्छी तरह से जानती है कि उसके पिता उनके विवाह के लिए कभी अनुमति नहीं देंगे। वह भारती के साथ घूमती फिरती है लेकिन शादी से कन्नी काटती रहती है। वह एक स्वतंत्र विचारों वाली लड़की है। इस प्रकार वह सुदेश भारती से इश्क तो करती है लेकिन सामाजिक दबाव के चलते उससे ब्याह नहीं कर सकती। दरअसल जातीय संस्कारों के कारण सामाजिक जीवन में प्रेम की भावनाओं पर अनेक रोड़े अटकाए जाते हैं। इक्कीसवीं सदी में भी हिन्दुस्तानी समाज जात-पात के बंधनों से मुक्त नहीं हो पाया है। इसलिए अपनी ही जाति में शादी-ब्याह करने का प्रचलन अभी तक जारी है। इसका सारा खामियाजा प्रेम कर रहे युवाओं को भुगतना पड़ता है। वह अपने सच्चे प्रेम से वंचित रह जाते हैं। इसमें वर्णित सरला और प्रदीप भारती का प्रेम इसी कोटि के अंतर्गत आता है।

'महुआचरित' में भी आधुनिक युग के प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। महुआ शिक्षा पूर्ण करने के चक्कर में यह भूल गई थी कि यौवनावस्था में उसकी भी कुछ दैहिक जरूरतें हैं। करियर बनाने के चक्कर में उसने अपनी इन जरूरतों को नजरअंदाज कर दिया था। लेकिन जब उसकी उम्र तीस की हो गई तब उसे लगने लगता है कि उसकी जिंदगी का कुछ महत्वपूर्ण हिस्सा छूट गया है। इस उम्र में वह अपने काम भावनाओं पर नियंत्रण नहीं रख सकी। सेक्स का आवेग उसके भीतर उमड़ पड़ा है। इसलिए वह अपने पड़ोसी साज़िद के करीब आती है।

उसके शादीशुदा होने के बावजूद वह उसके साथ जिस्मानी संबंध स्थापित करती है। लेकिन जब उसे पता चलता है कि वह गर्भवती है तब वह उस गर्भ को गिरा देती है। ऐसे समय में उसके जीवन में हर्षुल नामक शख्स प्रवेश करता है। वह कॉलेज जीवन में महुआ से मोहब्बत करता था। वह महुआ के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है। जिसे वह स्वीकार करती है। शादी के कुछ समय बाद हर्षुल को पता चलता है कि उसकी बीवी के साज़िद के साथ संबंध रहे हैं। इसलिए वह खफा हो जाता है और सारे उससे रिश्ते तोड़ देता है।

प्रस्तुत उपन्यास में वर्णित महुआ समाज के इसी पारंपरिक सोच की शिकार हुई है। वह अपने पति को चाहने लगी थी कि अचानक उसके जीवन में एक भूचाल आ गया। उसके जीवनसाथी को जैसे ही पता चलता है कि शादी से पहले उसके किसी अन्य पुरुष के साथ दैहिक संबंध थे वह उससे अपने सारे संबंध तोड़ देता है। वह बर्दाश्त नहीं कर पाता कि उसकी पत्नी के किसी दूसरे पुरुष के साथ जिस्मानी संबंध रहे हैं। इस प्रकार प्रेम के सारे धागे देह के आसपास आकर फंस जाते हैं। उपन्यासकार ने इन युवा चरित्रों के माध्यम से इक्कीसवीं सदी में जो सामाजिक बदलाव आए हैं, उन बदलावों को भी चित्रित करने का प्रयास किया है। वर्तमान समय में प्रेम के बदलते स्वरूप को लेखक ने यथार्थ ढंग से अभिव्यक्त किया है।

3.13 शैक्षिक परिवेश

सन् 1967 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में भाषा को लेकर बहुत बडा छात्र आंदोलन हुआ था। इस आन्दोलन से समूचा संस्थान प्रभावित हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से शुरू हुए अभियान की लपटें भारत भर में उठीं थीं। भारत के तमाम विश्वविद्यालयों में दूषित राजनीति के प्रवेश के कारण समस्त वातावरण गंदगीपूर्ण हो रहा था। विवेच्य कथाकार का 'अपना मोर्चा' उपन्यास उच्च शिक्षा संस्थानों में फैली दुष्प्रवृत्तियों एवं विसंगतियों को तीखे

अंदाज में पेश करता है। इस रचना के माध्यम से भारतीय उच्च शैक्षणिक संस्थानों में हो रही हलचलों का पता चलता है।

3.13.1 भाषा आंदोलन

लगभग पचास के दशक में डॉ. राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन की शुरुआत हुई थी। स्वाधीनता के उपरान्त भी देश में अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व कायम था। विदेशी भाषा के इस वर्चस्व को मिटाने के लिए 'अंग्रेजी हटाओ' मुहीम की शुरुआत हुई थी। यह भाषा भारत के प्रशासनिक कार्यों में वैसे ही मौजूद थी जैसे वह आजादी के पहले हुआ करती थी। ब्रिटिश इस देश से चले गए लेकिन अपनी साम्राज्यवादी सोच और भाषाई वर्चस्ववादी नीतियों को यहीं पर छोड़ कर गए थे। भारतवासियों के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि अपने ही देश के कुछ लोग इस विदेशी भाषा के गुलाम बने हुए थे।

26 जनवरी, 1950 के दिन भारत का संविधान लागू किया गया था। उस समय हमारे संविधान निर्माताओं ने यह व्यवस्था की थी कि सन् 1965 तक अंग्रेजी का इस्तेमाल किया जा सकता है और उसके बाद इसे हटा दिया जाएगा। लेकिन सन् 1957 में दक्षिण भारत में इस बात को लेकर बहुत बड़ा आन्दोलन खड़ा हुआ और हिंदी भाषा के विरोध प्रदर्शन ने काफी उग्र रूप धारण कर लिया। इस जनक्षोभ की उग्रता को देखते हुए सन् 1963 में संसद में राजभाषा कानून पारित हुआ जिसमें कहा गया कि 1965 के बाद भी प्रशासनिक कार्यों में हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी का इस्तेमाल किया जा सकता है। संसद भवन में लिया गया यह फैसला एक तरह से स्पष्ट करता है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भी हमारी मानसिकता ब्रिटिशों के गुलाम बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। विदेशी भाषा के इसी गुलामी के ख़िलाफ़ देश में

'अंग्रेजी हटाओ' मुहीम तेज़ हुई और इसने सन् 1967 में उग्र रूप धारण कर लिया। काशी हिंदू विश्वविद्यालय इस अभियान का केंद्र बिंदु बना हुआ था। सन् 1967 में बी.एच.यू. के छात्र नेता देवव्रत मजूमदार के नेतृत्व में इस क्रांति की शुरुआत हुई थी। 28 नवंबर 1967 को बनारस शहर में राजभाषा संशोधन विधेयक के विरोध में पूर्ण हड़ताल हुयी। उस समय शहर में मशाल जुलूस भी निकाले गए थे। 29 नवंबर 1967 को बी.एच.यू. के विद्यार्थियों ने एक मशाल मार्च निकाला था। इस जन विक्षोभ ने विकराल रूप धारण किया और इसमें पुलिस और प्रदर्शनकारियों के बीच टकराव हुआ था, विद्यार्थियों की उग्र भीड़ पर काबू पाने के लिए पुलिसकर्मियों द्वारा प्रदर्शनकारियों पर लाठियां चलाई गयीं तथा आंसू गैस के गोले छोड़े गए। इसमें कई छात्र और पीएसी के जवान घायल हुए थे। इसके बाद कई छात्र नेताओं को गिरफ्तार किया गया और शहर में कर्फ्यू लगाया गया था। इस जनक्षोभ का असर समूचे देश पर पड़ा था। इस घटना के बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी द्वारा हिंदी भाषा के पक्ष में लिए गए निर्णय के बाद ही यह अभियान समाप्त हुआ था।

विवेच्य साहित्यकार का 'अपना मोर्चा' विश्वविद्यालय में हुए भाषाई आंदोलन को आधार बनाकर लिखा गया है। हिंदी को लेकर हुए जनक्रांति का लोमहर्षक चित्रण यहां देखने को मिलता है। विश्वविद्यालय के छात्रों ने भाषा की समस्या को लेकर बहुत बड़ा आंदोलन किया है लेकिन इसे प्रशासन द्वारा समाप्त कर देने की तैयारी शुरू होती है। इस दरमियान आंदोलनकर्ताओं के आगे बढ़ने पर पीएसी के जवानों द्वारा उन पर आंसू गैस के गोले छोड़े जाते हैं, लाठियां चलाई जाती हैं और उन्हें तितर-बितर किया जाता है। पुलिस की मार से बचने हेतु वे भाग खड़े होते हैं। लेकिन जब वे अपने को बचाने के लिए भाग रहे थे तब बाकी लोग तमाशबीन बने बैठे थे। यहां तक कि हालात इतने ख़राब हो गए कि जब युवा आंदोलक पुलिस की पिटाई से बचने के लिए लोगों के घरों में शरण लेना चाहते हैं तब उनके लिए आम

लोगों के घरों के किवाड़ बंद किए जाते हैं। इन युवकों का साथ आम जनता नहीं देती। आखिर यह सवाल खड़ा होता है कि इनका साथ आम जनता क्यों नहीं देती। इस संदर्भ में कह सकते हैं कि इसके लिए युवाओं का जनसाधारण के प्रति असंवेदनशीलतापूर्ण बर्ताव था। विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले युवाओं को साधारण जन से कोई मतलब नहीं था। आम जनता की धारणा इन विद्यार्थियों को लेकर अच्छी नहीं है। उनकी नजर में इन युवाओं का सामाजिक व्यवहार गैरजिम्मेदाराना, अशिष्ट, अभद्रतापूर्ण ही रहा है। शहर में रहने वाले लोग इन युवकों के कारण किसी भी झंझट में नहीं पड़ना चाहते। क्योंकि जनमत के अनुसार ये छात्र निकम्मे, निठल्ले और कामचोर हैं। उनके लिए श्रम करना मानो किसी सजा को काटने के समान है। इनके लिए लड़कियां ही ओढ़ना-बिछौना रही हैं। यहां पढ़ने वाले बहुतेरे नौजवान लड़कियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की हरकतें करते रहते हैं। लेखक के अनुसार – "लड़कों ने दूसरों की परवाह करना - उनके हितों के लिए लड़ना- असल मुद्दे को अपनी लड़ाई का मकसद बनाना सीखा न था। वे सीखने को तैयार भी न थे और लड़कों के मसले पर अपने को किसी भी मुसीबत में डालना लोग (जन सामान्य) बेवकूफी समझ रहे थे।"[76]

यही वजह है कि आंदोलनकर्मी अपने पहले प्रयत्न में पुलिस द्वारा पिट जाने के कारण असफल हो जाते हैं। इस विफलता के बावजूद वे हार मानने को तैयार नहीं हैं। वे एक बार फिर से उठ खड़े होते हैं और एक नई योजना बनाते हैं। इस बार वे पूरी तैयारी के साथ इस रण में उतरे हैं और पुलिस के साथ योजनाबद्ध तरीके से लड़ाई लड़ते हैं। इस लड़ाई में उन्हें सफलता हासिल होती है। आंदोलनकर्ता इस बार पुलिस पर भारी पड़ जाते हैं और प्रशासन के सम्मुख तगड़ी चुनौती पेश करते हैं। अपने दूसरे प्रयास में उनके यशस्वी होने का मुख्य कारण यह है कि इस बार उनके इस संघर्ष में दलित वर्ग और सामान्य जनता भी शामिल हुई

है। इस बार विशेष बात यह है कि युवा शक्ति को अवाम का समर्थन प्राप्त हुआ है। लेकिन उनके इस चुनौती से प्रशासन बौखला जाता है और विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयीन परिसर से बाहर निकाल दिया जाता है। अब वहां पर केवल प्राध्यापक और काम करने वाले कर्मचारियों को ही प्रवेश की अनुमति दी गई है। एक दिन लेखक यूनिवर्सिटी के परिसर में घूम रहा था तब पीएसी का एक जवान लेखक से परिचय पत्र मांगता है। उस जवान को मालूम नहीं है कि वह इसी संस्थान में अध्यापक है। वह लेखक का परिचय प्राप्त करने के लिए उसके साथ जिस प्रकार का व्यवहार करता है यह उसे बेहद अपमानजनक लगता है। यह बात उसे नागवार गुजरती है कि जिस संस्था में वह इतने वर्षों से पढ़ा रहा है वहीं पर उसे अपनी पहचान दिलाने के लिए दूसरों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। संकाय-अधिष्ठाता द्वारा उसकी पहचान को प्रमाणित करने के बाद जवान वहां से लौट रहा था तभी वह जवान के कंधे पर अपने पंजे को रखता है और अपनी जेब से एक कोरा पन्ना निकाल कर कहता है "यह जरूर है कि तुम्हारे पास राइफल है लेकिन...मेरा मोर्चा यह है। यह कागज जिस पर मैं तुम-जैसों को तो क्या, अपने और अपनों को भी माफ करना नहीं जानता!"[77]

दरअसल अध्यापक का जवान को कोरा कागज दिखा कर अपने मोर्चे के बारे में कहना यह अर्थ ध्वनित करता है कि इस कोरे कागज़ पर अभी बहुत कुछ लिखा जाना बाकी है। प्रकारांतर से इस क्रिया के माध्यम से वह प्रतिपादित करता है कि साहित्यकार का समाज के प्रति अतिरिक्त दायित्व होता है। कलमजीवी होने के कारण उसके सामाजिक सरोकार अपने इर्द-गिर्द के समाज के प्रति गहरे हैं। साहित्यकार सामाजिक विडंबनाओं, अत्याचार-अन्यायपूर्ण रवैए को अपनी रचनात्मकता की लौ से प्रकट करता है। युगों-युगों से वह लेखनी से जनसाधारण को सचेत कर सामाजिक जागरूकता की दिशा में सार्थक प्रयास करता रहा है। संघर्ष के इस मार्ग पर चलने से सच्चा साहित्यकार डगमगाता नहीं है। समाज की उन्नति के

लिए वह निरंतर कोशिश करता है। अपने मार्ग में आने वाले अवरोधों से वह टकराता है। अपने आस पास हो रही गलत चीजों से वह हमेशा लोहा लेता रहा है। इस कार्य में वह न तो अपने आप को बख्शता है और न ही अपनों को। समूचे विश्व में बेहतर समाज के निर्माण में साहित्यकार की भूमिका उल्लेखनीय रही है। समाज में हो रहे गलत कार्यों के विरुद्ध रचनाकार ने सदैव प्रतिरोध के स्वर को बुलंद किया है। उपन्यास में वर्णित अध्यापक भी अपने इस दायित्व बोध से गहरे में जुड़ा है। यही वजह है कि विश्वविद्यालयीन अनीति के विरुद्ध वह मोर्चा खोलने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार विश्वविद्यालय में हो रही धांधलियों को लेकर लेखक का प्रतिरोध का स्वर स्पष्ट सुनाई देता है। अंततोगत्वा कहा जा सकता है कि यह उपन्यास विश्वविद्यालय में हुए भाषा आंदोलन को केंद्र में रखकर भाषा और समाज के अंतर्संबंधों की व्याख्या करता है।

3.13.2 शिक्षा संस्थानों में फैली दुष्प्रवृत्तियां

देश और समाज की उन्नति में शिक्षा का बहुमूल्य योगदान रहा है। इस दिशा में विभिन्न शिक्षा संस्थानों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लेकिन देश में ऐसे शैक्षणिक संस्थान भी मौजूद हैं जो वहां पर कार्यरत शिक्षक एवं कर्मचारियों का अनेक प्रकार से शोषण करते हैं।

आपकी 'बैल' कहानी में शैक्षिक संस्थानों में चल रहे शोषण का जायजा लिया गया है। इसमें वर्णित मास्टर ढुक्कूलाल को ठीक से वेतन नहीं दिया जाता, उन्हें इतनी कम तनख्वाह मिल रही है कि वे ठीक से जीवन-यापन भी नहीं कर सकते। उनकी जमीन-जायदाद हड़पने के बाद उन्हें एक फटीचर से स्कूल में नौकरी दी जाती है। यह भारत के आम जनता की दुर्दशा है जो बेईमान और भ्रष्ट शासन तंत्र का शिकार हो रही है। एक मास्टर की जिंदगी, उसके सारे

सपने-आकांक्षाएं आर्थिक बदहाली के कारण नेस्तनाबूत हो जाते हैं। प्रस्तुत कृति शिक्षा के क्षेत्र में फैली शोषण की प्रवृत्ति को दर्शाती है।

शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत विश्वविद्यालय सर्वोच्च शिक्षा के केंद्र होते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में इन संस्थानों का स्तर गिरता गया है। आपका 'अपना मोर्चा' शिक्षा के क्षेत्र में फैली दुष्प्रवृत्तियों को उजागर करता है। इन ऊंची जगहों पर कार्यरत अध्यापक शिक्षा को दरकिनार कर अध्ययन-अध्यापन में उतना ध्यान नहीं देते। इनकी रुचि पढ़ाई को छोड़कर अन्य बातों में ही अधिक दिखाई देती है। इसमें वर्णित विश्वविद्यालय ओछी राजनीति का अखाड़ा बना हुआ है। हिंदी विभाग का हाल यह है कि विभागाध्यक्ष अध्यापन कार्य करने के बजाय इतर कामों में ही अधिक व्यस्त रहते हैं। विभागाध्यक्ष अपनी रचनात्मक उर्जा को प्रशासनिक कामों में लगाए हुए हैं। प्राध्यापकों का कर्तव्य है कि वे पुस्तकों में अपनी रुचि दिखाएं। लेकिन पुस्तकों में झांकने के बजाय वे शहर में बन रही नई कॉलोनियों के नक्शे में अपने आप को व्यस्त रखते हैं। यहां ऐसे अध्यापकों की भरमार है जो इस लायक ही नहीं कि वे शिक्षा के उच्च संस्थानों तक पहुंचे। इस संदर्भ में लेखक की टिप्पणी बड़ी बेधक है "जब से कुछ मुदर्रिस जिन्हें नॉर्मल या जे.टी.सी. करके किसी पाठशाला में होना चाहिए था – इन भाषाओं की मदद से यहां प्रवेश पा गए हैं, तब से स्थिति गड़बड़ हो गई है। आप तो बातें करो लिखने-पढ़ने की और वे कहेंगे कि उनके ताल्लुकात शहर के फलां-फलां गुंडों से हैं – जाहिर है कि आप एक-दूसरे के लिए अबूझ हो जाएंगे। तीसरी किस्म उन मुदर्रिसों की है जो पढ़ने-पढ़ाने की अपेक्षा अध्यक्ष को काबू में रखने के लिए विश्वविद्यालय के नियम-कानून में अधिक दिलचस्पी रखते हैं। सारी धाराएं और सारे अनुच्छेद उनकी जबान पर हैं। अध्यक्ष की हालत यह है कि यदि वह धाराओं से बचे तो गुंडों से नहीं बच सकते और यदि गुंडों से बचना चाहे तो धाराओं में रहें।"[78] गौरतलब है कि युनिवर्सिटी में पढ़ाने वाले बहुत

से अध्यापकों के लिए अध्ययन-अध्यापन करना प्रमुख बात नहीं है। उनके लिए इतर बातें ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई हैं। अतः यह उपन्यास देश के विश्वविद्यालयों में पनप रही गंदी राजनीति, यहां पढ़ाने वाले अध्यापकों के गिरते स्तर तथा विद्यार्थियों में घट रहे मानवीय मूल्यों को उजागर करता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि काशीनाथ सिंह का रचना संसार विविधतापूर्ण है। उनके साहित्य में समाज के विभिन्न पहलू दृष्टिगोचर होते हैं। इस संदर्भ में वरिष्ठ आलोचक खगेंद्र ठाकुर ने लिखा है – "उसमें गाँव का करवट लेता हुआ जीवन है, जाति-प्रथा का संस्कार और उसमें पैदा हुआ संकट है, संकटग्रस्त समाज में उद्विग्न मानसिकता से उत्पन्न अतिक्रान्तिकारिता है, मध्यवर्गीय ज़िन्दगी की मायूसी है तो एक निम्नवर्गीय जीवन में मौज-मस्ती की ललक तथा उसका अभाव है। उसमें पहला प्यार है तो उसका अभाव भी। एक ही मध्यवर्ग के भीतर अलग-अलग आर्थिक स्तर होने के कारण मनुष्यता के अलग-अलग रूप भी दिखायी पड़ते हैं। समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण चारित्रिक पतन, गरीबी का मज़ाक उड़ाने वाले रईस और चाटुकारों की भीड़, और इन सब को चुनौती देने वाला साहसी व्यक्ति भी है। ये सभी आज के दौर के हैं, शोषक भी नये और शोषित भी नये। कुण्ठा भी नयी और कुण्ठित भी नये। कहने का अर्थ जीवन और यथार्थ की नयी अवस्था और बदलाव की प्रक्रिया में विकसित नये लक्षणों को काशीनाथ ने पकड़ा है और बखूबी उन्हें अपनी कहानियों में नये सन्दर्भों के साथ चित्रित किया है। इसलिए काशीनाथ की कहानियाँ समकालीन भारतीय समाज में आए राजनीतिक परिवर्तन और तत्सम्बन्धी उग्रता, नैतिक एवं मूल्यगत संकट की मार्मिक कथा प्रस्तुत करती हैं और स्वयं उनका संवेदनशील दस्तावेज बन जाती है। जाहिर है कि काशीनाथ की कहानियों का देश-काल है और वह देश-काल हमारी आज की ज़िन्दगी का है। इसी अर्थ में ये कहानियाँ एक तरफ़ प्रेमचंद, यशपाल आदि की परम्परा में आती हैं तो दूसरी

तरफ़ प्रेमचंद और यशपाल ही नहीं, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी आदि की सीमाओं में आगे बढ़ कर हिन्दी-कहानी को नया धरातल और नयी ऊँचाई देती है। काशीनाथ ने अपने समय और समकालीनों में सबसे आगे बढ़ कर कहानी को नयी सामाजिक सार्थकता दी।"[79] कहना न होगा कि काशीनाथ सिंह ने केवल कहानियों में ही नहीं बल्कि उपन्यासों के माध्यम से भी समाज के यथार्थ को नए सिरे से रेखांकित करने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

1. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ: 103
2. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 23
3. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 55
4. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 56
5. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 262
6. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 126,127
7. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 28
8. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 29
9. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:30
10. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:72
11. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:72
12. काशीनाथ सिंह, महुआ चरित, पृष्ठ: 12
13. काशीनाथ सिंह, महुआ चरित, पृष्ठ: 100
14. काशीनाथ सिंह, महुआ चरित, पृष्ठ: 100
15. देवीशंकर नवीन, Thursday, November 28, 2019 दायित्वबोध से भरा कथाकार: काशीनाथ सिंह (महुआचरित उपन्यास)
16. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, कथा शिखर काशीनाथ सिंह, पृष्ठ:260
17. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:44
18. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:53
19. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:110

20. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:36,37

21. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:15

22. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:18

23. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ: 50

24. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:89

25. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:131

26. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:132

27. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:181

28. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:181

29. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 58

30. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 91

31. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 61

32. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 25

33. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:213

34. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:200

35. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 23

36. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 26,27

37. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:27

38. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ: 29

39. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:229,230

40. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:280

41. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:285

42. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ: 60

43. कमला प्रसाद, सं.मनीष दुबे, कहन-4, अगस्त, 2000, पृष्ठ:316

44. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 174

45. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 175

46. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 175

47. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ: 177

48. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ: 55

49. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ: 56

50. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:62

51. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:250

52. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:153

53. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:139

54. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:136

55. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:68

56. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:163

57. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:165

58. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:78

59. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:79

60. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:29

61. डॉ. श्यामाचरण दुबे, सं. मनीष दुबे, कहन, अंक- 4 पृष्ठ: 377/378

62. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:154

63. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:188

64. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:192

65. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:359

66. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:370

67. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:373

68. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:384

69. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:391,392

70. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:91

71. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:35

72. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:63

73. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:238

74. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:

75. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:20,21

76. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:72

77. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:128

78. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:39

79. खगेंद्र ठाकुर, सं. मनीष दुबे, कहन-4, अगस्त, 2000 : पृष्ठ, 304)

4. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: सांस्कृतिक परिवेश

संस्कृति जीवन जीने की पद्धति है जो मनुष्य के अंतर् एवं बाह्य जगत का समन्वित विकास करती है। आदिम अवस्था में मनुष्य किसी अन्य पशु की तरह था। लेकिन अपनी कुछ शारीरिक और बौद्धिक विशेषताओं के कारण मानव निरंतर विकसित होता गया। अपने रहन सहन, खानपान तथा मनोवृत्तियों को परिष्कृत कर वह आदिम अवस्था से आधुनिक युग में आ चुका है। अन्य पशुओं की तरह वह ज्यों का त्यों बना हुआ नहीं है। मनुष्य निरंतर प्रगति करता हुआ आगे बढ़ने के सिद्धांत पर अग्रसर दिखाई पड़ता है। इस प्रकार संस्कृति उस समस्त व्यवहार एवं आचरण का नाम है जो व्यक्ति को परंपरा से प्राप्त होती है और जिसमें नियमित बदलाव होते रहते हैं। "इस प्रकार संस्कृति मानव-निर्मित ज्ञान-व्यवहार की ऐसी प्रक्रिया है, जो निरन्तर अपने प्रवाह में बहती हुई निष्प्रयोजित हो चुकी परम्परागत मान्यताओं, विचारों और आदर्शों को तिरस्कृत करते हुए उनके स्थान पर समयोपयोगी, नवीन मान्यताओं और प्रेरक सिद्धान्तों से अनुप्राणित होती हुई एक पीढ़ी से अनायास ही दूसरी पीढ़ी में प्रविष्ट हो जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृति एक अविरल अजस्र धारा है, जिसमें किसी देश या जाति की युगों से संचित मान्यताएँ, धारणाएँ, रीति-रिवाज और मूल्य समाहित हो उसका विकास करते हैं। यह मानव-जीवन की एक ऐसी ऊर्धोन्मुखी प्रक्रिया है, जिससे सत्प्रेरणा पाकर मानव अपनी पाशविक वृत्तियों का उदात्तीकरण करके अपने अन्तःकरण को उदात्त, पवित्र, शुद्ध और सात्विक बनाने में सक्षम हो जाता है।"[1] साहित्य के मूल्यों को समझने के लिए समूह के सांस्कृतिक स्वरूप को समझना आवश्यक है। किसी भी व्यक्ति या समाज की संरचना में सांस्कृतिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। रचनाकार ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में इन मूल्यों को बहुत ही यथार्थ ढंग से उद्घाटित किया

है। उनकी रचनाओं में आधुनिक युग के सांस्कृतिक स्वरूप के विभिन्न पहलुओं को सहज ही देख सकते हैं।

4.1 ग्रामीण परिवेश

भारत एक कृषि प्रधान देश है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बहुत बड़ी संख्या में देहातों में बसने वाली जनता ने शहरों की ओर रुख किया। लेकिन आज भी देश की बहुसंख्यक जनता गांवों में बसती है। ग्राम क्षेत्रों के अंतर्गत उस समुदाय की विशिष्ट जीवन पद्धति, परंपराएं, रहन सहन, रीति रिवाज, मान्यताएं अन्तर्भूत होती हैं। भारत जैसे विकसनशील देश के ग्रामीण इलाकों में रहने वाले लोग अक्सर पैसों की कमी के कारण तंगहाली का जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं।

4.1.1 ग्रामीण जीवन में स्थानांतरण की प्रक्रिया

स्वातंत्र्योत्तर काल में बहुत बड़े पैमाने पर लोग गांवों से शहरों की ओर जाने लगे थे। इसमें एक दौर ऐसा भी आया कि यह प्रक्रिया इतनी तेज थी कि गांव के गांव उजड़ने लगे।

'स्वागत' देहातों में बसने वाले जनता के क्रांतिकारी चेतना की रचना है। यह रचना शहरों के बनने के कारण जो गांव उजड़ने लगे थे इसकी ओर इशारा करती है। नए बन रहे नगरों के कारण ग्राम्यांचलों का जीवन बिखरता गया। इन इलाकों से शहर में आने वाले लोग एक बार यहां आने के बाद फिर यही के होकर रह गए। आजकल गांवों की स्थिति अत्यंत विकट हो चुकी है। यथा – "एक दिन शहर उसके करीब आया और बोला, 'तुम क्यों गाँव और मेरे बीच टुकड़े-टुकड़े हो रहे हो? और गाँव...' वह हँसा, उसके पीले दाँत तपेदिक के मरीज की आँखों की तरह सफेद होकर नीले पड़ गए, जैसे उनमें जहर उतर आया हो! 'तुम्हारे पास पन्द्रह बीघे खेत हैं। एक झोंपड़ी है। दो बैल हैं। कोई भैंस नहीं, कोई गाय नहीं। पन्द्रह बीघे खेत, तीन भाई, माँ-

बाप, बाल-बच्चे। खैर, यह पन्द्रह बीघे जमीन पुश्तों की धरोहर है। यह जमीन ही तुम्हारी तबाही का कारण है। तुम अपने को सामन्त समझते रहे और डाँड-मेड़ बाँधने और लगान देने में ही तबाह रहे। आज हालत यह है, लगान देनी होती है तो राय साहब तुम्हारे पास दौड़ते हैं, बैल खरीदने होते हैं तो भागे-भागे यहाँ आते हैं, किसी की दवा-दारू करनी होती है तो ले-देकर यहाँ पटक जाते हैं, तहसील-कचहरी कुछ भी हो, तुम्हें छोड़ और कोई चारा नहीं। यह सब कब तक चलेगा? और फिर उस जमीन का मतलब क्या? सच पूछो तो वह अब जवाब दे चुकी है। यह उन्हें भूख और तबाही छोड़कर कुछ भी नहीं दे सकती। अनाज? अगर वह अनाज ही देती तो राय साहब बार-बार तुम्हें क्यों लिखते कि मेहमान आते रहते हैं-दस किलो चावल लिये आना? अरहर की दाल नहीं है, भिजवा देना? अब की चना नहीं हुआ है, चने...असाढ़ सिर पर है, धान के बीज ले रखना, वगैरह-वगैरह!"[२]

स्वतंत्रता पूर्व युग में देश की अस्सी प्रतिशत जनता देहातों में बसती थी। प्रत्येक गांव के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की अपनी खूबियां थी। लेकिन धीरे-धीरे यह सब चरमराने लगा। सच्चाई यह है कि वर्तमान नगरों-महानगरों का निर्माण ग्रामीण जनता के खून-पसीने से हुआ है। लेकिन सारे लाभ शहर में रहने वाले लोग उठा रहे हैं। ग्रामीणजन संकट की घड़ी से गुजर रहा है। इक्कीसवीं शताब्दी में भी हमारा नेतृत्व 'इंडिया शाइनिंग' का नारा देने से बाज नहीं आ रहा है। जबकि दूरदराज के गांवों में बसा भारत अपनी पहचान गंवा रहा है। हमारे नेतृत्वकर्ताओं का ध्यान देहातों की ओर उस तरह नहीं जा रहा है, जिस तरह जाना चाहिए था। अगर हम सही अर्थों में सशक्त राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं तो ग्राम्यांचलों का विकास अत्यंत आवश्यक है। इस विकास हेतु केवल कागज़ी घोड़े दौड़ाने से काम नहीं होगा बल्कि ग्रामीण समस्याओं की जड़ तक जाना होगा। हमारे शहर ग्रामीणजनों की मेहनत के बदौलत आबाद हुए हैं। लेकिन इसके बदले में उन्हें कुछ नहीं मिलता। गांव में जीवन यापन कर रही

जनता को अपने सामान्य अधिकार भी नहीं मिल रहे। इसलिए एक क्रांति की आवश्यकता है। जब तक ग्रामवासी इस अन्याय के विरुद्ध खड़े नहीं होते तब तक उनका हक उन्हें प्राप्त नहीं होने वाला। इस प्रकार 'स्वागत' ग्रामीण जनता में आयी क्रांतिकारी चेतना की बात करती है।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में ग्रामीण जीवन की विडंबना को दर्शाया गया है। अपने गांव में बसने की चाहत लेकर गए रघुनाथ दुर्भाग्य से अपना पुश्तैनी घर और जमीन छोड़कर शहर में आकर रहने के लिए विवश है। क्योंकि उनके अपने रिश्तेदार उनके साथ बेहद बुरा आचरण करते हैं। इस प्रकार अंचलिक क्षेत्रों में मानवीय संबंधों की ऊष्मा खत्म हो रही है। यही वजह है कि सामयिक युग में यहां पर बसने वाले लोग सबकुछ छोड़कर शहर की ओर स्थानांतरित हो रहे हैं।

4.1.2 ग्राम जीवन की समस्याएं

आजादी के इतने वर्षों बाद भी ग्रामीणों को अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। वे अर्थाभाव एवं जातीयता की समस्या से जूझ रहे हैं तथा अनेक तरह की समस्याओं से ग्रस्त हैं।

विवेच्य कृतिकार की 'गरीबी में आटा गीला' ग्राम जीवनशैली के मार्मिक पक्ष को उजागर करती है। लोक जीवन के कारुणिक पक्ष को इसमें देखा जा सकता है। इस आख्यान की शुरुआत में गांव के बड़े-बुजुर्ग दोपहर में लोचन नामक व्यक्ति के ओसारे पर बैठकर बतिया रहे हैं। वहीं पर उनके जवान लड़के ताश खेल रहे हैं। इस कारण वे बड़े बुजुर्गों के आलोचना का कारण बने हुए हैं। लेकिन वे उनकी बातों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। देहातों में मौजूद अर्थ के अभाव को इस कहानी में देखा जा सकता है। एक समय था जब घर आए मेहमान को भरपूर

खिलाया-पिलाया जाता था, मेहमानों की मेहमाननवाजी करना हमारे संस्कारों में शामिल था। भारतीय संस्कृति 'अतिथि देवो भव' वाली संस्कृति रही है और इसका पालन किया जाता था। लेकिन धीरे-धीरे यह विचार कमजोर पड़ने लगा। आर्थिक तंगहाली के चलते अब गांव में लोग चाहते हैं कि उनके घर कोई मेहमान न आए क्योंकि ऐसे व्यक्ति के आने से समस्या और बढ़ जाती है। यही वजह है कि नगीना के घर आए आगंतुकों को लेकर वे चिंतित हैं। लेकिन इसे वे गांव के अन्य लोगों के सामने व्यक्त नहीं करना चाहते। क्योंकि यहां के संस्कार ही कुछ ऐसे हैं जिसमें आगंतुक की आवभगत की जाती है। इसीलिए नगीना घर आए लोगों को रात्रि के भोजन के लिए आवाजपुर में ले जाने की बात करते हैं जहां पर झाड़ा न्योता दिया गया है। ग्रामीण जीवनशैली के संक्रमणशील दौर को इस कहानी में देखा जा सकता है। एक ओर देहाती समाज के परंपरागत संस्कार हैं जिसके अंतर्गत लोगों का आदरतिथ्य किया जाता है तो दूसरी ओर आर्थिक मजबूरी के कारण इनके माथे की त्योरियां बढ़ जाती हैं। इस प्रकार यह कथा रचना ग्रामीण जीवन के कारुणिक पक्ष को मार्मिक ढंग से उजागर करती है।

'रेहन पर रग्घू' भारतीय ग्रामीण समाज में मौजूद जातीय व्यवस्था को बहुत बारीकी से उजागर करता है। रघुनाथ जाति के ठाकुर हैं। उनका गांव ठाकुरों, अहिरों, चमटोलों के बीच बटा हुआ है। यहां पर रहने वाले चमटोले ठाकुरों के यहां हलवाहों का काम करते आए हैं। लेकिन समय के साथ उनके भीतर भी नई चेतना जागृत हो जाती है। वे ठाकुरों की प्रताड़ना और अनीतिपूर्ण नीतियों का मुकाबला करने के लिए एकजुट हो जाते हैं। उनके दबाने से अब वे डरते नहीं हैं और उनके यहां काम करने से इंकार कर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनके बिना ठाकुरों का काम नहीं हो सकता। गाँव में सवर्ण जाति के ठाकुरों की फ़ज़ीहत तब होनी शुरू होती है जब चमटोले उनके खेतों में काम करने से मना कर देते हैं। परंपरा से वे ठाकुर जति के लोगों के यहां हलवाहे रहे हैं। लेकिन हड़ताल के चलते चमटोले उनके खेतों में काम

करने से मना कर देते हैं। ठाकुर वर्ग को शुरू में लगता है कि यह कुछ ही दिनों की बात है। यह लोग जाएंगे तो आखिर कहां जाएंगे। एक न एक दिन इन्हें हमारे दरवाजे पर आना ही पड़ेगा। क्योंकि इतिहास यही बताता रहा है कि हलवाहे हमेशा उनकी शक्ति और सामर्थ्य के आगे झुकते आए हैं। लेकिन इस बार की हड़ताल पहले जैसी नहीं थी। उन्होंने ठाकुर जाति के लोगों के खेतों में काम करने से मना कर दिया। इसके बाद कुछ लोग काम के सिलसिले में शहर की ओर चले गए तो कुछ लोगों ने गांव में ही अहीरों से संगत जोड़ ली। इस प्रकार उनका यह विश्वास कि पहले की तरह मजबूरी में ही सही ये लोग उनके शरण में आएंगे टूट जाता है। इन सब बातों का फायदा ग्राम में आए दशरथ अहीर के बेटे जसवंत उठाते हैं। वह गांव की परिस्थितियों को सही ढंग से भांप लेता है और गांव में पहली बार एक नया ट्रैक्टर खरीद कर लाता है। ट्रैक्टर लाने से जसवंत अहीर का काम बन जाता है क्योंकि ठाकुरों को भी बुवाई के लिए अब ट्रैक्टर की आवश्यकता है। इस प्रकार ठाकुर जाति का यह अहंकार कि गांव के नीचली जातियों के लोग उनके दबाव में रहेंगे तार-तार हो जाता है। ठाकुरों की दिक्कत यह है कि नए सामाजिक परिवर्तनों को वे ठीक से समझ नहीं पाते या यूं कहे कि जानते हुए भी समझना नहीं चाहते। पुराने जातीय संस्कारों के अहम में चूर ठाकुर वर्ग इन परिस्थितियों के आगे बेबस होते हुए दिखाई देते हैं।

दरअसल यह इक्कीसवीं सदी के भारतीय ग्रामीण समाज में घटित होने वाला परिवर्तन है। नई सदी के अंतर्गत ग्राम्यांचलों की युवा पीढ़ी में नवीन चेतना जागृत हुई है। पिछड़ी कही जाने वाली जातियां अपना सिर ऊंचा कर सवर्ण जातियों से टक्कर ले रही हैं। इन जातियों में जो आत्मसम्मान से जीने की चेतना जागृत हुई है उसके चलते वे अब सवर्णों के अन्याय-अत्याचार का मुंहतोड़ जवाब दे सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में भी अब वह पहले वाला जमाना नहीं रहा कि आप दूसरों से औने-पौने दामों में मेहनत-मजदूरी का काम करवा कर खुद ऐशो

आराम की जिंदगी जी सकते थे। इस प्रसंग में निम्न कही जाने वाली जातियों में आए अस्तित्वबोध को यहां दर्शाया गया है। ग्रामीण जीवन में घटित इन बदलावों को यह उपन्यास एकदम नए कलेवर के साथ प्रस्तुत करता है।

इसके अंतर्गत पहाड़पुर गांव का जिक्र है। गांव में छब्बू पहलवान है जो एक दबंग किस्म के व्यक्ति हैं। जिनकी दबंगई से सारे गांव को भय लगता था। इसी के कारण उन्होंने चमटोल में झूरी की पत्नी के साथ अनैतिक संबंध बनाए थे। यह बात वहां के लोग जानते थे लेकिन छब्बू का विरोध करने की हिम्मत किसी में नहीं थी। उनकी मनमानी चमटोलों पर चल रही थी। वे चुपचाप इन बातों को सहन तो कर रहे थे लेकिन अंदर ही अंदर प्रतिशोध की भावना भी उनके मन में पनप रही थी। धीरे-धीरे परिस्थितियां बदलती हैं और हलवाहे हड़ताल करते हैं। इन बदली हुई स्थितियों को देखकर छब्बू को यह सलाह दी जाती है कि वे अब चमटोल में न जाएं। लेकिन वे इन बातों को नहीं मानते और एक दिन छब्बू पहलवान की हत्या हो जाती है। गांव वालों को पता है कि पहलवान का क़त्ल किन लोगों ने किया है। सब जानते हैं कि यह काम चमटोले टोली का काम है, इसके बावजूद वे उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते। यहां तक कि पुलिस और प्रशासन भी बहुत गहरे में जाकर तफ़्तीश नहीं करती। पुलिस की तफ्तीश के बाद भी कुछ निकल कर सामने नहीं आता। इस तरह कथा लेखक ग्रामीण क्षेत्रों में बदल रही स्थितियों को रेखांकित करते हैं। छब्बू की हत्या एक तरह से ठाकुरों के लिए संदेश है कि अब वह जमाना नहीं रहा जिसमें सवर्ण जातियों के लोग चमारों के साथ घृणित बर्ताव कर सकते थे। अब उनके भीतर नई चेतना जागृत हुई है। वे अब अनीति, अत्याचार और शोषण नहीं सहने वाले। चमटोलों ने छब्बू की हत्या कर यह सिद्ध कर दिया कि भविष्य में वे ठाकुरों के दबाव में नहीं रहने वाले। जुल्म और ज्यादतियों के खिलाफ वे एकजुट होकर लड़ेंगे। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जो नई संस्कृति गांव में

पनप रही है उसे दर्शाने का प्रयास उपन्यास में हुआ है। यह आज के ग्रामीण समाज का बदला हुआ रूप है जो इस प्रसंग के माध्यम से सामने आता है। पिछडी जातियां अपने अस्तित्व को लेकर सचेत हुई हैं। वे अब पहले जैसे शोषण की चक्की में पीसने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सवर्ण जाति के खिलाफ विरोध का झंडा बुलंद करने को तैयार हैं। पिछड़ी जातियों में प्रतिरोध की संस्कृति पनपने लगी है। छब्बू पहलवान की हत्या से यह साफ जाहिर होता है कि आने वाले समय में पूर्व काल से चले आ रहे अमानवीय शोषण को सहना दलित जातियों को मान्य नहीं है।

इस प्रकार उपन्यासकार ने ग्रामीण क्षेत्रों में आ रहे बदलावों को चित्रित करने का प्रयास किया है। निश्चित ही रघुनाथ जैसे लोगों के लिए यह बदलाव दुखद और दर्दीले साबित हुए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक समरसता भरे जीवन का ताना-बाना कहीं खो गया है। यहां पर रहने वाले लोगों की जिंदगी जिस आत्मीयता, अपनत्व और एकता की ठोस भूमि पर खड़ी थी वह बिखर चुकी है। रघुनाथ के भतीजे उनकी जमीन हथियाने में लगे हैं। नाना प्रकार के हथकंडो का इस्तेमाल कर वे उन्हें सताने का प्रयास करते हैं। भतीजों ने उनका जीना हराम कर दिया है। इस प्रकार ग्राम संस्कृति में अपनत्व तथा आत्मीयता के सूत्र टूट रहे हैं। ग्राम्य जीवनशैली का सौम्य और सौहार्दपूर्ण स्वरूप अब बदल चुका है। इसका स्थान अब स्वार्थ लोलुपता, छीना-झपटी, दंगा-फसाद आदि ने ले लिया है। इस प्रकार लेखक अपने कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन में व्याप्त मानवीय मूल्यों में हो रहे विघटन की एक तस्वीर हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

4.2 नगरीय संस्कृति

मनुष्य सभ्यता के विकास में सारे प्रयत्न बर्बरता से सभ्य बनने की दिशा में दिखाई पड़ते हैं। आदिम काल में मानव अन्य प्राणियों की तरह जंगलों में रहता था और शिकार करते हुए अपना जीवनयापन करता था। लेकिन सभ्यता में परिवर्तन के साथ वह बर्बरतापूर्ण जीवनशैली से निकलकर अधिकाधिक सभ्य और सुसंस्कृत होता गया। इसमें उसके द्वारा निर्मित संस्कृति ने विशेष भूमिका निभाई है। उसके द्वारा विभिन्न कलाओं का सृजनात्मक कार्य स्वयं को और अधिक सभ्य बनाने की कोशिशें कही जा सकती हैं। इन कलाओं में साहित्य कला ने मनुष्य को विवेकवान और विचारशील बनाने में मदद की है। संभवत: विभिन्न धार्मिक ग्रंथों का निर्माण भी इसलिए हुआ कि मनुष्य अपने नृशंसतापूर्ण व्यवहार को त्याग दे और सभ्य बने। मानव के लिए अशिष्टता से शिष्टाचार की यात्रा में मानवीय मूल्यों ने बहुमूल्य योगदान दिया है। लेकिन विश्व की सभ्यताओं में समय के साथ मानवीय मूल्यों का विघटन हुआ है। साहित्य तथा अन्य कलाओं का यह प्रयास रहा है कि इनके माध्यम से नैतिक मानदंडों का संवर्धन होता रहे। इनके संवर्धन में संस्कृति बहुमूल्य योगदान देती है। यह एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य के भीतर मनुष्यता का भाव जागृत करती है।

इस संदर्भ में प्रखर विद्वान अखिलेश मिश्र के विचार उल्लेखनीय हैं, वे लिखते हैं – "संस्कृति क्या है? संस्कृति है संस्कारों की परिणति। संस्कार क्या है? वह जो मनुष्य को भीतर-बाहर से शुद्ध बनाए, उसे उत्कर्ष और सुख प्रदान करे। इस दिशा में प्रयास से जो प्रसाद उपलब्धि होगी वह होगी संस्कृति। उपलब्धियों की उन्नत श्रृंखला होगी। उसी श्रृंखला से संस्कृति बनती है। संस्कृति न राष्ट्रीय होती है, न धार्मिक, वह मानवीय होती है। राष्ट्रद्रोहियों और अधार्मिकों की भी संस्कृति में बराबर की भागीदारी बेरोकटोक होती है।"[3] धातव्य है कि संस्कृति न तो पूर्व

की होती है और न ही पश्चिम की बल्कि वह मानवों की होती है, जिसका उद्देश्य मनुष्य जीवन का विकास करना है। इस विकास के चरण में मानवीयता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

4.2.1 नैतिक मूल्यों का विघटन

आधुनिक काल में हम देखते हैं कि मानवीय मूल्यों का विघटन बहुत तेजी के साथ हो रहा है। वर्तमान युग में नगरीय जीवन में नैतिकता का क्षरण जिस गति से हो रहा है वह चिंतनीय है। अगर यह प्रक्रिया इसी तरह जारी रही तो वह दिन दूर नहीं कि मानव जाति का इस धरती पर अस्तित्व ही संकट में आ सकता है। इसलिए समूचे मानव जाति के लिए इन मूल्यों को जीवित रखना अत्यंत आवश्यक है।

आपके साहित्यिक कृतियों में शहराती जीवनशैली के अंतर्गत जीवन मूल्यों को लेकर विचार-विमर्श किया गया है। लेखक ने ऐसी अनेक कहानियों का सृजन किया है जिनमें उन्होंने ह्रासोन्मुखी मूल्यों के संबंध में विस्तृत विवेचन किया है। साठोत्तरी युग में नैतिक मूल्यों का विघटन बहुत तेजी से हो रहा था। 'सुबह का डर' रचना व्यक्ति के भीतर से विघटित होने की क्रिया को अभिव्यक्त करती है। यहां बसंत नाम का व्यक्ति है जिसका भाई बुरी तरह से जख्मी हुआ है और उसे इलाज के लिए एक अस्पताल में भर्ती किया गया है। बसंत के साथ उसके कुछ मित्र भी अस्पताल में आते हैं। लेकिन वहां आने के बाद वे पछताने लगते हैं कि आखिर क्यों बेकार में उन्होंने इस जगह पर आकर झंझट मोल ली है। वातावरण में बेहद कंपकंपाने वाली ठंडी है। उनका राय साहब नाम का मित्र जो पहले रुग्णालय में आकर काफी मदद करता है लेकिन कुछ समय बाद वहां से चला जाता है। कथावाचक और पंचम नामक शख्स बसंत के साथी हैं वे इसी कश्मकश में हैं कि कैसे उन्हें इस जगह से छुटकारा मिले

और वे घर चले जाएं। पंचम अस्पताल से निकलना चाहते हैं और झल्लाकर कहते हैं – "सुनो, मैं तो अब जा रहा हूँ।'

'कहाँ?' मैं पूछता हूँ।

'यह चूतियापा मुझे बर्दाश्त नहीं हो रहा है।'

मैं बैठा रहता हूँ और वे बड़बड़ाना शुरू करते हैं, 'यह कोई बात हुई कि हम बैठकर इंतजार करें? इतने जाड़े में? तुम मरना हो मरो, नहीं मौज करो !...एक बार हुआ, दो बार हुआ, हर बार आप मार खाते रहें और हम अस्पताल ढोते रहें। अच्छा चूतिया बना रखा है आपने। जैसे हमें इसके सिवा और कोई काम ही नहीं।"[4] असल में बसंत का भाई गंभीर रूप से घायल है। उसके साथ आए सभी लोगों को लगता है कि वह मर जाएगा। इसलिए वे अंतिम क्रियाकर्म, पोस्टमार्टम जैसी बातें भी करने लगते हैं। वह भी इसी प्रकार की बातें करता है। केवल उसकी मां इस घटना से बेहद दुखी है और सुबह से रो रही है। मौका पाते ही कथावाचक अस्पताल से खिसकता है और एक रिक्शे में आकर बैठता है लेकिन जिस रिक्शा में वह सवार है उसी में उसके दूसरे मित्र भी बैठे थे। जब दोनों एक दूसरे को देखते हैं तो वापस अस्पताल की ओर चले आते हैं। वहां आने के बाद वे देखते हैं कि कोई जोर-जोर से रो रहा है। पहले तो उन्हें लगता है कि बसंत का भाई ही मर गया होगा। लेकिन वे देखते हैं कि उसका भाई यूरिनपॉट में पेशाब कर रहा है और डॉक्टरों के चेहरे पर चमक है। मतलब साफ है कि उसका छोटा भाई अभी जीवित है और शायद ठीक भी हो जाएगा।

दरअसल इस कृति में आए पात्रों के पारस्परिक संबंध ऐसे हैं जिसमें आत्मीयता और अपनेपन का अभाव है। मित्रों को लगता है कि वे ऐसी जगह आकर फंस गए हैं। इस जगह पर रहना उनके लिए मजबूरी बन गई है। वे इससे अपनी जान छुड़ाना चाहते हैं। मरने वाले के प्रति न तो उनके मन में कोई सहानुभूति है और न ही कोई हमदर्दी का भाव है। केवल मित्र को

दिखाने के लिए वे उसके साथ आए थे। प्रस्तुत आख्यायिका दर्शाती है कि मनुष्य अपने स्वार्थों के चलते मानवीय संबंधों से दूर होता जा रहा है। भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता सामाजिक समरसता रही है। प्राचीन काल से पारस्परिक सहयोग को हमारा समाज महत्त्व देता रहा है। इस कथा में सहयोग के भाव को धक्का सा लगता है। माहौल इस प्रकार मूल्यविहीन बनता जा रहा है कि भारतीय समाज और विशेषकर शहरों में रहने वाले लोग सहयोग की भावना से कटते जा रहे हैं।

'सूचना' में कहानीकार ने नगरीय क्षेत्र में हो रही कुछ घटनाओं का वर्णन किया है। इनमें पहले प्रसंग में घसियारी टोले के बच्चों का खेल चल रहा है। इसमें एक बच्चा ब्राह्मण पुरोहित की भूमिका में है। वह बाकी बालकों को उसे छूने के लिए मना करता है। जैसे ही दूसरा लड़का खेल में पुरोहित बने बच्चे को गालियां देता है तब सारे बच्चे उसे पीटने के लिए दौड़ पड़ते हैं। दूसरे किस्से में एक आदमी दूसरे घायल आदमी को एक रिक्शे से ले जा रहा है। रिक्शे की घंटी लगातार बज रही थी। ऐसे में चाय वाले ने एक ही झटके में अपना रेडियो बंद कर दिया और फिर सारा चौतरा खाली हो गया। इस बात से सुकून काफी भयभीत है। एक और घटना में शहर में बाढ़ का पानी चढ़ा हुआ है। वहां पर केवल एक सड़क बची है जहां तक बाढ़ का पानी अभी पहुंचा नहीं है। उस सड़क पर रिक्शों, तांगों, साइकिलों, कारों और स्कूटरों का जमघट है। कथावाचक एक रिक्शेवाले से गोदौलिया चलने के लिए कहता है। वह और रिक्शाचालक दोनों एक ही गांव के हैं और बचपन में वे एक साथ पढ़े-लिखे और खेले-कूदे हैं। लेकिन रिक्शा वाला उसे पहचानने से इंकार करता है। कथावाचक उससे कहता है कि वह उसे अच्छी तरह पहचानता है। इस संदर्भ में दोनों की आपस की बातचीत देखिए– "किस-किस को पहचाने साब, ऐसे ही पहचानते रहे तो कर चुके कमाई'

'यार, यह तो सवाल ही नहीं है। मैं तो तुझे देखकर आया। तूने यह समझा कैसे कि मैं मुफ्त जाऊँगा ? ऐं, यहां से चलते, साथ बैठकर कहीं खाते-पीते, गप्पे करते।

जमाना हुआ तुमसे मुलाकात हुए और बात किए।'

'साब, मैं जंगी नहीं हूं, उसे जानता भी नहीं।'

'न हो, न सही। नजरें तो मिला यार,' मुझे हँसी आ जाती है। मैं उसे बाँहों में समेटता पीठ पर एक धौल जमाता हूं और सीट की तरफ ठेलता रिक्शे पर बैठ जाता हूं, 'अच्छा चल।"[5] वह दो पैडिल मारकर रिक्शे को रफ्तार देता है फिर बुढ़िया की एक दुकान के आगे खडा हो जाता है और गोदौलिया जाने से मना कर देता है।

दूसरी घटना में एक जवान लड़की है जिसे सड़क के दूसरी तरफ जाना है। लेकिन सड़क पर बाढ़ का पानी भरा हुआ है। वह रास्ते के दूसरी ओर जाते हुए अपनी साड़ी को उठाती है ताकि वह भीग न जाए। यह दृश्य देखकर वहां के मनचले युवक उत्तेजित हो जाते हैं। वे उस लड़की को देखकर तरह-तरह की फब्तियां कसने लगते हैं। जब वह अपनी साड़ी जांघों के ऊपर उठा कर आने का प्रयत्न करती है तब एक गंवई मर्द उस पानी में कूदता है और उस लड़की से कहता है कि साड़ी को नीचे कर दो। इस बात से वहां के रंगिलेमिजाज लड़के नाराज हो जाते हैं और उस गंवई मर्द से भिड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं।

तीसरी घटना है जिसमें दो रिक्शा चालक आपस में मार-पीट कर रहे हैं। इस मारपीट का कारण बहुत मामूली है। एक रिक्शेवाले ने दूसरे को 'साला' कह दिया है। एक अमीर आदमी रिक्शे में बैठता है और उससे जल्दी से चलने को कहता है। वह उसे धमकी देता है कि अगर वह जल्दी से नहीं चला तो वह दूसरे रिक्शा पर जाकर बैठ जाएगा। मारपीट के कारण चोट खाया हुआ रिक्शा वाला जल्दी से अपने वाहन को खींचने के लिए आता है। एक अन्य घटना

में सड़क के किनारे एक लाश पड़ी है और इस लाश को पूछनेवाला कोई नहीं है। उसके छाती पर चाकू लगा है और उसके इर्द गिर्द मक्खियां भिनभिना रही हैं।

इस कहानी में शहर में हो रहीं बहुत सारी घटनाओं का जिक्र किया गया है। इस प्रकार की घटनाओं की सूचनाएं हमें अक्सर मिलती रहती हैं, लेकिन असल में हमारे पास इतना वक्त ही नहीं है कि इनके बारे में जरा फुर्सत में बैठकर सोच-विचार कर सकें। आखिर इस प्रकार की घटनाएं समाज में क्यों हो रही हैं। हमें गंभीरतापूर्वक सोचना होगा कि आखिर ऐसे वाक़यात न हो इसलिए क्या किया जा सकता है। वर्तमान दौर में सूचनाओं की इतनी ज्यादा भरमार हो गई है कि लोगों पर इनका कोई असर नहीं पड़ता। वास्तविकता यह है कि शहरों में रहने वाला आदमी धीरे-धीरे असंवेदनशील होता जा रहा है। शोषण, गरीबी, मारपीट, लूट-पाट, खून-खराबा जैसी बातें सामाजिक जीवन में आम हो गई हैं। यहां तक कि महिलाओं के प्रति भी हम बेहद असंवेदनशील होते जा रहे हैं। जिनके मन में महिलाओं के शील के प्रति आदर है, जो पुरूष महिलाओं का मान-सम्मान करते हैं ऐसी हस्तियों के भी कुछ लोग खिलाफ हो जाते हैं। इस कथा में लेखक ने गिरते मानवीय मूल्यों को दर्शाने की कोशिश की है। आधुनिक युग का मनुष्य आत्मीयता, बंधुत्व, उदारता जैसी बहुमूल्य चीजों को खोते जा रहा है। यह कृति इसी संकट की ओर इशारा करती है।

'सिद्दीकी की सनक' का रचनाकाल 1983 का है। आजादी के लगभग पैंतीस वर्षों बाद लिखी गयी साहित्यिक रचना है। कहानीकार ने तत्कालीन विडंबनापूर्ण स्थिति का जायजा इसमें लिया है। स्वाधीन होने के बाद देश का सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल कितना खराब हो चुका था यह इस रचना के अंतर्गत देखा जा सकता है। इसमें चित्रित सिद्दीकी सच की खोज में बाहर निकला है। वह न तो दार्शनिक है और न ही लेखक या पत्रकार। वह कोई जासूस भी

नहीं है। पिछले कुछ सालों से उन पर एक ख़ब्त सवार थी। वे अखबारों में छपने वाली घटनाएं पढ़ते, किसी एक घटना को चुनते और फिर जानने की कोशिश करते थे कि हकीक़त क्या है। ऐसी ही एक घटना को उन्होंने चुना था जिसमें एक लड़के पर गोली चलाई गई थी जो खुद तो बच गया था लेकिन उसके दोस्त और उसके पिता की मौत हो गई थी। इस घटना में कमला कन्या महाविद्यालय के सामने एक होटल जो थाने के बगल में पड़ता था दोपहर के बाद तीन लोग चाय पी रहे थे। इनमें एक छात्र नेता, उसका बाप और मित्र मौजूद थे। उसी वक्त दो लड़के मोटरसाइकिल से आए और होटल में घुसकर उन्होंने तीनों पर गोलियां चलाईं जिसमें बाप और दोस्त मर जाते हैं और छात्र नेता घायल हो जाता है। उसे अस्पताल पहुंचाया जाता है। वहां भी उसके अपहरण की कोशिशें की जाती हैं। इस बीच यह भी पता चलता है कि हत्यारे और घायल युवक अलग-अलग जाति के थे। इसलिए इस मामले को पूरे नगर में जातियों के आधार पर बांट दिया है। पुलिस अधीक्षक और दारोगा की जातियां भी एक नहीं थीं, इसलिए दोनों के बीच अंदरूनी खींचतान जारी थी। न्यायाधीश जिनकी अदालत में यह मुकदमा था वह इन दोनों में से किसी की जाति का नहीं था, इसलिए उससे न्याय की उम्मीद न हत्यारों को थी और न घायल को। इसी तरह की अनेक बातें नगर में चर्चा में थीं। सिद्दीकी को इन बातों से विशेष मतलब नहीं था। उन्हें मतलब सिर्फ इतने से था कि यह हत्या या दूसरी हत्याएं, जबकि हम सच्ची इंसानियत के रूबरू खड़े होने का दम भरने जा रहे हैं आखिर क्यों हो रही हैं? और हो ही नहीं रही हैं बल्कि लगातार बढ़ती जा रही हैं। आदमी के खून में छिपा हुआ कौन सा सच है जो उसे सदियों से चकमा दे रहा है और सामने आने में डर रहा है। इस बीच उन्होंने कुछ आंकड़े भी प्राप्त किए हैं। यथा – "सिद्दीकी के आंकड़े बताते हैं कि मामले आगजनी के हो या बलात्कार के, राहजनी के हो या लूटपाट के, ठगी के हो या हत्या के, उन्हें गौर से देखो तो पाओगे कि गरीब गरीब से टकरा रहा है, खाता

पीता खाते-पीते से टकरा रहा है, जाति जाति से टकरा रही है, धर्म मजहब से टकरा रहा है, लेकिन एक भी दौलतमंद दूसरे दौलतमंद से नहीं टकरा रहा। उनके आंकड़ों का कहना है कि सच इतना हरजाई कभी नहीं रहा कि मुजरिम की जबान पर और हो, थाने के मुंशी और दारोगा की जबान पर और, गवाहों की जबान पर और वकीलों की जबान पर और, मगर उस जम्हूरियत की जबान पर और जिसके नाम पर यह निजाम चल रहा है।"[६] गौरतलब है कि सदी के अंत तक आते-आते देश में स्थितियां बेहद खराब हो चुकी हैं। हत्या, खून, डकैती, बलात्कार, आगजनी, लूटपाट जैसी बेहद संगीन वारदातें शहरों में रोजमर्रा की हो गई हैं। इस प्रकार की वारदातों को लेकर आम जनता में केवल चर्चाएं होती रहती हैं, आखिर इस सबके लिए जिम्मेदार कौन है? क्या यह सत्ताधारियों, प्रशासकों और अधिकारियों के साथ-साथ जनता का भी कर्तव्य नहीं है कि ऐसी घटनाओं को न होने दे। कहानी का संकेत साफ है कि किस तरह समूचे समाज का सांस्कृतिक पतन तेजी के साथ हो रहा है। समाज के पतनशीलता का दौर इस रचना में साफतौर से देखा जा सकता है। दरअसल हमारे स्वाधीनता सेनानियों ने यह बिल्कुल भी नहीं सोचा होगा कि आगे चलकर एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण होगा जिसमें मानवीय मूल्य धराशाई हो जाएंगे। यह कृति ऐसे ही सत्य की खोज में निकले एक संवेदनशील व्यक्ति की दास्तान है। वह वर्तमान स्थितियों से दुखी है। इन सारी घटनाओं से वह हताश है और कोशिश में लगा है कि कैसे मानवीय जीवन सुखद हो सकता है।

प्रस्तुत कहानी के संदर्भ में श्रीराम वर्मा ने लिखा है "सिद्धीकी की सनक जटिल संरचना की कहानी है, उस यथार्थ की तरह संश्लिष्ट जो देखने में चाहे कितना भी आसान लगे, पर प्याज की तरह उसकी परत का अंत नहीं होता। वह आज नहीं तो शायद कल सच बनकर आए लेकिन फिलवक्त? फिलवक्त तो उस हरजाई की तरह है जिसे ठीक से समझा नहीं जा सकता। असल में यह उस राजनीति को समझने की असफल कोशिश है जिसका एक सिरा

हत्या और अपराध से जुड़ा है तो दूसरा अदालत और संसद से, बल्कि वहाँ और भी तरह के तिकड़म और हथकंडे हैं जो अपनी संवेदना और विचार के दायरे से बाहर है। चूंकि सिद्धीकी उस समीकरण में नहीं है, इसलिए उसे समझने में असमर्थ है। सिद्धीकी के आत्म-विचलन का एक और प्वाइन्ट है कि जो आँकड़े हैं, उसमें दौलतमंद से दौलतमंद नहीं लड़ रहे हैं। क्यों नहीं लड़ रहे है। जो भी हो, सच को अपने तरीके से समझने की खतरनाक कोशिश में, बल्कि उस डर के खिलाफ आदमी की तरह निकल आने के कारण भी उसका मारा जाना तय था। बकौल राजेश जोशी, 'जो हत्यारे नहीं होंगे मारे जायेंगे।' पर सच की यह उलटबाँसी किसे समझ आएगी? और अगर समझ में नहीं आएगी तो वह जिन्दा कैसे रह सकेगा? है न जटिल कहानी? पर उतनी जटिल भी नहीं कि आप मारे नहीं जायें। इस हत्यारी व्यवस्था में हमारे होने का मतलब किस तरह उलझ गया है, कहानी इस खतरे से आगाह कराती है।"[7]

'अपना रास्ता लो बाबा' तत्कालीन समय में दरकते हुए मानवीय संबंधों की कहानी है। इसमें वर्णित देवनाथ शहर में रहते हैं। उन्हें ढूंढते हुए गांव से उनके बूढ़े चाचा आते हैं। जब वे पान की दुकान पर खड़े थे तभी वे चाचाजी की आवाज पहचान गए थे। लेकिन उन्हें अपने घर ले जाने के बजाय वे उस वहां से चुपके से खिसक जाते हैं और घर आकर अपने पत्नी को समझाते हैं कि अगर कोई उन्हें ढूंढता हुआ घर आए तो कह देना कि वे घर पर नहीं हैं। लेकिन बाबा ढूंढते हुए उनके घर तक आ ही जाते हैं। अपने साथ वे गांव से मटका भर कर गोरस लाए हैं। देवनाथ की पत्नी उस गोरस को मोरी में फेंक देती है। गांव से आए बूढ़े देहाती को देखकर देवनाथ के बच्चे उनसे सहमे-सहमे से रह जाते हैं। उनकी घरवाली भी मैले कुचैले कपड़ों में आए देहाती को देखकर परेशान हो जाती है और उन्हें देहाती भूच्च कहती है। देवनाथ बाबा से यहां आने का कारण पूछते हैं तो वे उन्हें बताते हैं कि उनके पेट में दर्द रहता है। इसके अलावा भी अनेक परेशानियों के बारे में वे उन्हें बताते हैं। चाचाजी गांव के

सीधे-सादे आदमी हैं। वे शहर के छल कपट को नहीं जानते। देवनाथ की पत्नी उन्हें क्रोध में कह डालती है – "इतना कह देती हूं कि मुझसे रोज-रोज का खाना नहीं बनेगा। यही है तो कोई नौकर रखो, चाहे जो करो। एक-दो दिन की बात और है। बाबा या जो भी होंगे, तुम्हारे होंगे। मेरे कुछ नहीं हैं। अपनी पतोहू लाए, किराए का कमरा ले या धर्मशाला में रखें, बनवाए-खाएं। मैं यह सब लफड़ा नहीं पालती!"[8] देवनाथ आनन-फानन में उन्हें एक डॉक्टर के पास ले जाते हैं। डॉक्टर उनकी जांच पड़ताल करता है और देवनाथ से कहता है कि उन्हें शक है कि बाबा को कैंसर हो सकता है। लेकिन होगा भी तो आरंभिक स्टेज में होगा। इसलिए बिल्कुल भी देर न करें। जल्द से जल्द उनका एक्स-रे निकाले और अन्य जांच की जाए। इसके अलावा बायोप्सी भी की जाए। डॉक्टर की यह बात सुनकर देवनाथ के मन में अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। वे एक दवाइयों के दुकान के सामने अपना स्कूटर खड़ा करते हैं और तीन पैसे वाली बी कांपलेक्स की सौ गोलियां, पांच पैसे वाली लिव-52 की पचास और ऐसे ही दर्द की दस टिकियां लेते हैं और बाबा को थमा देते हैं। उन्हें राहत इस बात से भी है कि दस रुपए में सारा मामला निपट गया। बाबा जब अपनी बीमारी के बारे में उनसे पूछते हैं तो देवनाथ उनसे झूठ बोलते हैं कि उन्हें कोई बीमारी नहीं है। उसके बाद दूसरे ही दिन बाबा गांव के लिए रवाना हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत रचनाकृति में रिश्ते-नातों में आयी टूटन को चित्रित किया गया है। बाबा गांव से आए हैं। वे देवनाथ के सगे चाचा हैं। उन्होंने ही देवनाथ को पाल पोस कर बड़ा किया था। अपने अंगों कंधों पर उसे खिलाया-पिलाया था। आज वे उन संबंधों को भूल गए हैं। बाबा बड़ी उम्मीद लेकर उनके पास शहर में आए थे कि उनकी बीमारी का इलाज देवनाथ करेंगे। विडंबना यह है कि इलाज तो दूर की बात है, एक बड़ा क्रूर झूठ बाबा से कहा गया कि उन्हें कोई बीमारी नहीं है। जबकि देवनाथ पता लग चुका था कि बाबा को कैंसर है। दुख इस बात

का भी है कि डॉक्टर के अनुसार यह कैंसर आरंभिक स्टेज में हो सकता है। यह सब जानते हुए भी वे बाबा को सस्ती-सी गोलियां देकर निपटा देते हैं। देवनाथ अगर उनका इलाज करते तो शायद वे बच सकते हैं। लेकिन बाबा जी यह सोचकर वहां से चले गए कि उन्हें कोई बीमारी नहीं है। इसका मतलब यही है कि आने वाले समय में उनकी मौत निश्चित है। देवनाथ भी इस बात को भलीभांति जानते हैं कि अगर बाबा को ऐसे ही जाने दिया गया तो कैंसर के शरीर में फैलने से वे जल्दी ही मर जाएंगे। यह जानते हुए भी वे बाबा को मौत के मुंह में धकेल देते हैं। यह है वर्तमान जीवन का विद्रूप चेहरा। नगरीय जीवन में पनप रहे क्रूर यथार्थ को इसमें चित्रित किया गया है। ऐशो-आराम की चकाचौंध में हम रिश्ते-नातों को भूलते जा रहे हैं। अपने सगे संबंधियों की मौत से भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो गया है हमारा रूटीन कार्यक्रम कायम रहे। इस रचना के माध्यम से बड़ी संजीदगी के साथ मानवीय विद्रूपताओं को दर्शाया गया है।

इस कहानी को लेकर संजय कुमार सिंह का कथन उल्लेखनीय है। यथा – "अपना रास्ता लो बाबा' पढ़कर इस उपयोगितावादी समाज की बेदर्दी पर मन तड़प उठता है। इलाज को आए बाबा के साथ देवनाथ ने क्या किया? क्या वहाँ होकर, उस जमीन से जुड़ा होकर भी वह ऐसा करता? तब क्या यह शहर है जो गाँव से हमारे सारे रिश्तों को तोड़ लेता है? सचमुच वह गाँव के ख़िलाफ़ एक साज़िश है जो आदमी की सारी आदमियत सोख लेती है। शायद वहाँ आत्म-विस्मृति का वह ख़ुदगर्ज़ संसार है जहाँ दूसरे-तीसरे के लिए कोई गुंजाइश नहीं। देवनाथ ने अपने क्षणिक अपराध-बोध से पहले ही किस कौशल से बाबा को मार दिया और फिर देह-हाथ झाड़ लिया, जबकि बाबा के साथ उसकी स्मृतियों का तार खून के स्तर पर जुड़ा था। यह है आज की उपभोक्ता संस्कृति। उधर बाबा के आने में संबंधों की पूरी ऊष्मा है, पूरा विश्वास जबकि यहाँ दस रुपये में कैंसर का पूरा इलाज हो जाता है, कि इससे अधिक उस व्यवस्था में,

सोच में झेलना संभव ही नहीं। इधर बाबा हैं कि जोड़ बिठा रहे हैं – अपनी स्मृति के सहारे। कई किस्से हैं जबकि यहाँ उस इतिहास से, स्मृति से अपने को काटकर जीते हैं लोग। बिना किसी भाव के संबंधों का इस्तेमाल होता है यहां। पूरी बनिक व्यवस्था है जो मतलब और शुभ-लाभ पर आधारित है। यहाँ सिर्फ चीजें हैं, उनका इस्तेमाल है अपने फ़ायदे के लिए। कोई रिश्तेदारी नहीं कि कोई भावात्मक स्तर पर सोचे। बनिया इसलिए मुस्कराता है कि उसका माल बिकता है, परिचय और संबंध का दायरा यही है कि लो-दो और जाओ। अपना रास्ता लो। और बाबा हैं कि मतलब की इस दुनिया में गगरा और होरहा उठाए चले आये हैं गाँव से। बीमारी के बहाने आ जमे हैं, जबकि यहाँ मतलब और काम का रिश्ता है। चीज़ों के सहारे । स्मृतियों के सहारे यहाँ कोई संबंध नहीं जुड़ता। कहना न होगा कि हम जिस मतलबी समाज के नागरिक हो गये हैं, उसने अपनी खुदगर्जियों में निहायत निकम्मा और काइयाँ बना दिया है हमें, बल्कि जीने के लिए परायेपन और अजनबीयत का संसार दिया है। इस तरह स्मृति और जातीय जीवन के इतिहास से काटकर आदमी के ख़िलाफ़ आदमी को खड़ा कर दिया है। वक्त ज़रूरत हम उस रिश्ते को महसूसने के बजाय अपने हित में गला दबाते हैं मक्कारी की मुस्कान लिए ताकि दूसरे को पता भी नहीं चले।"[9]

'खरोंच' जैसी कथा कृति दर्शाती है कि कैसे मनुष्य के भीतर मौजूद मानवोचित गुणों का ह्रास होता है। एक दयाशील मनुष्य द्वारा दूसरे आदमी को उपकार करने के बदले में उसे ठोकर खानी पड़ती है। इस कारण उसके भीतर की सहयोग की भावना दुर्भावना में बदल जाती है। उपकार के बदले में मिला अपकार उसे संकीर्ण बना देता है। इसमें काशी नामक एक युवक को नई नौकरी लग गई है। नौकरी मिलने के कारण वह काफी खुश था। उसके घर वाले उसे तरह-तरह की हिदायतें देते हैं कि उसे कैसे सावधानी से रहना चाहिए। नौकरी लग जाने के बाद वह एक मोटर बाइक खरीद लेता है। वह उस बाइक को हर दिन अच्छे से धोता-पोछता

है। वह अपनी बाइक की अच्छी खासी देखभाल करता है। एक दिन वह घर से ऑफिस जा रहा था कि अचानक चौराहे पर उसकी मोटरबाइक एक साइकिल से टकरा जाती है और साइकिल पर सवार दोनों लड़के गिर जाते हैं। इस बात से काशी काफी गुस्सा हुए और उन दो लड़कों को गाली देकर आगे की ओर निकल पड़े। लेकिन थोड़ी दूर जाने के बाद उन्हें लगा की वह गलत कर रहे हैं क्योंकि वह दोनों लड़के निर्जन जगह पर गिरे पड़े हैं और उन्हें उन लड़कों को कम से कम किसी डॉक्टर के पास ले जाना चाहिए। इसलिए वह वापस उस जगह पर आते हैं और जो लड़का औंधे मुंह गिरा था उसे उठाने की कोशिश करते हैं। इतने में वह लड़का जोर-जोर से चिल्लाने लगता है – "पकड़ो! पकड़ो! बाइक लेकर भाग रहा है भोसड़ी के!"[10] वे अपनी बाइक की ओर दौड़े तो वह लड़का बाइक लेकर भाग गया था। उन्होंने सोचा कि आखिर जाएगा कहां उसका साथीदार तो यहीं पड़ा हुआ है। जब वे वापस लौट कर आए तो उन्होंने देखा कि साइकिल वाला लड़का भी वहां से भाग चुका है। वह एक जगह पर खड़े होकर सोचने लगते हैं कि आखिर वे वापस क्यों आए, यह ससुरी आत्मा कहां से चली आई ? अगर वह इसी तरह रह गई तो आगे चलकर न जाने क्या-क्या अनर्थ करेगी। काश इसके बारे में उन्हें किसी ने चेताया होता। वास्तविकता यह है कि आज भी मनुष्य के भीतर इंसानियत के तत्व मौजूद हैं। इसी के चलते वह दूसरों की मदद भी करता है। पारस्परिक सहयोग की भावना मानव संस्कृति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन उसकी इन उदात्त भावनाओं को ठोकर तब लगती है जब उसके साथ विश्वासघात होता है। किसी के प्रति दिखाई गई मानवीय संवेदनाओं के बदले में उसे गहरी ठोकर खानी पड़ती है। दूसरों पर किए गए उपकार के बदले में अपकार झेलने पड़ते हैं। इस कहानी में चित्रित काशी को इसी कृतघ्नता को झेलना पड़ा। आखिर इंसानियत के नाते ही वह मुसीबत में पड़े दो लड़कों की मदद करने के लिए गया था। इसके बदले में उसे क्या मिला? जिनकी मदद करने वह गया था उन्होंने ही उसकी मोटरबाइक

चोरी की। इस तरह यह रचना दर्शाती है कि जब उपकार के बदले में अपकार प्राप्त होते हैं तब मनुष्य के भीतर बसे उच्च मानवीय गुणों का ह्रास होता है। हमारे जीवन मूल्य धीरे-धीरे धराशाई हो जाते हैं।

'रेहन पर रग्घू' में आए रघुनाथ गांव की अपमान और जलालत से भरी जिंदगी से तंग आकर शहर में आकर अपनी बहू सोनल के साथ रहने लगते हैं। लेकिन यहां आने के बाद भी बदनसीबी उनका पीछा छोड़ने को तैयार नहीं है। कुछ ही दिनों में उनकी समझ में आ जाता है कि जिसे वे अपनी बहू समझ रहे थे वह अब उनकी बहू नहीं रही। क्योंकि उनके बेटे संजय ने अमेरिका में किसी दूसरी औरत से शादी की है। रघुनाथ की मजबूरी यह है कि उनके लिए गांव अब रहने लायक रहा नहीं क्योंकि उनके भतीजों द्वारा ही उन्हें धमकियां दी जा रही हैं। गांव में अपने ही नाते संबंधियों ने उनका जीना हराम कर रखा है। इसलिए शहर में आकर वे अपनी बहू के साथ यह सोचकर रहने लगे थे कि यह भी तो उनका अपना ही घर है। सोनल भी शहर में अपने बंगले में अकेली रह रही है उसे भी किसी के सहारे की आवश्यकता है। इसलिए वह अपने सास-ससुर को बुला लेती है। शहर में अशोक विहार नामक नई कॉलोनी तो बनी है लेकिन यह समूचा इलाका बूढ़ों के निवास स्थान में तब्दील हो चुका है। इसमें ज्यादातर रिटायर्ड हो चुके बुजुर्ग रहते हैं। उस पर विडंबना यह है कि यहां पर आए दिन कुछ न कुछ वारदातें होती रहती हैं। रघुनाथ को पता चलता है कि यहां पर अब तक कितने ही वृद्धों की हत्याएं हो चुकी हैं। दरअसल शहरी जीवन की त्रासदी यह है कि यहां बन रहे नए इलाके बाहर से देखने में चाहे जितने लुभावने लगते हो लेकिन हकीक़त में वे उतने लुभावने हैं नहीं। इन नई कॉलोनियों में एक प्रकार का डर और दहशत का माहौल कायम हो चुका है। शहरों में भू-माफियाओं का राज है और यहां के वयोवृद्ध रहिवासी गुंडों-बदमाशों के लिए आसान शिकार बने हुए हैं। माफिया की नजर इन नई बनी कॉलनियों पर है। यह है

भारत के नगरों-महानगरों में बन रहे नए इलाकों की अवस्था जिसमें अमन चैन, सुख-शांति की जिंदगी बसर करना अब मुश्किल होता जा रहा है। शहरों में वृद्धों के साथ हो रहे कटु यथार्थ को इस उपन्यास में सामने लाने की कोशिश की गई है। इन वृद्धों की संतानें कहीं सुदूर क्षेत्रों में नौकरी, कामधंदो के सिलसिले में दूसरी जगहों पर बस गए हैं। इन बूढों के साथ दिक्कत है कि इनकी देखभाल करने वाले, ढलती उम्र के इस मोड़ पर सहारा देने वाले अब कोई नहीं है। इसलिए मजबूरी में इन्हें अकेले में जीवन यापन करना पड़ रहा है और वह भी एक ऐसे दहशत भरे माहौल में कि पता नहीं कब क्या हो जाए और कोई हत्यारा आकर जीवन की डोर काटकर चला जाए। इस प्रकार उपन्यास इक्कीसवीं शताब्दी में देश में जो सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं उन परिवर्तनों का आख्यान प्रस्तुत करता है। इस नई शताब्दी में हमारे रक्षणीय मानवीय मूल्य विखंडित होते जा रहे हैं और उनके बदले में जो नए मूल्य स्थापित हो रहे हैं वे निश्चित ही मनुष्य जीवन के लिए घातक साबित हो रहे हैं।

4.2.2 नगरीय जीवन में पनप रही अपसंस्कृति

शहरों में समय के साथ फैल रही अपसंस्कृतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। शहराती आदमी अपने कामों में इतना व्यस्त हो गया है कि वह अपने बाहर देख नहीं पाता। 'एक गुड्डी' छोटी-सी बच्ची का किस्सा है जिसकी ओर घर का कोई सदस्य ध्यान नहीं देता। घर के सारे सदस्य किसी यंत्र की तरह अपने काम में मशगूल हैं और गुड्डी को संभालने का सारा दारोमदार उसकी देखभाल करने वाली आया पर है। लेकिन आया अन्य कामों में व्यस्त होने के कारण उसका ठीक से खयाल नहीं रख पाती। इसलिए उसे परिवार के हर सदस्य के कमरे में छोड़ दिया जाता है। अंत में जब वह दादी के कमरे में लाकर पटक दी जाती है तब दादी रामचरितमानस की पंक्तियां गा रही थी। गुड़िया वहां आकर सिर हिलाने लगती है, जैसे

ही वह बैठती है एक आवाज होती है और आवाज के साथ कुछ पीले-हरे छिंटे गुटके पर फैल जाते हैं और गुटका पानी में तर हो जाता है। इस बात से दादी जोर-जोर से रोने लगती है। उनके रोने की आवाज सुनकर सारा परिवार दादी के कमरे में दौड़ कर आता है। घर के सभी लोगों को एक साथ देख कर गुड्डी खुश हो जाती है और सबको हाथ हिलाकर दिखाती है।

शहरों में दैनिक व्यस्तताओं के कारण घर-परिवार के लोग एक छोटी बच्ची की ओर ध्यान भी नहीं दे पा रहे हैं। वह पूरी तरह से अपनी आया पर निर्भर करती है। लेकिन वह अपने परिवार के लोगों का ध्यान भी चाहती है। दुर्भाग्य से किसी के पास उसके लिए समय नहीं है। सभी लोग अपने दैनिक कामकाज में इतने व्यस्त हैं कि वह भूल गए हैं कि उस छोटी-सी बच्ची के प्रति उनका भी कोई उत्तरदायित्व बनता है। आधुनिक युग में शहरों में रहने वाले लोग यंत्रवत बनते जा रहे हैं। सामयिक दौर में छोटे बच्चों के लिए समय न देने की प्रवृत्ति से साफ जाहिर है कि भविष्य में इन्हें हम किस प्रकार के संस्कार देने वाले हैं। प्रेम, स्नेह, अपनत्व, ममता जैसे मानवीय गुण इन्हें मिलने चाहिए लेकिन दुर्भाग्य से यह सब उन्हें प्राप्त नहीं हो रहा है। यही वजह है कि एक शीलवान, संस्कारशील पीढ़ी का निर्माण हम नहीं कर पा रहे हैं। भारतीय नगरीय जीवन में व्याप्त अपसंस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर यह कथा रचना संकेत करती है।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में नगरों और महानगरों में पनप रही अपसंस्कृति का चित्रण हुआ है। आजादी के पश्चात देहातों से बहुत बड़ी मात्रा में लोगों ने पलायन किया और वे शहरों में बसने लगे थे । लेकिन आज के समय की हक़ीक़त यह है कि पुराने शहर अब छोटे पड़ने लगे हैं। विशेषकर बीसवीं सदी के अंतिम दशक में शहरों की ओर बहुत बड़ी मात्रा में स्थानांतरण हो रहा है। स्थानांतरित होने की यह प्रक्रिया इक्कीसवीं सदी में भी जारी है। शहर की आबादी

बहुत तेज गति से बढ़ रही है। इस कारण यहां के बाहरी इलाकों में नई-नई कॉलोनियां बन रही हैं। रघुनाथ गांव की जिंदगी से त्रस्त होकर शहर में अपनी बहू के घर आनंद विहार कॉलोनी में रहने के लिए जाते हैं। यह इलाका नगर के बाहरी भाग में बसा हुआ है। यह समूची कॉलोनी रिटायर्ड हो चुके या जल्द ही रिटायर्ड होने वाले मध्यवर्गीय नौकरीपेशा लोगों से बसी है। ये लोग यहां इसलिए रहने के लिए आए थे ताकि बची हुई जिंदगी आराम से गुजार सकें। लेकिन विडंबना यह है कि इन इलाकों में भूमाफियाओं का राज कायम हो चुका है। शहरों में इनका वर्चस्व बढ़ने लगा और उन्होंने आस-पास की जमीनें खरीदकर नई-नई बस्तियां बसायीं। यहां पर रहने वाले लोग वृद्ध होने के कारण ये इलाके चोरों, लुटेरों, डकैतों के लिए सॉफ्ट टारगेट बन गए हैं। दिन दहाड़े हत्याएं, डकैती एवं भू-माफिया द्वारा लोगों को विस्थापित किया जाना इन बड़ी कॉलोनियों का दर्दनाक पक्ष है। यहां पर एक अजीब-सा सन्नाटा हमेशा छाया रहता है और यहां रहने वाले निवासियों की अपनी न तो कोई संस्कृति है और न ही ये लोग किसी आत्मीयता के सूत्र से बंधे हुए हैं । ऐसी ही कालोनियों में आज की तथाकथित उपभोक्तावादी अपसंस्कृति फैली हुई देखी जा सकती है। इस प्रकार यह उपन्यास आज की जटिलतम जीवन स्थितियों को बृहद परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है।

रघुनाथ का मन अक्सर गाँव और वहाँ की जमीन-जायदाद में डूबा रहता था। लेकिन गांव में कोई सहारा न होने के कारण वे अपनी परित्यक्ता बहू के यहाँ जीवन के शेष दिन बिताने के लिए शहर में आते हैं। मास्टर रघुनाथ के जीवन की जो परिणति होती है वह आज की उत्तर आधुनिक संस्कृति का कटू यथार्थ बनकर सामने आता है। वे महसूस करते हैं कि इस अपसंस्कृति से गांवों में छल छद्म, आपसी द्वेषभाव और सम्बन्धों में तनाव आया है तो शहरों में यांत्रिकता, अमानवीयता और असंवेदनशीलता के तत्व फैल गए हैं। इस नवीनीकरण की चमक-दमक का व्यवहारिक रूप शहरों के अनियंत्रित ढंग से फैलाव में देखा जा सकता है।

इस उपन्यास का अंत बडे ही नाटकीय अंदाज में हुआ है। रघुनाथ के गांव की जमीन पर उनके भतीजों की बुरी नजर है। वे उनकी जमीन हथियाने की फ़िराक में लगे हैं। इसलिए उनका भतीजा नरेश किसी माफिया की मदद लेता है और दो गुंडों को रघुनाथ के घर भेजता है। गुंडे उनके घर आते हैं और जमीन के कागज़ात पर हस्ताक्षर करने के लिए कहते हैं। लेकिन रघुनाथ उन गुंडों के सामने एक प्रस्ताव रखते हैं कि जितने पैसे नरेश ने दिए हैं उससे ज्यादा पैसे उन गुंडों को मिल सकते हैं, इसके लिए उन्हें बस इतना करना है कि उन्हें बंधक बनाना है, उनका अपहरण करना है और उनके बच्चों से फिरौती की रकम मांगनी है। अतः उनके और गुंडों के बीच हुए संभाषण पर गौर कीजिए – "मुझे ले चलो अगवा करो मुझे और फिरौती मांगो दो लाख!'

'कौन देगा तुम्हारे जैसे सड़े गले बुड्ढे का दो लाख?'

'सिर्फ दो लाख इसलिए की रकम नहीं अखरेगी देने में। मिल भी जाएगी और हत्या से भी बच जाओगे?'

'अरे देगा कौन इस सड़े गले का?'

'सड़ा गला तुम्हारे लिए हूं, बेटों के लिए तो नहीं, बेटी के लिए तो नहीं?'

'मान लो इनमें से कोई फिरौती देने न आए तो?'

'यही तो देखना है कि कोई आता भी है या नहीं?"[11]

इस प्रकार वे अपनी जिंदगी का आखिरी दांव चलना चाहते हैं। वे यह सोचकर गुंडों को ज्यादा पैसों का लालच देते हैं कि उनके बच्चों को जब यह पता चल जायेगा कि उनके पिता की जान खतरे में है तब यह जानने के बाद उनके बच्चे उनकी मदद के लिए आते भी हैं कि नहीं। रघु यह जानते हैं कि उनके जीते जी किस कदर वे अपने ही बच्चों द्वारा बेमतलब के साबित हो

चुके हैं। उन्हें हमेशा यह ग़म सताते रहता है कि उनकी संतानों में अपने बाप के प्रति कोई अपनत्व का भाव नहीं बचा है। उन्हें अपने ही बच्चे पराए लगने लगे हैं। लेकिन कहीं न कहीं उनके मन में अभी भी एक हल्की-सी उम्मीद की किरण बची है कि जब उनके बच्चों को यह पता चलेगा कि उनके पिता की जिंदगी ख़तरे में है तब उन पर आए प्राणों के संकट की खबर सुनकर वे विचलित हो जाएंगे और इस संकट की घड़ी में उन्हें बचाने आएंगे। शायद यही वजह थी कि रघुनाथ उन गुंडों से कहते हैं कि वे लोग उनका अपहरण करें और उन्हें बंधक बनाकर ले जाए। वे देखना चाहते हैं कि उम्र के इस पड़ाव पर उनके सारे रिश्ते-नाते खत्म हो चुके हैं या अभी इसमें कुछ शेष बाकी है। इसलिए वे एक अंतिम प्रयास करना चाहते हैं कि उनके संतानों में अगर थोड़ा भी अपनत्व का भाव बचा होगा तो वे जरूर उन्हें गुंडों से छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे और फिर उन्हें करना ही क्या है बस गुंडों को कुछ रुपए देने हैं जो उनके बच्चों के लिए कोई बहुत बड़ी राशि नहीं है। इस तरह वे एक अंतिम प्रयास करते हैं कि जिस परिवार को वे लगभग समाप्त ही समझ रहे थे क्या उसमें थोडी सी भी उम्मीद बची है? उनकी जिंदगी का जो समय बचा है उसमें कम से कम यह भरोसा तो बना रहे कि अभी सब कुछ खत्म नहीं हुआ है, कुछ तो अभी बाकी है। उनके लिए इस छोटी सी उम्मीद के सहारे भी बाकी बची हुई ज़िंदगी सुकुन से काटी जा सकती है।

4.3 प्रकृति और मनुष्य का पारस्परिक संबंध

पृथ्वी पर रहने वाला प्रत्येक जीव प्राकृतिक तत्वों पर अवलंबित है। इस धरती पर रहने वाला प्रत्येक जीवधारी अपने जीवन को चलाने के लिए कुदरत से कुछ न कुछ लेता है। मनुष्य ने भी इससे बहुत कुछ लिया है। लेकिन चिंतनीय बात है कि अन्य प्राणियों के मुकाबले वह प्रकृति से कुछ अतिरिक्त ही लेता आया है। आधुनिक युग की समस्या यह है कि मनुष्य प्रकृति का अमर्यादित रूप से दोहन कर रहा है। अपने स्वार्थलिप्सा में अंधा होकर वह यहां के

संसाधनों के साथ छीना-झपटी में लगा हुआ है। तथाकथित विकास के नाम पर इसे नष्ट करने पर तुला है। जिस प्रकार वह गैरज़िम्मेदाराना रूप से इसे विनाश की ओर ले जा रहा है इससे समझ में आता है कि आने वाले समय में उसकी यह अविवेकपूर्ण यात्रा मनुष्य ही नहीं बल्कि समग्र प्राणिमात्रा के लिए घातक साबित होगी। इसीलिए समूचे विश्व में पर्यावरण को बचाने को लेकर समस्त विश्व भर में विचार विमर्श हो रहा है। वर्तमान समय में पर्यावरणीय विमर्श की अनुगूंज समस्त दुनिया में सुनाई दे रही है।

4.3.1 प्रकृति के प्रति लगाव

प्रकृति के साथ मनुष्य का जन्मजात संबंध है। आपके कथा साहित्य में मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संबंध को लेकर सोच विचार किया गया है। लेखक की 'निधन' मनुष्य के इस धरती से जुड़ाव को दर्शाती है। इसमें चित्रित भोला बाबू ने दो साल पहले अपने घर के आंगन में एक नीम का बिरवा लगाया था। धीरे-धीरे उन्हें उस बिरवे से इतना प्यार हो जाता है कि वे उसे अपनी संतान की तरह चाहने लगते हैं। वे उस नीम के पेड़ से इस तरह बातें करते हैं जैसे वह पेड़ न होकर कोई इंसान का बच्चा हो। यथा – "अरे! यह क्या कर रही हो? ऐं, कहीं ऐसा भी करते हैं !' उन्होंने झुककर उन्हें समेट लिया। उन्हें लगा कि वे काफी त्रस्त और घबराई हुई हैं। उन्होंने उन्हें हथेलियों के बीच लिया और निहारने लगे। तब तक फिर वे पीली पत्तियां उड़ीं और बरामदे की छत और किवाड़ से सटकर तितली की तरह फरफराने लगीं। भोला बाबू यह नखरे देख ही रहे थे कि दूर हवा का गर्रा उनके कान में पड़ा और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं, 'हे भगवान्, आखिर ये लोग क्या चाहते हैं?...आख़िर, आखिर क्या चाहते हैं आप लोग?"[12] जिस स्थान पर वे रहते हैं वहां पर अक्सर आंधी आ जाती है और पेड़ पत्तों को भारी नुकसान पहुंचाती है। एक दिन उनके घर ऐसी आंधी आयी कि उन्होंने जो नीम का पेड़ लगाया था वह जड़ से उखड़ गया। वे नीम के बिरवे को बचाने की भरसक कोशिश करते हैं।

आखिर में आंधी के आगे वे कमजोर पड़ जाते हैं और नीम का छोटा-सा बिरवा जड़ से उखड़ जाता है। आंधी के थम जाने के बाद वे थके-मांदे, घायल होकर बरामदे की तरफ बढ़ते हैं। निम भी उनकी छाती से चिपटा हुआ है। वे नीम को अपनी बाहों में थाम लेते हैं और भीतर कमरे में जाकर खटिया पर आहिस्ता से लेट जाते हैं। इसके बाद छत की ओर ताकते हुए वे बुदबुदाते हैं कि 'हे आयु आप कितनी लंबी है?' उनके इस अंतिम वाक्य से स्पष्ट है कि उस पेड़ के उखड़ जाने के साथ ही भोला बाबू को जिंदगी से विरक्ति हो गई है। नीम के बगैर उन्हें अपनी जिंदगी बेकार लगने लगती है।

आधुनिक युग में मानव का प्रकृति से नाता टूट रहा है, वह धीरे-धीरे इससे दूर होता जा रहा है, ऐसे समय में भोला बाबू का प्रकृति के प्रति गहरा लगाव हमें इसके प्रति गंभीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश करता है। खास करके नगरों महानगरों में तथाकथित विकास के नाम पर हम निसर्ग के सौंदर्य से कटते जा रहा है। प्रकृति को लेकर हम बेहद खूंखार होते जा रहे हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि यह पर्यावरण ही है जो मनुष्य को जीने के अनेक तत्त्व मुहैया कराता है। इस तत्व से दूर होकर हम अपना भारी नुकसान कर रहे हैं। पर्यावरण के प्रति हमारे गैर ज़िम्मेदाराना रवैये का मतलब अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। कहना न होगा कि 'निधन' प्रकृति के प्रति मनुष्य के सच्चे लगाव को दर्शाती है। जब तक हम इस सुंदर प्रकृति से सच्चा प्रेम नहीं करेंगे तब तक उसे सहेज कर रखने की कोशिश भी नहीं करेंगे। कहानी का संदेश भी यही है कि अगर हम आने वाली पीढ़ियों के भविष्य को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो इस प्राकृतिक उपादानों को संभाल कर रखने की आवश्यकता है।

'सुख' कहानी में चित्रित भोला बाबू लंबे समय तक तार बाबू के रूप में काम करने के बाद रिटायर्ड होकर घर आते हैं। एक दिन कमरे में जब वे अखबार पढ़ रहे थे कि उनका ध्यान

डूबते हुए सूरज की ओर जाता है। वे यह दृश्य देखकर अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्राकृतिक सुंदरता से उन्हें अनोखी तृप्ति मिलती है। फिर वे लगातार उसी दृश्य को देखते रह गए। सूरज का डूबना उनके लिए ऐसा है मानो सूर्य को वे पहली बार देख रहे हो। डूबते सूरज को देख जो आनंद उन्हें मिला वे चाहते हैं कि उस खुशी को वे दूसरों को भी बताएं। लेकिन जब वे इस वर्णनातीत सुख को दूसरों को बताना चाहते हैं तब उनकी बात की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यहां तक कि उनकी पत्नी को भी इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं है। इससे वे अत्यंत दुखी हो जाते हैं और एक गहरा अवसाद उन पर छा जाता है। बिल्कुल सामान्य - सी लगने वाली एक घटना को रचनाकार ने अपने आख्यान का विषय बनाया है। प्रकृति से दूर होते जा रहे मनुष्य ने जीवन को इतना यांत्रिक बना दिया है कि इस त्रासद परिस्थितियों से बाहर निकलना उसके लिए मुश्किल हो रहा है। व्यक्ति के अकेलेपन की पीड़ा जिस रूप में यहां आयी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कथाकार इस कृति के माध्यम से मनुष्य जीवन के यांत्रिक वैयक्तिकता को सामूहिकता से जोड़ने की कोशिश करते हैं।

शहर में रहने वाले लोगों का प्रकृति से नाता टूट-सा गया है। रोजमर्रा की जिंदगी में हम इतने व्यस्त हो गए हैं कि हम अपने इर्दगिर्द के प्राकृतिक खूबसूरती को देख नहीं पाते। भोला बाबू को अपनी नौकरी से सेवानिवृत्त होने तक इस रमणीयता को महसूस करने के लिए समय नहीं था। वैसे देखा जाए तो शाम के वक्त सूरज का दर्शन होना कोई अनोखी घटना नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि इस प्रकार की घटना संसार में कभी-कभार ही होती हो। सूर्य तो रोजाना आकाश में अपनी लालिमा बिखेरता है। लेकिन विडंबना यह है कि अपने जीवनकाल में कथानायक को इतनी फुर्सत ही नहीं थी कि वे इन छवियों को कभी ठीक ढंग से देख पाते और भोला बाबू ही क्यों उनके अगल-बगल जितने भी लोग हैं जिनसे वे मिले वे भी इस अनोखे सौंदर्य को महसूस नहीं कर पाते। यह है शहरी जीवन के मनुष्य का शुष्क यथार्थ।

प्रकृति से दूर होने के कारण मानव जीवन में आए भयानक यांत्रिकता को यहां प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है।

मानव और प्रकृति का सदियों से असीम नाता है। लेकिन जिंदगी के धक्का-मुक्की में हम इससे दूर होते जा रहे हैं। कुदरत की महत्ता को हम समझ ही नहीं पाते। जब तक हम इस महत्व को समझने लगते हैं तब तक काफी देर हो जाती है। ऐसा ही कुछ 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास के नायक रघुनाथ के साथ हुआ है। यथा – "कितने दिन हो गए बारिश में भींगे? कितने दिन हो गए लू के थपेड़े खाए? कितने दिन हो गए जेठ के घाम में झुलसे? कितने दिन हो गए अंजोरिया रात में मटरगश्ती किए? कितने दिन हो गए ठंड में ठिठुर कर दाँत किटकिटाए? क्या ये इसीलिए होते हैं कि हम इनसे बच के रहें? बच बचा के चलें?
या इसलिए कि इन्हें भोगें, इन्हें जिएँ, इनसे दोस्ती करें, बतियाएँ, सिर माथे पर बिठाएँ?
हम इनसे ऐसा व्यवहार कर रहे हैं जैसे ये हमारे शत्रु हैं! क्यों कर रहे हैं ऐसा?
इधर एक अर्से से रघुनाथ को लग रहा था कि वह दिन दूर नहीं जब वे नहीं रहेंगे और यह धरती रह जाएँगी! वे चले जाएँगे और इस धरती का वैभव, इसका ऐश्वर्य, इसका सौन्दर्य – ये बादल, ये धूप, ये पेड़ पौधे, ये फसलें, ये नदी नाले, कछार, जंगल पहाड़ और यह सारा कुछ यहीं छूट जाएगा! वे यह सारा कुछ अपनी आँखों में बसा लेना चाहते हैं जैसे वे भले चले जाएँ, आँखें रह जाएँगी; त्वचा पर हर चीज की थाप सोख लेना चाहते हैं जैसे त्वचा केंचुल की तरह यहीं छूट जाएगी और उसका स्पर्श उन तक पहुँचाती रहेंगी! उन्हें लग रहा था कि बहुत दिन नहीं बचे हैं उनके जाने में! मुमकिन है वह दिन कल ही हो, जब उनके लिए सूरज ही न उगे। उगेगा तो जरूर, लेकिन उसे दूसरे देखेंगे-वे नहीं! क्या यह सम्भव नहीं कि वे सूरज को बाँध के अपने साथ ही लिए जाएँ-न वह रहे, न उगे, न कोई और देखे! लेकिन एक सूरज समूची धरती तो नहीं, वे किस किस चीज को बाँधेगे और किस किस को देखने से रोकेंगे?

उनकी बाहें इतनी लम्बी क्यों नहीं हो जातीं कि वे उसमें सारी धरती समेट लें और मरें या जिएँ तो सबके साथ!

लेकिन एक मन और था रघुनाथ का जो उन्हें धिक्कारे जा रहा था-कल तक कहाँ था यह प्यार? धरती से प्यार की यह ललक? यह तड़प? कल भी यही धरती थी। ये ही बादल, आसमान, तारे, सूरज चाँद थे! नदी, झरने, सागर, जंगल, पहाड़ थे। ये ही गली, मकान, चौबारे थे! कहाँ थी यह तड़प? फुर्सत थी इन्हें देखने की? आज जब मृत्यु बिल्ली की तरह दबे पाँव कमरे में आ रही है तो बाहर जिन्दगी बुलाती हुई सुनाई पड रही है?"[13] इस प्रकार जीवन के अंतिम पड़ाव पर पहुंचने के बाद उन्हें प्रकृति की याद आने लगती है और समझ में आने लगा था कि उनसे क्या भूल हो गई है।

औद्योगिक युग में सभ्यता के विकास में नवीन-नवीन आविष्कारों ने बहुत बड़ा योगदान दिया है। लेकिन धीरे-धीरे उसका पर्यावरण से नाता टूटने लगा। इस विकास के कारण वह अपने आप तक सीमित होने लगा। उसका जीवन भी किसी यंत्र की भांति एक ढर्रे पर चलता हुआ दिखाई देता है। इस वजह से उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि वह प्रकृति से हमेशा जुड़ा रहे।

4.3.2 प्रकृति के साथ मनुष्य का संघर्ष

मानवीय जीवन कई मायनों में पर्यावरण पर निर्भर करता है। प्राकृतिक तत्वों का इस्तेमाल कर वह जीवन यापन करता है। जीवन के संघर्ष में प्रकृति के साथ उसकी जद्दोजहद सदैव चलती रहती है।

आपकी कथाकृति 'दलदल' मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संबंध को दर्शाती है। एक ओर प्रकृति की सुंदरता मनुष्य को लुभाती है तो दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें इससे कोई मतलब नहीं है। इन लोगों ने प्रकृति को सदैव जीविकोपार्जन के लिए आवश्यकता के रूप में देखा है। इस कहानी में आया कथावाचक नैसर्गिक सौंदर्य का प्रेमी है। सृष्टि की मनोहरता से वह सच्चा प्रेम करता है। उसे पहाड़, जंगल, नदी, झील, झरने, हवा और बादलों से बेहद प्यार था। पर्यावरण का परिवर्तनकारी रूप उसे बेहद आकर्षित करता है। वह विगत बीस-बाइस वर्षों से शहर में रह रहा है। यहां रहते हुए उसकी यह इच्छा बलवती हो गई है कि वह हमेशा प्रकृति से जुड़ा रहे। एक दिन छुट्टियों में जब वह गांव आता है तो देखता है कि यहां के लोगों के चेहरों पर मायूसी छाई हुई है। गांव में नहर, पानी, पहाड़, खेत सब कुछ है लेकिन यहां के लोग इस सुष्मिता को अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। प्रकृति को लेकर उसकी धारणा तब बदलने लगती है जब वह देखता है कि उसके पिता खेत में उगे फूल-पौधों को उखाड़कर फेंक रहे हैं ताकि उसमें मटर को उगाया जा सके। वह गांववालों की हरकतों को देखता है और परेशान हो उठता है। वह सोचता है कि क्यों ये लोग प्राकृतिक खूबसूरती को महसूस नहीं कर सकते? यथा – "मुझे उस दिन बेहद परेशानी हुई लेकिन मैं पूरे गाँव को, लोगों की हरकतों को देखता गया। मैंने देखा कि वे हर चीज को अपने खेतों से जोड़कर देखने के आदी हैं, मिट्टी और फसलों के बगल में रखकर निर्णय देने के अभ्यस्त हैं और यह बड़ी गहरी नींव है। प्रकृति उनके सामने उस रूप में नहीं है जिस रूप में मेरे या किसी और के सामने है। वे खूबसूरत से खूबसूरत बादल, हवा, बारिश, पौधे, आसमान, सूरज, धूप, चाँद, ओले, कहरे को देखते हैं और अपनी जरूरत के सन्दर्भ में उन्हें ठोकर मार देते हैं। वे अपने खेत में किसी भी ऐसी चीज का होना बर्दाश्त नहीं करते, जिसका उनकी मेहनत और कमाई से तुक न बैठ रहा हो।"[14] जाहिर है कि कथावाचक के लिए इस शोभा का बेहद आकर्षण है। प्राकृतिक सुषमा को अपनी आंखों से

देखकर वह रोमांचित हो जाता है। लेकिन गांव के लोगों को इसका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि उनके लिए पेट की भूख ही सर्वोपरि है। यहां के लोगों के लिए उनका घर-परिवार ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। उनके लिए प्रकृति कोई सौंदर्य स्थली नहीं है बल्कि जीवन जीने के लिए समर स्थली है। इन्हीं प्राकृतिक उपादानों को इस्तमाल कर वे अपने कुटुम्ब को चलाते हैं। उनके लिए पानी के पहाड़, खेत जीवन जीने के साधन हैं। "और ये जंगल, नदी, पहाड़ और झरने ! कौन नहीं जानता कि जो हमारे लिए नदी है, मल्लाह के लिए उसका खेत है, जो हमारे लिए बादल है, बाबूजी के लिए फसल या पत्थर है, जो हमारे लिए पहाड़ है, वहां के कुली के लिए रोटी है लेकिन हम यह जानते भर हैं। जब डलहौजी में मेरी बस अड्डे पर खड़ी हो गई थी - बावजूद इसके कि खिड़कियाँ खुली थीं, अन्दर अंधेरा छा गया था । बस के ऊपर-नीचे, आगे-पीछे खिड़कियों पर कुली घटाओं की तरह घिर गए थे । लोग बार-बार खिड़कियों पर झूलते कुलियों के पेट में घूंसे मार रहे थे, क्योंकि वे उन्हें पहाड़ का नजारा नहीं लेने दे रहे थे। मैं किसी सूरत से आधे घंटे के बाद बस के बाहर आ सका था और जब आया था तब मेरी एक अटैची तीन कुलियों के हाथ में थी।"[15] इस प्रसंग से साफ जाहिर है कि बस में बैठे सैलानियों के लिए डलहौजी के खूबसूरत पहाड़ों को देखना आंखों को सुकून देने जैसा है लेकिन वहां के कुलियों के लिए यह रोटी के लिए जद्दोजहद है। कुली चाहते हैं कि जैसे तैसे सैलानियों का लगेज वे उठाएं जिससे कि उन्हें कुछ पैसे प्राप्त हो। कहानी के अंत में काशीनाथ जी लिखते हैं कि – "भाई, बेशक यह धरती खूबसूरत है, बेहद खूबसूरत है, लेकिन तभी तक, जब तक हम अपनी आँख से सोचते हैं, जब तक हमारी आँखें हमारे हाथों के बाहर हैं, और तरक्की-पसन्द हैं। आओ, पहले हम अपनी आँखों की जाँच करें और पक्के तौर पर तय कर लें कि हमारे पैरों के नीचे क्या है?"[16] प्रस्तुत रचना में शहरों में रहने वाले वे लोग हैं जिन्हें नैसर्गिक सौंदर्य को अपनी आंखों से देखकर लगता है कि यहीं जीवन का वास्तविक आनंद है, दूसरी ओर वे

ग्रामजन हैं जिनके लिए प्रकृति मात्र जीवन जीने का साधन है। ग्रामीण जनता धरती माता को लेकर हमेशा संघर्ष करती आयी है। इससे कुछ प्राप्त करने के लिए मनुष्य को जूझना पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस धरणी ने मनुष्य को बहुत कुछ दिया है लेकिन यह सब पाने के लिए उसे हमेशा से संघर्ष करना पड़ा है।

आपकी 'जंगलजातकम्' अनेक अर्थों से भरी हुई रचना है। इसमें इंसान और प्रकृति के परस्पर संबंधों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक मानव की विडंबना है कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थों में अंधा होकर प्रकृति के संसाधनों को नष्ट करने पर तुला हुआ है। इस आख्यान की शुरुआत एक जंगल से होती है जहां पर सभी पेड़ आपस में मिलजुल कर रहते थे। उनमें आपस में एक-दूसरे के प्रति सामाजिक समरसता का भाव दिखाई पड़ता है। एक दिन मनुष्यों का एक बहुत बड़ा काफिला जंगल की ओर आता है। उस काफिले का सरदार घोड़े पर बैठा है और उसे एक व्यक्ति खींच रहा है। यह लोग जंगल को काटकर उस जगह पर कारखाने और कोयले की खदानें बनाना चाहते हैं। इस बात का विरोध करते हुए सारे पेड़ एकत्रित होकर मनुष्यों को वहां से चले जाने की विनती करते हैं। लेकिन वे वहां से जाने को तैयार नहीं हैं। दरख्तों की ओर से बूढ़ा बरगद मनुष्यों से बातें करता है। इंसानों और पेड़ों के बीच युगों-युगों से चले आ रहे संबंध के बारे में वह कहता है – "हे भद्र, हमारे पूर्वजों और मनुष्यों का बड़ा ही अन्तरंग सम्बन्ध रहा है। उनके लिए हम अपने पुष्प, अपने बीच छिपी सारी संपदा, कन्द-मूल, फल, पशु-पक्षी सब कुछ निछावर कर चुके हैं और आज भी करने के लिए प्रस्तुत हैं। विश्वास करें, शुरू से ही कुछ ऐसा नाता रहा है कि हमें भी उनके बिना खास अच्छा नहीं लगता। जवाब में उन्होंने भी हमें भरपूर प्यार दिया है। लेकिन आप?...हमें संदेह है कि आप मनुष्य हैं !"[17] मनुष्य के इस आक्रमण से बचने के लिए जंगल के सारे पेड़ एकजुट रहते हैं। लेकिन वे वृक्षों की कमजोरी जानते हैं और जंगल के कुछ वृक्षों को झांसा देने में

कामयाब हो जाते हैं। इंसान बांसों को लालच देते हैं कि वे उन्हें यहां से लेकर अपने पास अपने घर में रखेंगे। बूढ़ा बरगद समझ जाता है कि अब यह जंगल ध्वस्त होकर ही रहेगा। इसलिए उसकी आंखों में आंसू भी आते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत साहित्यिक कृति में पेड़ों का मानवीकरण किया गया है।

ध्यातव्य है कि आधुनिक युग में बढ़ते शहरीकरण के कारण जंगल ध्वस्त हो रहे हैं। विकास के नाम पर वनों को काटा जा रहा है। चिंता इस बात को लेकर है कि आने वाले समय में इस प्रकार का अव्यवस्थित विकास समस्त प्राणिमात्रा का भारी नुकसान करने वाला है। विकासकर्म के नाम पर जंगल में रहने वाले लोगों को विस्थापित किया जा रहा है। यह रचना वनों में रहने वाले वनवासियों के विस्थापन की पीड़ा को भी दर्शाती है। कहानी के अंत में बूढ़े बरगद के मुख से निकले यह शब्द ध्यान देने लायक हैं –

"आदमी महान है
महान है लोहा
और पेड़ भी महान है
लेकिन जब पेड़ हाथ मिलाता है आदमी से पेड़ के खिलाफ
लोहा लोहे के खिलाफ
आदमी आदमी के खिलाफ
सब के सब कटते हैं"[18]

कथा में आया घमोच का चरित्र निरंकुश सत्ताधारियों का प्रतीक बनकर आया है। यह वर्तमान नेताओं की एकाधिकारशाही तथा उनके अहंकारी बर्ताव को चित्रित करता है। सत्ता के मद में चूर स्वार्थी, पाखंडी नेता आम जनता के दुख दर्द की परवाह नहीं करते। इन नेताओं के सामने अपना स्वार्थ सबसे बड़ा है। इसमें भ्रष्ट व्यवस्था की ओर भी संकेत है। मनुष्य का अति

लालच ही भविष्य में उसके तबाही का सबब बनने वाला है। जिस मानव हित की बात वह घमंड के साथ करता है वह समस्त मानव जाति का हित न होकर कुछ ही लोगों का हित है। ऐसे लोग जो शक्तिशाली हैं उन्हीं के हित की बात वह करता है। आज का मनुष्य यह भूल रहा है कि जिन पेड़ों को वह नेस्तनाबूत करने पर तूला हुआ है इससे उसका भी हित सुरक्षित नहीं होने वाला है। यह पेड़-पौधे ही है जिसने मानव जाति को तमाम सुख सुविधाओं के साधन उपलब्ध कराए हैं। आदमी का जीवन पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर है लेकिन वह अपने तात्कालिक स्वार्थ में अंधा होकर उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूलता जा रहा है। इसमें वर्णित जंगल तत्कालिन समाज का प्रतीक बनकर उभरा है।

विकास की एकांगी अवधारणा में कई बार बृहतर मानव हित हमारी आंखों से ओझल हो जाता है। तथाकथित विकास की इस तरह की अवधारणा पर यह रचना सवाल खड़ा करती है। यह एक ऐसा विकास है जिसमें समूचे मानव जाति का हित नहीं हो रहा है। 'जंगलजातकम्' तरक्की के झूठे वादों के खिलाफ एक प्रतिरोध को रचती है। आज के दौर में हमारे समाज में बड़े से बड़े अत्याचार और पूरी की पूरी आबादियों के विस्थापन भी मानव-हित के नाम पर किए जा रहे हैं। घमोच जिस तरह बांस के पेड़ को अपनी बातों से बरगलाने की कोशिश करता है और उसे उकसाकर बाकी साथी पेड़ों से अलग करने की कोशिश करता है इससे स्पष्ट है कि भ्रष्ट सत्ता किसी भी कीमत पर अपना स्वार्थ साधती है। हरवंश और बांसों का मनुष्यों की बातों में आना उन लोगों की ओर इशारा करता है जो अपने स्वार्थों के लिए सत्ता के साथ हाथ मिलाते हैं। षड़यंत्रकारी मनुष्य अपनी बातों से उन्हें तरह-तरह के लालच देते हैं। अतः यह आख्यायिका मनुष्य द्वारा प्रकृति के हो रहे विध्वंस को रेखांकित करती है।

4.4 जातीय संस्कार

भारतीय समाज विभिन्न वर्णों और जातियों में विभाजित है। इसके अंतर्गत जातिगत आधार पर विभाजन आज से नहीं बल्कि सदियों से चला आ रहा है और दुर्भाग्य से आधुनिक काल में भी यह विखंडन बरकरार है। समूचे देश भर में आज भी यह एक प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। जातियों को लेकर ऊंच-नीच के भेदभाव के कारण राष्ट्र का विकास कहीं न कहीं अवरूद्ध हुआ है। जिस सर्वांगीण प्रगति की हम बात करते हैं वह जातिगत अव्यवस्थाओं के कारण संभव नहीं हो पाती। शिक्षा के प्रचार और प्रसार के बावजूद लोगों में जातिगत वैमनस्य बना हुआ है। विशेषकर निम्न कही जाने वाली जातियों को लेकर सवर्ण जातियों की मानसिकता में जिस बदलाव की आवश्यकता थी वह अपेक्षित रूप में दिखाई नहीं पड़ती।

4.4.1 जातीय दर्प की भावना

विवेच्य साहित्यकार ने समाज के भीतर जातिगत समीकरण कैसे कार्यरत होते हैं इसका सटीक चित्रण अपने कथा वाड़मय में किया है। 'चोट' कहानी के द्वारा जातीय अहंकार की भावना किस प्रकार कार्य करती है इसे दर्शाने की कोशिश लेखक ने की है। इसमें चित्रित एक घटना नगर के एक रेस्तरां में घटित होती है। निकाम नगर के किसी दफ्तर में चपरासी है। एक दिन वह सड़क से गुजर रहा था कि उसकी नजर उसके गांव के आदमी संचा सिंह पर पड़ती है। उसे देखने के बाद निकाम के मन में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है। संचा उस रेस्तरां में बेयरे के रूप में काम कर रहा है। निकाम उसके पास आकर संचा का नाम लेता है लेकिन वह उसे पहचानने से इंकार कर देता है और निकाम के प्रति उसका व्यवहार अत्यंत बेरुखी वाला है। वह अपनी पहचान छिपाना चाहता है क्योंकि वह जाति से ठाकुर है और उसे यह जताते हुए शर्म आती है कि शहर में आकर वह एक बेयरे का काम कर रहा है। निकाम को उसका बर्ताव अच्छा नहीं लगता और वह रेस्तरां में आकर बैठ जाता है। वहां पर

निकाम संचा को खाने के आर्डर के लिए बुलाता है। वहां पर भी संचा सिंह उसकी बेइज्जती करता है। दोनों में आनाकानी शुरू हो जाती है। निकाम दिखाना चाहता है कि गांव में भले ही वह उच्च जाति से संबंध रखने वाला ठाकुर हो लेकिन इस रेस्तरां में एक साधारण बेयरा है। कहानी के अंत में जब निकाम संचा को टीप के रूप में पैसे देता है तब वह उसके साथ मारपीट करता है और गुस्से में कहता है – "तुम्हारी टिप तुम्हारी गांड में डाल देंगे। साले गडरिया कहीं का, तू अपने को समझता क्या है?"[19] इस बात को लेकर रेस्तरां का मालिक परेशान हो जाता है और संचा सिंह से कहता है कि वह निकाम से माफी मांगे। लेकिन संचा साफ तौर पर उससे माफ़ी मांगने से इंकार करता है और उलटे अपने मालिक के जबड़े पर एक घूंसा मारकर वहां से चला जाता है।

यह कथा व्यक्ति के भीतर वास कर रहे जातीय श्रेष्ठता की भावनाओं को व्यक्त करती है। स्वाधीनता के बाद भारत में राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां बदलती गयीं। इसके साथ ही आर्थिक मामलों में भी बदलाव आने लगे थे। रोजी-रोटी की तलाश में बहुत बड़ी मात्रा में लोग शहर की ओर आकर्षित हुए। ग्रामीण क्षेत्रों के सवर्ण जातियों के लोगों में यह संस्कार घर कर गए थे कि मेहनत-मजदूरी करना उनका काम नहीं है। यह तो छोटी कही जाने वाली जाति का काम है। परिस्थितियों के बदलने के बावजूद गांव में रचे बचे संस्कार आज भी उनमें मौजूद हैं, वे पूरी तरह से गए नहीं। संचा सिंह को इस बात से कोई परेशानी नहीं है कि वह शहर में रहते हुए बेयरे का काम कर रहा है। क्योंकि उसे पहचानने वाला यहां पर कोई नहीं है। लेकिन उसे दिक्कत इस बात से है कि उसी के गांव में रहने वाला पिछड़ी जाति का निकाम उसे हेकड़ी दिखाए। निकाम को देखकर उसका जातीय दर्प जागृत हो जाता है। वह नहीं चाहता कि गांव में रहने वाले लोग उसकी हैसियत और औकात की आलोचना करें। गांव के एक गड़रिए के सामने छोटा बनना उसे मंजूर नहीं है। उसे

देखकर संचा सिंह का जातीय अभिमान जागृत हो जाता है। यही कारण था कि वह निकाम से अभद्रतापूर्ण व्यवहार करता है। रेस्तरां का मालिक उससे कहता है कि ग्राहक से माफी मांगो तो वह जवाब देता है - "सेठ, माफी बड़ी चीज होती है और उस जैसे कौड़ी के तीन के लिए तो बहुत बड़ी"[20]

इस आख्यायिका में एक पात्र होटल का मालिक भी है। वह एक बनिया है। होटल में निकाम और संचा सिंह के बीच हाथापाई होती है तब वह संचा सिंह को माफी मांगने के लिए कहता है। लेकिन वह माफी मांगने से इनकार करता है इसलिए मालिक उसे डांटता फटकारता है। रेस्तरां के सेठ को केवल अपने मुनाफे से मतलब है। वह नहीं चाहता कि इनके बीच हुए झगड़े का कोई बुरा असर उसके धंधे पर हो। यहां बनिए के चरित्र को भी यथार्थ ढंग से उद्घाटित किया गया है। यह एक ऐसा वर्ग है जिसे मात्र अपने पैसों से मतलब है। भारतीय समाज मे जातिगत मानसिकता में जो परिवर्तन हो रहे थे उसे साहित्यकार बखूबी पहचानता हैं और इस कृति में मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में वरिष्ठ आलोचक खगेंद्र ठाकुर का मत है – "हमारा भारतीय समाज प्राचीन काल से जाति-प्रथा और उससे उत्पन्न ऊँच-नीच के भेद-भाव से ग्रस्त है। फलस्वरूप मनुष्यता पीड़ित रही है यहाँ। जाति-प्रथा ने हमारे समाज को एक हद तक जड़ बना दिया। लेकिन आधुनिक युग में उस जड़ प्रथा में नयी गतिशीलता का संचार हुआ और भेद-भाव के बावजूद विभिन्न जातियों के सदस्यों के सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगा। उस परिवर्तन का आधार है नये युग का नया श्रम-विभाजन या जीवन में नयी ज़रूरतों एवं नये लक्षणों का उद्भव। अनेक लेखक आज भी जब जाति-प्रथा का ज़िक्र करते हैं तो इस अन्दाज से करते हैं जैसे समाज अब भी डेढ़-दो हजार वर्ष पहले की अवस्था में हो। यह समझ या अन्दाज रचना में नयापन नहीं आने देता। लेकिन काशीनाथ ने इन दोनों कहानियों में आधुनिक युग में जड़ जातिप्रथा में आयी नयी गति और नये लक्षणों को,

जीवन में उत्पन्न ज़रूरतों और तज्जन्य नये तनाव एवं नये आग्रहों को सही ढंग से पकड़ा है, और सटीक ढंग से चित्रित किया है। यही वह पक्ष है जो इन कहानियों को नये सामाजिक यथार्थ और नयी कलात्मक विशिष्टता से सम्पन्न बनाती है। 'चोट' वास्तव में पुराने संस्कार और पुराने मिज़ाज़ पर समाज-विकास की नयी अवस्था में विकसित नयी चेतना और नये मनुष्य के द्वारा की गयी चोट है। गांव में गड़ेरिया जाति में उत्पन्न निकाम शहर में चपरासी की नौकरी करने लगा है। यह जन्मगत श्रम या पेशे से मुक्त हो कर नये श्रम-विभाजन और नये पेशे में शामिल होना है। इसी का दूसरा पहलू यह है कि ठाकुर संचा सिंह शहर के एक छोटे से रेस्तरां में बेयरा हो गया है। यह पुराने द्विजत्व से सम्बन्धित पेशे से मुक्त हो कर उस पेशे को अपनाना है जो पहले शूद्रों के लिए निर्धारित था। यह है यथार्थ का नयापन। इस हालत में निकाम और संचा सिंह में टकराव होना ही था। लेखक ने शहर में रेस्तराँ में यह टकराव आयोजित कर दिया। यह सहज स्वाभाविक आयोजन है। पहले दोनों में देखादेखी होती है, गांव वाला सहज आकर्षण या आत्मीयता कहीं नहीं; क्योंकि संचा सिंह बेयरा है, वह बहुत ही असहज स्थिति में नहीं है। धीरे-धीरे स्थिति टकराव की ओर बढ़ती है। यहां निकाम है गाहक और संचा सिंह बेयरा। निकाम है आदेश देने वाला और संचा सिंह आदेश का पालन करने वाला। लाचार होकर संचा सिंह को आदेश का पालन करना पड़ता है, लेकिन हद तब हो गयी जब निकाम उसे टिप देता है। यह तो संचा के लिए असह्य हो गया और वह निकाम से शारीरिक रूप से भिड़ गया। रेस्तराँ का मालिक निकाम से क्षमा मांगता है और संचा चिढ़ जाता है। अंत में संचा मालिक के भी जबड़े में एक चूंसा मार कर रेस्तरां से निकल जाता है। जाहिर है कि कहानी बताती है कि नयी भौतिक परिस्थिति पुराने सम्बन्धों को तोड़ने और छोड़ने के लिए अनुकूल आधार प्रस्तुत करती है, लेकिन पुरानी मानसिकता तुरत-फुरत नहीं

बदलती।"[21] द्रष्टव्य है कि जातीयता के श्रेष्ठता का दंभ भारतीय समाज में वर्तमान समय में भी मौजूद है।

4.4.2 जातीय व्यवस्था में जकड़ा समाज

हिन्दुस्तानी समाज आज भी जाति एवं वर्णों में बटा हुआ है। शिक्षा के विपुल प्रचार-प्रसार के बावजूद जातिगत भेदभाव को समाप्त करने में हमें पूर्णतः सफलता नहीं मिली है। आज भी हम जाति-पाति की बेड़ियों में बुरी तरह से जकड़े हुए हैं। आपकी 'कहनी सरायमोहन की' कहानी दो बुजुर्गों के विपदा को दर्शाती है। जिसमें पहला बूढा है धनुर्धारी सिंह, वह जाति से ठाकुर है। एक दिन अचानक वह घर छोड़कर निकल पड़ता है। उसके घर से निकल पड़ने का कारण है कि वह अपने ही बेटे द्वारा पिटा गया है। धनुर्धारी उर्फ बाबू साहब घर से निकलते हैं और एक सराय में शरण लेते हैं। एक ब्राह्मण पंडित ने भी उसी सराय में शरण ले रखी है। बाबू साहब घर से चले थे तब उनके पास पुरखों की एक तलवार थी और पंडित जी के पास एक पंचांग। दोनों ने सराय में शरण ले रखी है लेकिन रात होते-होते दोनों भूख से बिलबिला जाते हैं। फिर दोनों एक-दूसरे को पुराने जमाने की बड़ी-बड़ी बातें सुनाकर प्रभावित करना चाहते हैं। वे अपने बड़प्पन का राग अलापते हैं लेकिन जल्दी ही उन्हें एक दूसरे की असलियत का आभास हो जाता है। दोनों को बड़ी कड़ाके की भूख लग रही थी तभी उन्हें बांटिया सेंकने की गंध आती है। वे उस ओर चले जाते हैं और देखते हैं कि एक व्यक्ति बाटियां सेक रहा है। वे जान जाते हैं कि इन्हें सेकने वाला व्यक्ति चमार जाति का है। फिर बाबू साहब और पंडित जी अपना-अपना तर्क लड़ाते हैं और मोहन चमार के हाथ की बनी बाटियां खा जाते हैं। बाटियां खाने के बाद बाबू साहब की आंखों के सामने गांव का चमटोला आ जाता है। उसकी याद आने से वे उल्टी कर देते हैं लेकिन पंडित जी सब पचा जाते हैं। इस तरह पहेलियां बुझाते-बुझाते कथानक का अंत हो जाता है।

दरअसल हमारे भीतर मौजूद जातीय श्रेष्ठता की भावना कितनी खोखली है इसकी ओर इशारा किया गया है। एक समय था कि समाज में जातियों के बंधन बेहद कठोर थे। सवर्ण कही जाने वाली जातियां तथाकथित निम्न जातियों द्वारा बनाया अन्न जल तक नहीं छूती थी। इस संदर्भ में उनके संस्कार बड़े रूढ़िवादी थे। लेकिन उनके पुराने संस्कार अब पहले जैसे पुख्ता नहीं रहे। उसमें भी समय के साथ दरारें आने लगीं। स्वातंत्र्योत्तर काल में स्थितियां बदलने लगीं। निम्न जातियों के लोगों को वे अवसर प्राप्त हुए जो पहले नहीं मिल पाए थे। धीरे-धीरे उनकी आर्थिक परिस्थिति में तेजी से बदलाव होता गया। सवर्ण जातियां खासकर ठाकुर और ब्राह्मण जो दूसरों के मेहनत पर अपनी उपजीविका चला रहे थे उनकी हालत खराब होती गई। इसीलिए बाबू साहब पंडित जी से कहते हैं "न आप बांभन रह गए हैं, न मैं ठाकुर रह गया हूं, न चमार चमार रह गया है और न लुहार लुहार! सब लोग अपनी जगह से उठ चुके हैं।"[22] एक तरह से यह युग जाति व्यवस्था के लिए संक्रमण का युग कहा जा सकता है। क्योंकि एक ओर एक ऐसी पीढ़ी है जो इन सांस्कृतिक बदलावों को देख तो रही है लेकिन इन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। उनके भीतर आज भी पुरातनपंथी जातिगत संस्कार मौजूद हैं। बाबू साहब में यह अहंकार भरा हुआ है कि वे जाति से ठाकुर हैं और एक समय ऐसा भी था जब उनके पुरखों ने इस प्रदेश पर राज किया था। वे कभी नहीं भूल पाते कि उनकी मूछें कितनी घनी और लंबी थीं। हाथी कैसा था, उसके दांत कितने बड़े थे, घोड़े किस-किस रंग के आते थे। उनकी चांदी की मूठ वाली छड़ी कहां से मंगवाई गई थी। होली के दिन धतूरे और गुलाब जल मिली भंग में किस तरह पूरी चंडोल पीकर आ जाती थी। जब घोड़े पर निकलते थे तो किस तरह प्रजा हाथ बांधे जहां की तहां खड़ी हो जाती थी। उन्हें यह सारा कुछ याद है। अगर नहीं याद है तो केवल यह कि जमीदारी खत्म होने के बाद बची खुची जायदाद कैसे बचाई जाए। इस तरह धीरे-धीरे हालात इतने बिगड़ गए कि जो कुछ बचा था

वह बेचना पड़ा। उनके बेटे भी इस बात को जानते हैं कि कैसे उनके बाप दादाओं की अय्याशी के कारण सब कुछ लुट गया और आज उन्हें यह दिन देखने पड़ रहे हैं। यही वजह है कि उनके अपने बेटे भी धनुर्धारी सिंह को कोई इज्जत नहीं देते। विवेच्य कहानी में तत्कालीन समय में भारतीय ग्रामीण समाज में संयुक्त परिवार किस प्रकार बिखर रहे थे यह भी दर्शाया गया है। एक व्यक्ति जो जाति से ठाकुर रहा है, जिसने अपने प्रदेश की जनता पर किसी जमाने में राज किया था, एक वक्त था जब सारी जनता उसके आगे झुकती थी। वही ठाकुर आज समूची जनता के समक्ष अपने बेटों द्वारा पीटा जा रहा है। इससे ज्यादा अपमानजनक स्थिति और क्या हो सकती है। जाहिर है कि आर्थिक तंगहाली के कारण बाबू साहब को यह अपमान देखना पड़ा। वे अपने बेटों से परेशान हैं ऊपर से घर की बहुएं भी उनको सताने में कोई कसर नहीं छोड़ती। एक तरह से उनकी जिंदगानी घर में रहते हुए ही ज़लालत और तक़लिफों से भरी हुई है। अपने ही घर में उनका जीना दुश्वार हो गया है। इन सारी परिस्थितियों के पीछे आर्थिक कंगाली एक प्रमुख कारण है। हाथ में रुपया पैसा न होने के कारण बाबू साहब अपने ही लोगों द्वारा बेदखल कर दिए गए हैं।

बहरहाल कह सकते हैं कि यह साहित्यिक कृति समाज में हो रहे सांस्कृतिक परिवर्तनों को रेखांकित करते हुए समकालीन जातीय संस्कारों में आए बदलावों को दर्शाती है। ठाकुर साहब और पंडित महाराज जी जब भूख से कुलबुला रहे थे तब यह जानते हुए कि मोहन की जाति चमार है वे उसके हाथ की बनी हुई बांटियां खा जाते हैं। लेकिन वे यह अहंकार पाले हुए हैं कि अब भी वे सवर्ण जाति के हैं। मोहन जब कहता है कि उसने दोनों को बाटियां खिलाकर अपना धर्म बिगाड़ दिया है तब पंडित जी उसे समझाने की कोशिश करते हैं। वे मोहन से कहते हैं इसे ऐसे क्यों नहीं सोचते आटा किसका था, तुम्हारा तो नहीं था, दुकान से लाए थे, गुड और प्याज कोई अपने घर से लाए थे? नहीं ना तो वह भी बाजार का था और नमक और

पानी, पानी हमने कुंए से निकाला था अपने लोटे में। अब बोल कौन सी ऐसी चीज थी जिससे हमने तेरा धर्म ले लिया। पंडित जी के वक्तव्य से साफ जाहिर है कि वे मोहन के हाथों की बनी बाटियां खा गए लेकिन अपने जातीय दर्प को भी बचाने की कोशिश करते हैं। बाबू साहब और पंडित जी जितने रूढ़ीवादी संस्कारों में जकड़े हुए हैं उतना ही मोहन चमार भी जकड़ा हुआ है। कहानी के अंत में जब मोहन सो जाता है तब पंडित जी का ध्यान उसकी बाल्टी की ओर जाता है। अंधेरे में उसकी चमकती हुई बाल्टी देखकर वे धीरे से बोलते हैं "जी तो चाहता है कि उसकी बाल्टी से अपना लोटा बदल लूं और रात में ही खिसक जाऊँ।"[23] इसके बाद दोनों हंसने लगते हैं साहित्यकार की अंतिम टिप्पणी है – "इस वक्त अगर कोई कुएं पर होता तो यही समझता कि किसी खूंखार जानवर को गुर्राते हुए देखकर अपनी विजय की ओर से निश्चित दो दिलेर और बहादुर शिकारी आपस में हंसी-ठठ्ठा कर रहे हैं"[24] पंडित के मन में मोहन की बाल्टी चुराने का ख्याल आता है। इस ख़्याल से यह अर्थ ध्वनित होता है कि सवर्ण जातियों का चरित्र कितना धूर्तता पूर्ण और स्वार्थ से भरा है। इन लोगों की चरित्रहीनता को प्रस्तुत साहित्य कृति प्रतिपादित करती है। उच्च वंशीय जातियों ने अपने रुतबे और कुल का फायदा उठाकर निम्न जातियों के लोगों को हमेशा दबाए रखा और निरंतर उनका शोषण करते रहे। उन्हें शारीरिक और मानसिक रूप में अपना दस्यु बनाया और यह लोग हमेशा आराम की जिंदगी जीते रहे। बिना कोई श्रम किए आराम की जिंदगी बसर करना इनमें इस तरह समाया हुआ है कि किसी भी प्रकार का शारीरिक कष्ट करने से ये लोग बचना चाहते हैं। यही वजह है कि बाल्टी की चोरी करने का विचार पंडित जी के मन में आता है। पुराने जमाने में धर्म-कर्म की बातें कर और कर्मकांड को धर्म मानकर पंडित जैसे ऊंची जाति के ब्राह्मणों ने नीचली जातियों को बरगलाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। लेकिन शिक्षा के प्रचार के कारण पिछड़ी जातियों के लोगों को अवसर प्राप्त होने लगे, इस कारण सवर्णों के सामने

जीविकोपार्जन की कठिनाइयां निर्माण होने लगीं। प्राचीन काल में अपनी धूर्तताओं और चालाकियों से धर्म का भय दिखला कर इन जातियों द्वारा नीचली जातियों के लोगों को फंसाया जाता था। लेकिन वर्तमान समय में निम्न जाति के लोग सतर्क हो गए हैं, जिसके कारण ऊंची जातियों की आरामपरस्ती वाली जिंदगी मुसीबत में आने लगी है। अतः रचनाकार ने इस कहानी में सवर्ण जातियों के धूर्त एवं चालाक मानसिकता की पोल को बड़ी ही खूबी के साथ खोल दिया है।

'रेहन पर रग्घू' में जातिगत अहं से भरी मानसिकता को लेकर रघुनाथ के व्यक्तित्व का दोगलापन सहज ही देखा जा सकता है। वे दुनिया को यह जताने का प्रयास करते हैं कि वे एक प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति हैं, पिछड़ी जातियों के प्रति उनके मन में सहानुभूति है। लेकिन जब अपनी खुद की बेटी की बात आती है तब उनके भीतर जातीयता के आधार पर भेद-भाव वाला रूप उभरकर सामने आता है। वे बिल्कुल नहीं चाहते कि उनके बच्चे ऐसी जातियों के साथ वैवाहिक संबंध रखें जिनका जातीय स्तर उनसे उनसे काफी नीचे है। वे सबके सामने प्रगतिशील विचारों वाले आधुनिक व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं, आरक्षण के मुद्दे पर वे पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का पक्ष लेते हैं, वही दूसरी ओर जब उन्हें पता चलता है कि उनका बेटा संजय जिस लड़की से विवाह करने जा रहा है वह कायस्थ है तो इस बात से वे काफी नाराज हो जाते हैं। इसी प्रकार दलितों और पिछड़ी जातियों के अधिकारों की वकालत करने वाले रघुनाथ को मालूम पड़ता है कि उनकी बेटी सरला किसी दलित लड़के से प्रेम करती है तब उन्हें लगता है कि जैसे यह सब होने से पहले धरती फट जाए और वे उसमें समा जाए। अपनी बेटी को लेकर वे ज्यादा परेशान इसलिए हैं कि उसका प्रेमी एक चमार जाति का है। दरअसल आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी हमारे भीतर मौजूद पुराने जाति-पाति से युक्त विचार गए नहीं हैं। वर्तमान युग में भी पारंपरिक सोच से पीड़ित समुदाय जात-पांत की

दकियानूसी मानसिकता से बाहर नहीं निकल सका है। सवर्ण जातियों में अपनी जाति के श्रेष्ठता को लेकर एक प्रकार की दर्प की भावना दिखलाई पड़ती है। प्रस्तुत उपन्यास में कथा नायक के माध्यम से रचनाकार ने स्वयं को प्रगतिशील कहने वाले लोगों की मानसिकता के झूठ की पोल खोल दी है। प्रगतिशीलता की बड़ी-बड़ी बातें कहना आसान है लेकिन इनका पालन करना सभी के बस की बात नहीं होती, जब अपने पर बन आती है तब सारी सच्चाई सामने आ जाती है।

इस प्रकार इस उपन्यास में वर्णित रघुनाथ का चरित्र परस्पर विरोधाभासी है। एक ओर वे प्रगतिशील और आधुनिक होने का दम भरते हैं तो दूसरी ओर पुरानी परंपराओं, संस्कारों से जकड़े हुए हैं। एक तरह से वे अंतर्विरोधों में फंसे हुए व्यक्ति हैं। लेखक सवर्णों के इस जातिगत मानसिकता को बखूबी जानता है और रघु के माध्यम से बड़ी बारीकी से इस दोगलेपन को उजागर करता है। परंपरा से चली आ रही जातीय सोच को नई आर्थिक व्यवस्था ने किस कदर उखाड़ फेंका है यह हम इस उपन्यास में देख सकते हैं।

'काशी का अस्सी' में धर्मनाथ शास्त्री जैसा पात्र है जिसे अपने कुलीन ब्राह्मण होने का गर्व है। लेकिन नई आर्थिक नीतियों के चलते उसका श्रेष्ठत्व का दर्प चकनाचूर हो जाता है। वह देखता है कि नई समाज संरचना में नीचली जातियों की वित्तीय स्थिति में भारी बदलाव हो रहे हैं। उनकी माली हालत दिनों-दिन बढ़ती जा रही है और वह आज भी आर्थिक विपन्नताओं से ग्रस्त हैं तब वे अपने पुराने संस्कारों को छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। दरअसल नवीन आर्थिक संरचना के कारण पुराने जाती-पांती का स्वरूप ढीला पड़ने लगा है। अब समूचे देश में एक ऐसी नवीन वित्तीय व्यवस्था का निर्माण हुआ है जिसके कारण परंपरागत जातिवादी

समीकरण बदलने लगे हैं। इस उपन्यास में भूमंडलीकरण के कारण बदल रही इन नवीन समीकरणों को यथार्थ ढंग से रेखांकित किया गया है।

4.5 सामाजिक रूढ़ियां तथा अंधविश्वास

समाज के अंतर्गत कुछ ऐसी मान्यताएं एवं धारणाएं कार्यरत होती हैं जो मनुष्य जीवन के विकास में अवरोध पैदा करती हैं। इसके बावजूद ऐसी मान्यताओं को लोग आंख मूंदकर जारी रखते हैं। इस तरह की मान्यताओं के अंगीकरण के कारण उसे भारी नुकसान उठाना पड़ता है। समाज में निहित पुरानी परंपराओं, अंधविश्वासों, आस्थाओं ने मनुष्य जीवन को यंत्रणाओं से भर दिया है।

4.5.1 ईश्वर की अवधारणा

विश्व के समस्त धर्मों में ईश्वर संबंधी विविध प्रकार की अवधारणाएं रूढ़ हो चुकी है। समाज में ईश्वर संबंधी ऐसी गलत धारणाएं भी कार्यरत हैं जो उसके तरक्की में बाधक सिद्ध हुई हैं। लेकिन इसके बावजूद वह इन संकल्पनाओं से चिपका हुआ दिखाई पड़ता है।

आपकी 'बांस' रचना इसी प्रकार की असंगत मान्यताओं के प्रति सचेत करती है। इसका परिवेश बौद्धकालीन है। कथानक के आरंभ में एक आदमी अपना कार्य पूर्ण करने के उपरांत जंगल के मार्ग से घर लौट रहा था कि अचानक उसके सामने एक शेर आया और उसका पीछा करने लगा। अपनी जान बचाने के लिए वह आदमी एक उफनती हुई नदी में कूद गया। कुछ देर बाद जब उसे होश आया तो उसने स्वयं को नदी के दूसरे किनारे पर पाया और उसने देखा कि उसके हाथ में एक बहुत बड़ा बांस है। बांस के कारण उसकी जान बच गई थी। एक तरह से उसे दूसरा जीवन दान मिला था। उसे लगा कि यह बांस ही है जिसने मुझे

नई जिंदगी दी है। इसलिए उसके मन में बांस के प्रति श्रद्धा भाव जागृत होता है और वह उसे भगवान मानने लगता है। उसे लगा कि ईश्वर ने ही उसकी जान बचाई है, स्वयं ईश्वर इस बांस के रूप में उसे बचाने के लिए नदी में आए थे। इस विचार के साथ वह उस भारी-भरकम, मोटे बांस को उठाकर अपने गांव की तरफ चलने लगता है। लेकिन वह इतना लंबा और भारी है कि उस वजन के कारण वह उलझता, गिरता चला जा रहा था। जंगल का रास्ता भी उबड़-खाबड़ होने के कारण उसका चलना मुश्किल हो गया है। वह बांस को उठाकर जंगल के रास्ते से गुजर रहा था कि उसे भगवान बुद्ध मिल जाते हैं। तथागत उसकी दशा को देखकर उससे पूछते हैं कि इस भारी-भरकम लकड़ी को लेकर कहां जा रहे हो। क्या यह कोई खास किस्म की है ? तब वह व्यक्ति बुद्ध को पूरी कहानी सुनाता है। वे उसे समझाते हुए कहते हैं "आर्य, इसे जो करना था कर चुका, अब यह मात्र बोझ है। इसे ढोते जाने का कोई अर्थ नहीं... आर्य, विवेक से काम ले, इस बांस को अपने सिर से उतार फेंके और आराम से घर जाएं... जीवन सर्वोपरि है! आर्य, मैं जीवन और आपके हित की बात कर रहा हूं।"[25] कहानी के अंत में लेखक की टिप्पणी द्रष्टव्य है "मुझे नहीं याद कि आदमी ने अपने उस ईश्वर के साथ क्या किया था लेकिन मेरे जहन में अक्सर वह उभरता रहा है - उसी तरह खड़ा, बांस के भार के नीचे कांखता, कराहता, हिलता डुलता! जाना अभी दूर है, लेकिन वह क्या करें इस बांस का?"[26]

अतः इस अंतिम वाक्य से कहानी का संदेश स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य प्राचीन काल से ईश्वर की संकल्पना को झेलते आया है। जिस प्रकार उस डूबते हुए आदमी की जिंदगी लकड़ी के बांस ने बचाई थी उसी प्रकार समय के चलते ईश्वर की मान्यता ने मनुष्य को बर्बरता से बाहर निकाल कर सभ्य जीवन में आने के लिए प्रेरित किया था। निश्चित रूप में ईश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव मनुष जीवन को बेहतरी की ओर ले जाने के लिए हुआ था। परंतु समय

के साथ इसमें परिवर्तन होता गया। ईश्वरीय अवधारणा कुछ लोगों के लिए स्वार्थ साधने का साधन बनने लगी। संभवतः भगवान के प्रति भय की भावना का निर्माण मनुष्य की सोच में परिवर्तन लाने के लिए किया गया हो। लेकिन कुछ स्वार्थी, मतलबी, पाखंडी, कर्मकांडी किस्म के लोगों के लिए ईश्वर बेहद फायदेमंद साबित होने लगी। कालांतर में इन चीजों ने धर्म और संस्कृति का चोला भी पहन लिया और यह बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के उत्पीड़न और अन्याय का सबब बन गईं। कुछ ऐसी प्रथाएं, रूढ़ियां, आडंबर समाज में पनपने लगे कि यह मानवीय जीवन के लिए घातक साबित हो रहे थे। वर्ण व्यवस्था के कारण निम्न कहे जाने वाली जातियों पर अनेक अत्याचार हुए। पुरुषवादी वर्चस्व के कारण स्त्री जाति की अवहेलना हुई। दलित जातियों पर तो इतने जुल्म हुए कि समूची मानवता शर्मसार हो गई। इसके बावजूद वर्तमान समय में भी भगवान हमारे दिलो-दिमाग में इस कदर मौजूद है कि आज भी हम इससे छुटकारा नहीं पा सके हैं। विगत दो-तीन शतकों में हुए वैज्ञानिक विकास के बावजूद पुरानी परंपराएं, सड़ी-गली रूढ़ियां, झूठी मान्यताएं तेज गति से अपने पंख पसार रही हैं। इन सबके चक्कर में आज का पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी आता है। भगवान के नाम पर लोगों को बरगलाने की प्रक्रिया बहुत तेजी के साथ बढ़ रही है। बड़े-बड़े बाबा, महंत, साधु जोर-शोर से अपना प्रवचन सुना कर लोगों को गुमराह कर रहे हैं। ऐसी अनेकानेक खबरें संचार माध्यमों में आती रहती हैं जिसमें पाखंडी साधु बाबाओं के शोषण की शिकार मासूम जनता होती रहती है। सोचनीय बात यह है कि यह सब ईश्वर और धर्म के नाम पर हो रहा है। इन सब बातों को जानते हुए भी लोग समझने की कोशिश नहीं करते। यही वजह है कि कर्मकांडी लोगों का गोरखधंधा चलते रहता है। लेखक इसी सांस्कृतिक नासमझी को प्रस्तुत कहानी के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। अतः इस आख्यायिका में भगवान संबंधी घातक अवधारणाओं से मुक्त होने का संदेश दिया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि आज का विवेकवान मनुष्य वैज्ञानिक

सोच को अपनाते हुए अपने कदम सही दिशा में बढ़ाए और ऐसी धारणाएं जो गलत तरीके से हम पर थोपी गई हैं, इनसे मुक्त होने की कोशिश करें। जब तक हम इन घातक अवधारणाओं को छोड़ नहीं देते तब तक हम सही अर्थों में मानव जीवन का विकास नहीं कर सकते।

4.5.2 पुरातन मान्यताएं और अंधविश्वास

सामाजिक जीवन के अंतर्गत ऐसी अनेक मान्यताएं मौजूद हैं जिनके कारण समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता। समाज में व्याप्त पुरातन घातक परंपराओं, सड़ी-गली मान्यताओं, अंधविश्वासों, दकियानूसी विचारों ने मनुष्य जीवनचर्या का भारी नुक़सान किया है।

आपकी 'दौलत का दुखड़ा' कथाकृति में आया शख्स अपनी बीमारी के कारण विभिन्न मान्यताओं, अंधविश्वासों और बाबाओं में विश्वास करने लगता है। इसमें चित्रित सोनकर एक अमीर आदमी है। उसकी व्यथा यह है कि पिछले कई वर्षों से वह बिल्कुल भी नहीं सोया है। इसलिए वह शहर के प्रसिद्ध हाकिम अब्दुल हलीम के पास जाता है। वह उसे बताता है कि वह अनिद्रा का शिकार है। अपनी इस बीमारी को उसने कई डॉक्टरों को दिखाया लेकिन इससे उसको फायदा नहीं हुआ। डॉक्टरों के अलावा वह ज्योतिषियों, साधु-संतों, बाबाओं के पास भी गया, लेकिन फिर भी नींद उसे मयस्सर नहीं हुई। वह हाकिम को अपनी बीमारी के बारे में जानकारी देते हुए कहता है – "हाँ, यह भी बताऊँ कि मैं सिर्फ डॉक्टरों-हकीमों के भरोसे नहीं रहा। लोगों ने सलाह दी झाड़-फूंक की, साधु-महात्माओं-बाबाओं के दर्शन की। मैंने वह सब भी किया। एक-एक बाबा के यहाँ गया। शायद ही कोई छूटा हो। उनके दर्शन किए, पूजा-पाठ तो करता ही रहता हूं, उनके कहने पर दान-दक्षिणा दी, मन्दिर बनवाए, तालाब खुदवाए, हवन-यज्ञ भी कराए, मगर कोई फायदा नहीं। जो जैसा करने के लिए कहता है, वैसा करता हूं, मगर कोई फायदा नहीं। और आज...तुम नहीं समझ सकते डॉक्टर कि मेरी हालत क्या है। पूरा शरीर

थर-थर कांप रहा है, दिल धड़क रहा है, मन में बेचैनी है, खड़ा नहीं हुआ जाता। थोड़ी देर के लिए थककर आंखें बन्द कर लेता हूं तो डर लगने लगता है-कभी मेरे भीतर एक साथ पचासों बसें दौड़ने लगती हैं, कभी पचासों ट्रकों से भिड़ जाती हैं, कभी जहाज चक्करघिन्नी की तरह चक्कर काटता है, कभी बुनकर और ड्राइवर अपने-अपने औजारों के साथ..."[27] साधु-महात्माओं और बाबाओं के अलावा वह अपनी बीमारी के संदर्भ में ज्योतिषियों और तांत्रिकों से भी मिलता है। वह कहता है – "हाँ, तांत्रिकों और ज्योतिषियों की तो पूछिए ही मत। ये उँगलियां देख रहे हैं? अंगूठों को छोड़कर कोई ऐसी उँगली नहीं जिसमें रत्न न हो। शान्ति के लिए जोजो कहा, सो-सो किया और यह देखिए,' उसने अपने कोटा सिल्क के कुर्ते के सारे बटन खोले और बांहें चढ़ाईं। बांहों में ये गंडे और ताबीज देखिए और ये मालाएँ... । इतनी कि गरदन दर्द करने लगती है बोझ से। एक ज्योतिषी ने कहा कि तुम्हारे बँगले की नींव में हड्डियां हैं, उन्हें बाहर करो। आप यकीन नहीं करेंगे, मैंने अपना एक करोड़ से ऊपर का बंगला ही ढहा दिया। आदमी घर खड़ा करता है सुख-चैन के लिए, अगर वही नहीं तो धन-दौलत, जमीन-जायदाद किस काम की? सो उसे ढहा भी दिया और छोड़ भी दिया लेकिन इस दूसरे बंगले में भी वही हाल...अब आप की शरण में आया हूँ नाम और जस सुनकर ।"[28] गौरतलब है कि आधुनिक युग में भी अंधविश्वासियों की कोई कमी नहीं है। अक्सर यह देखा गया है कि अंधविश्वासी व्यक्तियों को ठगना आसान होता है। लोक में प्रचलित ऐसी अनेक सड़ीगली मान्यताओं और अंधविश्वासों के कारण समाज सही दिशा में विकसित नहीं हो पाता। इस प्रकार की गलत धारणाएं मनुष्य जीवन को और अधिक दुरूह बनाती हैं। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि इनसे मनुष्य जल्द से जल्द छुटकारा पाएं और वैज्ञानिक सोच से आगे बढ़े।

'काशी का अस्सी' उपन्यास में पप्पू की दुकान पर बैठे लोग अपनी बातचीत में ऐसे प्रसंग छेड़ते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि कैसे दकियानूसी विचारों के कारण समाज का नुकसान

हुआ है। राम मंदिर और बाबरी मस्जिद विवाद के संबंध में की गई बातों से यह पता चलता है कि किस प्रकार से तत्कालीन नेताओं ने सामान्य जनता को बरगला कर हिंदू और मुसलमानों के बीच नफरत के बीज बो दिए थे। इसके अलावा धर्मनाथ शास्त्री जैसा धर्म परायण ब्राम्हण अपनी पुरातनपंथी पारंपरिक सोच को छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है क्योंकि वह जानता है कि आज के समय में इस प्रकार की पुरातन सोच रखने से उसका कोई भला नहीं हो सकता। यही वजह है कि वह घर में मौजूद शिव भगवान की जगह बदल कर अपने पेईंग गेस्ट के लिए शौचालय बनाने के लिए राजी हो जाते हैं।

4.6 पुरुष वर्चस्ववादी संस्कृति

भारत देश में सदियों से पुरुषवादी संस्कृति का बोलबाला रहा है। पुरुष वर्चस्ववादिता के कारण स्त्री को अनेकानेक मानसिक एवं शारीरिक यंत्रणाओं से गुजरना पड़ा है। सदियों से वह पुरुषी दमन को सहती रही है। प्राचीन काल से वह पुरुषों द्वारा किए गए विभिन्न प्रकार के शोषण का शिकार होती रही है। अपने श्रेष्ठता के दंभ से ग्रसित पुरुषसत्ता नाना प्रकार से स्त्री का दोहन करती रही है।

4.6.1 पितृसत्तात्मक संस्कृति

पितृसत्तात्मकता एक ऐसा तंत्र है जिसके अंतर्गत पुरुष का महिलाओं पर वर्चस्व रहता है और वे स्त्रियों का शोषण और उत्पीड़न करते हैं। पितृसत्ता में सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार होता है। इसमें यह विचार प्रभावी रहता है कि नर नारी से श्रेष्ठ है और समाज को व्यवस्थित रूप में चलाने के लिए स्त्रियों पर पुरुष का नियन्त्रण आवश्यक है। पितृसत्तात्मकता में यह सोच प्रमुख है कि औरत पर मर्द का अधिकार है। इस व्यवस्था में नारी को नर जाति की संपत्ति के रूप में देखा जाता है।

आपकी कहानी 'मेरा भी हाथ है' पुरुष द्वारा स्त्री पर हो रहे शारीरिक शोषण को चित्रित करती है। इसमें वर्णित युवक जाड़े की एक रात सोने की कोशिश कर रहा है। वह जिस कमरे में लेटा है उसके बगल के कमरे से उसे किसी स्त्री के कराहने की आवाज सुनाई पड़ती है। उस आवाज में जो थोड़ा-सा गीलापन और मिठास थी उसे युवक महसूस करता है। उसे अपने एक पुराने मित्र विपिन की याद आती है जो लड़कियों के संबंध में अबूझ भाषा में बातें करता था। युवक रात भर सो नहीं पाता क्योंकि उसे बगल के कमरे से पलंग के चरमराने की आवाज सुनाई पड़ती है। उसे लगता है कि कोई अंगड़ाइयां ले रहा है। वह सवेरे उठा तो उसकी भौजी ने उसे बताया कि कल-परसों कोई माथुर नामक व्यक्ति सपरिवार इसी मकान के पिछले हिस्से में आकर बस गए हैं और उनकी बीवी कम उम्र की बड़ी खूबसूरत और प्यारी लड़की है। यह बात सुनने के बाद युवक के मन में उठता है कि कहीं माथुर इसी बगल वाले कमरे में तो नहीं है। उसके मन में मिसेज माथुर को देखने की इच्छा निर्माण हो जाती है और वह घर के पिछवाड़े की ओर जाता है। वह पीछे की संकरी गली में प्रवेश करता है और देखता है कि वहां पर भीड़ इकट्ठा हुई है और एक लाश कफन से ढकी हुई है। वहां खड़े लोग उस लाश को लेकर तरह-तरह की जिज्ञासाएं प्रकट कर रहे हैं तथा उसके आकस्मिक मृत्यु के लिए दुख भी प्रकट किया जा रहा है। लेकिन पूछने पर इतना ही पता चलता है कि कोई औरत थी जो कल दोपहर नहाने के लिए आयी थी और रात में अचानक मर गई। यह बात सुनते ही उस युवक को लगता है कि उसकी मृत्यु में कहीं न कहीं उसका भी हाथ है।

इस रचना में नारी शरीर को लेकर पुरुष के भीतर जो रहस्यात्मकता का भाव अन्तर्भूत होता है उसे दिखाने का प्रयास किया गया है। पुरुष द्वारा सदियों से नारी का यौन शोषण होता रहा है। सदियों से वह बलात्कार जैसे घृणित अपराध की शिकार होती रही है। दुर्भाग्य से आज के

समय में भी स्त्रियों के साथ बड़े पैमाने पर बलात्कार हो रहे हैं। हमारे कानून में इस जघन्य अपराध के खिलाफ कड़ी से कड़ी सजा का प्रावधान है। इसके बावजूद इस प्रकार की दुर्घटनाओं में कमी नहीं आयी है। बल्कि दिनों दिन ऐसी घटनाओं का आलेख बढ़ता ही जा रहा है और समूचे समाज के लिए यह विषय विचारणीय बना हुआ है। बलात्कार जैसे वाक़यात का बढ़ना दर्शाता है कि स्त्री को लेकर हमारी मानसिकता आज भी अत्यंत पिछड़ी हुई है। नारी दें को लेकर एक हीन प्रकार का जुगुप्सा भाव मर्दों के भीतर इस क़दर भरा हुआ है कि यह उसे हमेशा दहशत भरे माहौल में जीने के लिए विवश कर देता है। यही वजह है कि इसमें चित्रित युवक को लगता है कि उस औरत के मौत के पीछे कहीं न कहीं उसका भी हाथ है। इसकी वजह यह है कि वह इस अहसास से भर जाता है कि वह स्वयं एक मर्द है। वह भी समाज के इस पुरुष वर्चस्ववादी सोच का हिस्सा है जो स्त्री के अस्तित्व को मिटाने की दिशा में कार्यरत रहते हैं। पितृसत्तात्मक अहंकार की जड़ें उसमें भी उसी तरह मौजूद हैं जैसे अन्य पुरुषों में होती हैं। स्त्री के मृत्यु के लिए वह अपने आप को भी जिम्मेदार मानता है। यह स्वीकृति उसके पश्चाताप को व्यक्त करने वाली है। स्त्री के हो रहे दमन चक्र को लेकर उसके मन में पछतावा स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह कृति पुरुषवादी सोच पर कड़ा प्रहार करती है और उन्हें अपने अंदर झांकने के लिए उद्वेलित करती है।

'वर चाहिए तो इधर आइए' में भारत में और खासकर उत्तर भारत में विवाह संबंधों को लेकर पुरुष वर्चस्वावाद किस प्रकार कार्य करता है यह दर्शाया गया है। हमारी वैवाहिक परंपरा में विवाह संबंध स्थापित करते समय वर पक्ष को वरीयता दी जाती रही है। लड़का चाहे कितना भी नाकारा क्यों न हो, विवाह संबंध जोड़ने से पहले वधू पक्ष से ज्यादा से ज्यादा पैसे ऐंठने का काम लड़के वाले करते आए हैं। समाज की सोच इस प्रकार विकसित हुई है कि अपनी हैसियत के अनुसार लड़कों की कीमत तय की जाती है। शादी के वक्त तयशुदा कीमत को

अदा करके वर की प्राप्ति की जाती है। एक तरह से शादी-ब्याह के इस रिवाज़ में दूल्हों की धड़ल्ले से खरीद-फरोख्त होती है। विवाह के समय वर की कीमत लगाई जाती है – "तो दुनियावालो, इस वक्त इन कश्यपगोत्रियों, दोनों सूर्यवंशी क्षत्रिय कुमारों की कीमत सात लाख और एक नैनो लगाई गई है। अगर आपकी लड़की बिचारी को किसी योग्य वर ही जरूरत हो तो आइए, अपनी किस्मत आजमाइए! गाँव-घर का मामला है, किसी एक की ओर से बोलना दूसरे से झगड़ा मोल लेना है। यों लड़के आप-आप के दोनों ही लाखों में एक हैं। दोनों इस समय सहर बनारस में कोचिंग कर रहे हैं। काहे की? यह मत पूछिए। जब उन्हें ही नहीं पता तो हम क्या बताएं? बस, आ जाइए! दूसरे आएं, इससे पहले। बाजार के हिसाब से ये चीपो के चीपो और बेस्टो के बेस्टो पड़ेंगे आपके लिए।"[29]

'महुआचरित' में वर्णित महुआ समाज में प्रचलित संकीर्ण मानसिकता की शिकार हुई है। वह अपने पति से भरपूर प्रेम कर रही थी कि अचानक उसके जीवन में एक भूचाल आ जाता है। जैसे ही उसके पति को पता चलता है कि विवाह के पहले महुआ के किसी अन्य पुरुष के साथ शारीरिक संबंध थे वह महुआ से अपने सारे रिश्ते तोड़ देता है। वह बर्दाश्त नहीं कर पाता है कि उसकी पत्नी के किसी दूसरे मर्द के साथ जिस्मानी संबंध रहे हैं। इस उपन्यास में यह सवाल भी उठाया गया है कि क्या कारण है कि देह के समक्ष सारे रिश्ते-नाते ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसा क्या है देह में कि हम उन समस्त रिश्तों से झटके से किनारा कर लेते हैं। आधुनिकता की बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद हमारी सारी सोच देह पर आकर अटक जाती है। हमने सेक्स को लेकर अपने इर्द-गिर्द एक ऐसी सोच की घेराबंदी बनायी है कि स्त्री या पुरुष अगर किसी एक के साथ जीवन भर बंधे रहता है अथवा एक ही व्यक्ति के साथ दैहिक संबंध को बनाए रखता है तो वह समाज की नजरों में चुभता नहीं है। लेकिन अगर वह एक से

ज्यादा व्यक्तियों के साथ जिस्मानी संबंध बनाए तो फिर वह समाज की आंखों में किरकिरी बन जाता है। दरअसल मनुष्य की जैविक संरचना कुछ ऐसी है कि केवल एक ही व्यक्ति के साथ जीवन भर शारीरिक संबंध बनाए रखना उसके लिए मुश्किलें पैदा करता है। मनुष्य का शरीर और मन किसी एक व्यक्ति के साथ शरीरिक संबंध बनाकर रखने के लिए नहीं बना है। वह हमेशा एक से अधिक व्यक्तियों के साथ संबंध बनाने की इच्छा रखता है। लेकिन अक्सर सामाजिक दबाव के कारण वह अपनी कामेच्छाओं का दमन करता है। इसी दमन के कारण उसके भीतर कुंठाएं पैदा होती हैं। भारतीय पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के लिए अन्य महिलाओं के साथ संबंध रखना कुछ हद तक स्वीकार्य माना जाता रहा है। लेकिन अगर कोई औरत अन्य मर्दों के साथ जिस्मानी संबंध स्थापित करती है तो इसे समाज तिरस्कृत दृष्टि से देखता है। स्त्री पर अनेक तरह के लांछन लगाए जाते हैं। सबसे बड़ा लांछन उसके चरित्र पर लगाया जाता है और चारित्रिक दृष्टि से उसे पतित समझा जाता है। यह भी दुखद ही कहा जाएगा कि किसी के चरित्र को मापने का पैमाना उसके दैहिक संबंधों से लगाया जाए। पितृसत्तात्मक समाज में यह विचार नहीं किया जाता कि प्रत्येक स्त्री की दैहिक जरूरतें अलग हो सकती हैं। इस दृष्टि से समाज की सोच एकदम दकियानूसी ही कही जा सकती है। यौन विशेषज्ञ और मनोचिकित्सक इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ लोगों के भीतर काम-वासनाओं को लेकर आवेग बहुत अधिक होते हैं। लेकिन स्त्री के ऊपर समाजिक दबाव इतना ज्यादा होता है कि वह अपने भीतर उमड़ रहे इन आवेगों को दरकिनार कर देती है। इसके चलते उसे कभी-कभी मानसिक विकारों का सामना करना पड़ता है। यही वजह है कि यौनिक भावनाओं के जबरदस्ती दमन के कारण समाज में अनेक प्रकार के अपराध भी पनपने लगते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के लिए अपनी शारीरिक जरूरतों को पूरा करने के लिए कुछ अवसर उपलब्ध हैं लेकिन स्त्री के लिए यह कार्य अत्यंत कठिन है। समाज की

बारीक नजरें बराबर स्त्री के चाल-चलन पर लगी रहती हैं। जिसके चलते वह अपनी अतिरिक्त काम भावना को पूर्ण नहीं कर पाती। इसके कारण स्त्री-पुरुष संबंधों में तनावपूर्ण स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। इस दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

4.6.2 स्त्री की पीड़ादायक स्थिति

पितृसत्तात्मकता के अंतर्गत स्त्री का स्थान समाज में निम्न स्तर का माना जाता रहा है। इस तरह यह व्यवस्था लोकतान्त्रिक मूल्यों के हमेशा विपरीत रही है। इस समाज में महिलाएं दोयम दर्जे की नागरिक मानी जाती हैं। उन्हें आर्थिक शोषण के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर दमन और उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। इसके चलते स्त्री मानसिक यातनाओं से गुजरती है।

विवेच्य साहित्यकार के कथा रचनाओं में पितृसत्तात्मकता के बनिस्पत उपजे दोषों को उजागर किया गया है। उनकी 'बालकांड' कहानी एक स्त्री के दर्दभरे स्वर को बयान करती है। भारत जैसे विकसनशील देश में स्त्री-वर्ग को लेकर जो क्षुद्र मानसिकता उपस्थित है उसे भी यहां रेखांकित किया गया है। हमारे मुल्क में हमेशा से ही लड़कों को लड़कियों की अपेक्षा अधिक तवज्जो दी जाती है। पुरुष प्रधान संस्कृति के कारण हमेशा से ही लड़कों को लड़कियों की तुलना में समाज में विशेष महत्त्व मिलता रहा है। इस रचना में आयी महिला की पहले से तीन बेटियां हैं। हकीक़त यह है कि वह दो बेटियों के बाद और बच्चे नहीं चाहती थी क्योंकि पहले ही घर में पैसे की किल्लत है। उसके शौहर और सास-ससुर चाहते हैं कि उसे एक लड़का हो। एक बेटे की चाह में व्याकुल अब वह चौथी बार गर्भवती है और कुछ ही दिनों में बच्चा पैदा होने वाला है। सोना की सांस उसके घर आयी है और सदैव उसे ताने मारती रहती है। भारतीय पारंपरिक समाज में स्त्री को लेकर जो सोच है इस संदर्भ में यह उदाहरण द्रष्टव्य है–

“बहू का मतलब आँका जाता है कि वह क्या देती है – लड़का या लड़की? माँ के लिए इनके अलग-अलग अर्थ हैं। लड़के का मतलब है – खुशी, गाना-बजाना, जो बड़ा हो तो कमाए-धमाए, रुपए बटोरकर घर भरे, खेती-बाड़ी सँभाले और लड़की का मतलब है – सिर दर्द, चिन्ता, उदासी। जो कुछ घर में हो-उठाकर दूसरे के जाए, एक ही बार नहीं, समय-समय पर लेती जाए और माँ-बाप को उजाड़कर रख दे। लड़की का अर्थ है – वह चाकू, जो चौबीस घंटे माँ-बाप की नाक के ऊपर उसे काटने की फिक्र में लटकता रहे। और यह अकेले माँ की नहीं, पूरे मुहल्ले की औरतों की सोच है। ... दूसरी ओर सोना है जिसने माँ के लिए क्या-क्या नहीं किया! उसे अपनी बच्चियों की तरह नहलाया-धुलाया, खिलाया-पिलाया, चिलम भरी, पाँव दबाए, चार बातें सुनीं और कभी जबान नहीं खोली-वही सोना माँ के लिए 'करमजली' और 'फूटी किस्मत' है।”[30] वस्तुत: यहां बेटों को लेकर भारतीय पुरुषवादी मानसिकता को उजागर करने का प्रयास किया गया है। ऐसे सोच-विचार के कारण बेटी जनने वाली महिलाओं को भयानक मानसिक यंत्रणाओं से गुजरना पड़ता है। अतः यहां स्त्री की पीड़ादायक स्थिति को भी दर्शाया गया है। अक्सर हमारे यहां बेटों को कुलदीपक कहा जाता है। लेकिन इस कुलदीपक के नाम पर हमने बहुत सारी समस्याएं निर्माण की हैं। सबसे बड़ा मसला यह है कि लगातार देश में महिलाओं का प्रमाण घट रहा है और यह एक गंभीर सवाल बना हुआ है। सरकार की ओर से भी प्रयत्न किए जा रहे हैं कि देश में महिलाओं की संख्या बढ़े। इसलिए ‘बेटी बचाओ’ जैसे अभियान भी चलाए जा रहे हैं। इसके बावजूद अपेक्षित परिणाम नहीं मिल रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारी सोच में बदलाव हो और हम बेटा और बेटी में फर्क न करें। यह संदेश भी इस रचना से मिलता है।

आपके उपन्यासों में आए स्त्री पात्र भी पुरुष प्रधान संस्कृति के दमन के शिकार हुए हैं। ‘महुआचरित’ का अंत त्रासदीपूर्ण ढंग से होता है। इसमें आयी महुआ का बिखरा हुआ जीवन

विवाह के बाद पटरी पर आ रहा था कि अचानक उसके पति हर्षुल को पता चलता है कि उसके विवाह से पहले किसी अन्य पुरुष के साथ शारीरिक संबंध रहे हैं। इसके बाद वह पत्नी से सारे संबंध तोड़ देता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हर्षुल पितृसत्तात्मक संस्कृति का प्रतीक है। वह यह बर्दाश्त नहीं कर पाता कि उसकी विवाहिता के विवाह पूर्व किसी गैर मर्द के साथ संबंध थे। लेकिन वह यह भूल जाता है कि उसके भी अन्य महिला के साथ रिश्ते रहे हैं। इस प्रकार एक पति के रूप में हर्षुल अपनी पत्नी के साथ निर्मम व्यवहार करता है। लेकिन वह अपनी करनी को लेकर खामोश है। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में आयी सोनल को भी पुरुषवादी संस्कृति के कारण अनेकानेक यातनाओं से गुजरना पड़ता है। संजय के लिए उसे त्यागना एक मामूली बात है। लेकिन सोनल जैसी पढ़ी-लिखी लड़कियां भी अनेक मानसिक यातनाओं से गुजरती हैं।

4.7 भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद

भारतीय सियासी दुनिया में नब्बे का दशक अत्यंत उथल-पुथल भरा रहा है। इसी दशक में राजनीतिक पटल पर अनेकानेक उल्लेखनीय घटनाएं घटित हुई थीं। देश की कमजोर आर्थिक हालत को देखते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था को दुनियाभर के लिए खोल दिया गया था। यहीं से बाजारवाद, उदारीकरण, भूमंडलीकरण के तत्त्व इस देश में प्रवेश कर जाते हैं। इस नवउदारवादी आर्थिक व्यवस्था ने भारतीय जनता को बहुत बड़े पैमाने पर प्रभावित किया है। देश की साधारण जनता को धीरे-धीरे यह अनुभव होने लगा कि वह इस समूची प्रक्रिया में फंसती जा रही है। भारतीय संदर्भ में देखा जाए तो आधुनिकीकरण ने शहर और गाँव दोनों का चेहरा बदल दिया है।

4.7.1 वैश्विकरण और बिखरते मानवीय मूल्य

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में वित्तीय सुधारों के प्रयत्न स्वरूप देश की अर्थव्यवस्था समूचे विश्व के लिए खुली कर दी गई थी। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार और प्रसार नब्बे के दशक के बाद देखने को मिलता है। इसके बाद समूचा राष्ट्र एक नए बदलाव की ओर अग्रसर हुआ। इसके कारण मानवीय मूल्यों में बहुत तेजी से विघटन होने लगा। इस बदलाव के तहत मनुष्यता का ह्रास बहुत तेजी से हुआ है।

काशीनाथ सिंह ने नब्बे के बाद बहुत कम कहानियां लिखी हैं। लेकिन इस दौरान जो प्रवृतियां विशेष रूप से उभर कर आयी हैं उसके कुछ सूत्र उनकी पहले की कहानियों में दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी कहानी 'अपना रास्ता लो बाबा' में मानवीय मूल्यों का विघटन किस प्रकार हो रहा था यह देखा जा सकता है। वर्तमान समय इतना क्रूर हो चुका है कि इसमें वर्णित देवनाथ यह जानते हैं कि गांव से आए बाबा को प्रारंभिक स्टेज का कैंसर है। डाॅक्टर ने कहा भी है कि इलाज़ करने से वे बच सकते हैं। इसके बावजूद वे बाबा को बिना इलाज किए गांव भेज देते हैं। गौरतलब है कि मनुष्य का मार्गक्रमण घनघोर असंवेदनशीलता की ओर जा रहा है। आने वाले समय में अगर हमारी यही मानसिकता रही तो इस अमानवीयता के जंगल में रहना बेहद मुश्किल हो सकता है। रिश्ते नातों की अहमियत अब हमें नहीं रही। मनुष्य जाति के सारे संबंधों का आधार स्वार्थ पूर्ति और अपना मतलब निकालना है। इसमें एक प्रसंग है जिसमें देवनाथ सोचते हैं कि मानस नगर में वह एक बंगला बनवाएंगे जिसमें चारों कोनों पर अशोक के पेड़ होंगे। सामने खूबसूरत-सा लाॅन होगा और अतिथि कक्ष इतना सुसज्जित और भव्य होगा कि कमिश्नर साहब सर्किट हाउस में ठहरने के बजाय यहीं रुकना पसंद करेंगे। वे चाहते हैं कि साहब उनके बंगले में आकर रहे क्योंकि वे जानते हैं कि उनको खुश करने का मतलब है तरक्की। अपनी तरक्की में वे बाॅस को एक सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करना चाहते

हैं। लेकिन ये वही देवनाथ हैं जब उनके सगे चाचा आते हैं तब चाचाजी को घर में आसरा देने के विचार से वे चिंताओं से घिर जाते हैं। वे बाबा को किसी झंझट की तरह देख रहे हैं। कहना न होगा कि यह समय के साथ टूटते-बिखरते रिश्ते-नातों का आख्यान है। साथ ही साथ मनुष्य के भीतर के मानवीय मूल्य कैसे खत्म हो रहे हैं इसकी ओर भी इशारा किया गया है।

'रेहन पर रग्घू' उदारीकरण, भूमंडलीकरण, बाजारवाद और इसके फलस्वरूप आम आदमी के जीवन में हुए बदलावों को दर्शाता है। यह भूमंडलीकरण की आंधी में मनुष्य के अकेले पड़ते जाने, पारिवारिक और सामाजिक संबंधों के बिखरते जाने का आख्यान है। इसमें एक सामान्य परिवार है जो वैश्वीकरण की चकाचौंध में टूट-बिखर रहा है। शहर और गांव में होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवर्तन को इसमें बड़ी बारीकी के साथ चित्रित किया गया है। इन नवीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण भारत के मध्यवर्गीय समाज में बहुत बड़ी तब्दीलियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह का कथन है – "भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दुष्प्रभाव से गांव भी नहीं बचे हैं । घर के घर तबाह हो रहे हैं पति पत्नी के बीच के संबंध ठंडे होते जा रहे हैं । बेटी बाप के लिए पराई होती जा रही है। बेटा अपने बाप के आए हुए पचास हजार अपने पास रख लेता है । और समझता है कि इसे वसूल करने का उसे हक है । उपभोक्तावाद ने मानवीय रिश्तों को ध्वस्त कर दिया है और लोग हत्यारे बनते जा रहे हैं ।"[31] इस युग में मनुष्य के भीतर धन को लेकर स्वार्थ लिप्साएं बढ़ती ही गई हैं। उपन्यास में चित्रित रघुनाथ जैसा निम्न-मध्य वर्ग में जन्मा व्यक्ति अध्यापक की नौकरी प्राप्त करने के बाद अपनी पत्नी और तीन बच्चों के साथ खुशहाली का जीवन जी रहा था। उसकी जिंदगी योजनाबद्ध तरीके से चल रही थी और उसे लग रहा था कि भविष्य में भी यह इसी तरह से सुव्यवस्थित रूप में चलता रहेगा। उन्होंने अपने जीवनकाल में शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया था। अपने बच्चों को पढ़ाने-लिखाने में उन्होंने कोई

कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने भरसक कोशिश की थी कि उनके बच्चे पढ़-लिखकर के काबिल बन जाए। उन्होंने अपनी जिंदगी को लेकर जो सोचा था वह कुछ हद तक उन्हें प्राप्त भी हुआ। उनका बड़ा बेटा संजय इंजीनियर बन गया। लेकिन जैसे ही उनके बच्चे बड़े हुए और वे इस लायक बन गए कि अपने पैरों पर खड़े हो सके, उनके सपनों को पर लग जाते हैं। वे चाहते थे कि संजय उनके कॉलेज के मैनेजर की लड़की से शादी करें लेकिन उसकी महत्वाकांक्षाएं बहुत बड़ी हैं। वह अपने प्रोफ़ेसर सक्सेना की बेटी से शादी करता है और अमेरिका चला जाता है। इस प्रकार आधुनिक युवा वर्ग के सपने बहुत बड़े हैं। पहले स्थानांतरण की प्रक्रिया गांव से छोटे शहरों, छोटे शहर से बड़े शहरों और फिर बड़े शहर से महानगरों की ओर हो रही थी। लेकिन आज के दौर में पढ़े-लिखे युवा सीधे विदेश जाना चाहते हैं। वैश्वीकरण, उदारीकरण और बाजारवाद के इस युग में भारत से लाखों युवा अमेरिका और दूसरे देशों में गए हैं। एक बार वहां जाने के बाद वे अपनी मातृभूमि से कट जाते हैं। स्थितियां यहां तक खराब हो चुकी हैं कि वे भारत में रहने वाले अपने ही सगे-संबंधियों से भी कट जाते हैं। युवा पीढ़ी मां-बाप के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी भूल जाती है। इसमें वर्णित संजय ऐसा ही एक पात्र है जिसकी जिंदगी का एकमात्र मकसद खूब सारा पैसा कमाना है। अमेरिका जाने के बाद वह आरती गुर्जर नाम की लड़की से शादी करता है। क्योंकि वह उसे और अधिक धन कमा कर दे सकती थी। यह इक्कीसवीं शताब्दी का नवीन यथार्थ है, जिसमें पुराने विचार, पुरानी आस्थाएं कमजोर पड़ती गई हैं। धन के प्रति स्वार्थ लिप्सा इतनी बढ़ गई है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच के रिश्ते ठंडे पड़ते जा रहे हैं। मानवीय मूल्य ध्वस्त होते जा रहे हैं। संजय जैसे नवयुवकों के लिए किसी प्रकार के रिश्ते-नाते मायने नहीं रखते। यहां तक कि अपनी धर्मपत्नी को वह छोड़ देता है। विवाहिता उसके लिए तरक्की के लिए केवल एक सीढी की तरह थी। संजय ने उसे एक सीढी की तरह इस्तेमाल किया और जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो गई तब वह उसे

छोड़ देता है। इस नवीनीकरण के कारण मानवीय मूल्यों में जो गिरावट आ रही है उसे संजय जैसे पात्र के माध्यम से देखा जा सकता है।

रघुनाथ जैसा पुरानी पीढ़ी का व्यक्ति भी वैश्वीकरण के चपेट में आ चुका है। वे अपने बेटे संजय को शादी के लिए मंजूरी नहीं देते, बेटे की शादी में जाने से भी इन्कार कर देते हैं। लेकिन जब प्रोफेसर सक्सेना उनके लिए एक ब्रीफकेस भेजते हैं तब रात के अंधेरे में उठ कर चुपके से उस ब्रीफ़केस को खोलते हैं और उसमें पड़े नोटों के बंडलों को देखकर खुश हो जाते हैं। उन्होंने इसके पहले इतने नोट इक्कठे कभी नहीं देखे थे। तथा – "रघुनाथ ने ब्रीफकेस खोला तो भाव विभोर! बेटे संजय के प्रति सारी नाराजगी जाती रही। रुपयों की इतनी गड्डियां एक साथ ब्रीफकेस में अपनी आंखों के सामने पहली बार देख रहे थे और यह कोई फिल्म नहीं वास्तविकता थी।"[32] यह है सामान्य मध्यवर्गीय समाज में निर्मित रुपयों-पैसों का प्रभाव, जिसने मनुष्य के अनेक बहुमूल्य गुणों को हड़प लिया है। रुपए पैसों के आगे अब तमाम चीजें बौनी दिखाई देने लगी हैं। देश का मध्यवर्गीय व्यक्ति जो कभी अपनी रोजमर्रा की जिंदगी आराम से जी रहा था, उसे इस बात का मलाल नहीं था कि उसके पास संसार की तमाम सुख सुविधाएं नहीं हैं। लेकिन सन् 1991 के बाद देश की आर्थिक नीतियां तेजी से बदलने लगीं। पहले जो अभाव उसे उतने खलते नहीं थे, जिन अभावों के रहते हुए भी वह खुशहाल जिंदगी जी रहा था, धीरे-धीरे उसे वे अभाव बहुत बड़े दिखने लगे। क्योंकि वह अपने इर्द-गिर्द देखता है और उसे महसूस होता है कि उसके आसपास की स्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं। पहले चीजें इतनी तेज गति से नहीं बदल रही थीं। उसके अगल बगल के लोग उसी की तरह सामान्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। लेकिन आज के दौर में स्थितियां इस कदर परिवर्तित हो रही हैं कि जीवन के छोटे-छोटे अभाव अब खलने लगे हैं। समूची दुनिया में हो रहा यह परिवर्तन आम आदमी के दुख का बहुत बड़ा सबब बनने लगा हैं। इन परिवर्तनों के

कारण जो हालात उत्पन्न हुए हैं उनके चलते आगे क्या किया जाए यही रघुनाथ के समझ में नहीं आता। “वास्तव में रेहन पर रग्घू भूमंडलीकरण के बाद भारतीय समाज में व्यापक बदलाव को परिलक्षित करने वाला एक ऐसा उपन्यास है जिसमें दो पीढ़ियों के बीच इतना बड़ा फर्क दिख जाता है जो आश्चर्य पैदा करता है। जिस बच्चे का जन्म और परवरिश ही इस चकाचौंध की दुनिया में हुई है उसकी ख्वाहिशें भी उसी रफ्तार में बहुत बड़ी है। वह उसके पीछे भागता है, लेकिन इस बीच वह पुरानी पीढ़ी उससे काफी पीछे छूट जाती है जिसने उसे इस योग्य बनाया है। 'रेहन पर रग्घू' नैतिकता वगैरे की बात नहीं करता, सही गलत, पाप पुण्य की भी बात नहीं करता, बल्कि सिर्फ एक ऐसे परिवार में घुस जाता है जहां दो पीढ़ियां एक साथ निर्वाह कर रही हैं, और फिर चीजें अचकचाकर सामने आने लगती हैं। मुनाफे की ललक, ख्वाहिशों का पुलिंदा, संबंधों का दरकना सब जस का तस दिखने लगता है। एकदम नंगा यथार्थ। यह उपन्यास भूमंडलीकृत भारत की समाज की भीतरी सच्चाई को उधेड़ कर रख देता है।”[33]

रघुनाथ का दूसरा बेटा धनंजय भी भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति की गिरफ्त में है। वह कम योग्यता के बावजूद सब कुछ पाना चाहता है। वह तमाम सुख-सुविधाएं और ऐशो आराम के साधन जुटाना चाहता है। इसके लिए वह किसी भी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार है। वह दिल्ली जैसे महानगर में पढ़ने के लिए जाता है और बहुत सारी परीक्षाओं में बैठने के बाद भी उत्तीर्ण नहीं हो पाता। उच्च शिक्षा के बहाने वह दिल्ली जाता है और वहां जाकर एक विधवा महिला के साथ रहना शुरू करता है। उसे एक बेटी भी है। लेकिन इस बात से उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। उसका एकमात्र मकसद है आराम की जिंदगी बसर करना। उसे इस बात की भी फ़िक्र नहीं है कि जब उसके माता-पिता को पता चलेगा कि वह दिल्ली में किसी विधवा के साथ रह रहा है तब उन पर क्या गुजरेगी। दिल्ली जैसे महानगर में जाकर

वह अपने माता-पिता के बारे में भी नहीं सोचता। यह बदलते हुए समाज की तस्वीर है जिसके लिए उन पुरानी मान्यताओं और आस्थाओं का कोई महत्त्व नहीं रहा। अपने पिता की सोच अब उसे दकियानूसी और बेकार की लगने लगी है। इसे भूमंडलीय युग का नवीन यथार्थ कहा जा सकता है। धनंजय जिस स्त्री के साथ रहता है उसे एक प्रकार से सहजीवन कहा जा सकता है, जिसे नवीन युग की भाषा में लिव-इन-रिलेशनशिप कहते हैं। लेकिन लिव इन रिलेशनशिप में भी कुछ जिम्मेदारियों का पालन आवश्यक होता है। वर्तमान समय में कानून ने भी इसे मान्यता दी है। देश में एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ है जो विवाह जैसी प्रथा को मानने के लिए तैयार नहीं है। हो सकता है कि विवाह पद्धति में कुछ कमियों के कारण उन्हें ऐसा प्रतीत होता हो। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या ऐसी व्यवस्था विवाह का पर्याय बन सकती है? इसमें सबसे बड़ा खतरा दिखाई देता है वह है असुरक्षा का भाव। इस व्यवस्था के अंतर्गत जिस व्यक्ति के साथ जीवनसाथी के रूप में रहते हैं वह किसी भी वक्त अपने सहयोगी साथी को छोड़ कर जा सकता है। धनंजय ने विधवा स्त्री के साथ संबंध भी इसीलिए स्थापित किए थे कि वह जब चाहे तब इन संबंधों को ठुकरा सकता था। और संभवतः उस महिला ने भी धनंजय से संबंध इसीलिए स्थापित किए थे कि वह भी जब चाहे तब धनंजय जैसे व्यक्ति से किनारा कर सकती है। धनंजय के विधवा महिला के साथ रहने का कारण यह नहीं है कि वह उससे भावनिक रूप से जुड़ गया है या उससे प्रेम करने लगा है बल्कि उसके साथ रहने का कारण है उसकी विवशता। धनंजय के लिए वह औरत उसके आगे बढ़ने का एक साधन मात्र है। यह केवल इस्तेमाल करो और इस्तेमाल होते रहो वाली नीति है जिसे उसने अपनाया है। यह नई पीढ़ी का बदला हुआ रूप है। भारतीय संस्कृति में पहले जिन चीजों को वर्जित माना जाता था वह पैमाने अब बदलने लगे हैं। खासकर बड़े शहरों में जो नई सोच पनप रही है उसमें इस प्रकार की चीजें बड़ी संख्या में दिखलाई देने लगी है। इसके अंतर्गत एक स्त्री और

पुरूष बिना विवाह किए एक छत के नीचे रह सकते हैं। इस तरह से अविवाहित स्त्री-पुरुष का एक साथ रहना अब कोई बड़ी बात नहीं रही। यह जमाना लिव एंड रिलेशनशिप को भी मान्यता देता है। समाज में हो रहा यह परिवर्तन नवीन संस्कृति की उपज कही जा सकती है। इन बदली हुई सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन इस आख्यायिका में हुआ है।

4.7.2 ग्रामीण जीवन में उपभोक्तावाद का प्रभाव

भूमंडलीकरण एवं उपभोक्तावाद के विषैले जीवाणु केवल नगरों-महानगरों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि इनका फैलाव सुदूर गावों तक हो चुका है। इसकी विकृतियां ग्राम जीवन की एकता, सौहार्द्र, अपनत्व, आत्मीयता को नष्ट कर रही है। एक तरह से यह भारतीय मूल्यों के विघटन का जटिल दौर है। 'रेहन पर रग्घू' में ग्राम-जीवन में अन्तर्भूत उपभोक्तावाद के तत्वों का दर्शन होता है। इन विकृतियों से रघुनाथ का गांव भी अछूता नहीं रह सका। पहाड़पुर जैसा गांव वर्तमानकालीन स्वार्थी और ओछी सियासत का उदाहरण है। आज की भ्रष्ट राजनीतिक दांवपेंचों ने गांव के लोगों के मन-मस्तिष्क को पथभ्रष्ट कर दिया है। दूसरों की जमीनें हड़पने का काम जोर-शोर से शुरू है। सियासी षड्यंत्रों का सहारा लेकर धूर्त और मक्कार लोग बड़ी मात्रा में उभर कर आए हैं। इन लोगों के लिए रिश्ते-नातों, संबंधों की कोई परवाह नहीं है। तथाकथित विकास के चलते रिश्ते नाते ध्वस्त हो रहे हैं। इसका उदाहरण है रघुनाथ के गांव में रह रहे उनके अपने भतीजे। वे उनकी जमीन हथियाने की फ़िराक में हैं।

अतः यह उपन्यास गांवों में हो रहे परिवर्तनों को दर्शाता है। देश में हुए स्थानांतरण की प्रक्रिया की ओर नजर डालें तो हम पाते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर काल में बहुत बड़ी तादाद में लोग गांवों को छोड़कर नगरों की ओर पलायन करने लगे थे। यह वह समय था जब शहरों में रोजगार की अपार संभावनाएं थीं और गांव का पुराने ढर्रे पर चलने वाला जीवन लोगों को

बेहद अनाकर्षक लग रहा था। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में तत्कालीन भारत सरकार ने अपनी आर्थिक नीतियों में बदलाव किया। सरकार द्वारा उदारीकरण की नीति को अपनाने के बाद स्थानांतरण की गति बहुत तेज होने लगी। बहुत बड़ी संख्या में लोग गांवों और कस्बों से निकलकर बड़े शहरों और महानगरों की ओर आने लगे। इसका मुख्य कारण यह था कि उदारीकरण ने निम्न-मध्य वर्ग और मध्य वर्ग के पढ़े-लिखे युवाओं को रोजगार के नए अवसर प्रदान किए और ढेर सारे पैसे कमाने का एक नया ज़रिया मुहैया कराया। इस सरजमीं पर अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपना व्यवसाय शुरू किया। इन कंपनियों को बड़े पैमाने पर ऐसे युवकों की ज़रूरत थी जो उनका काम सही ढंग से कर सके। मल्टिनेशनल कंपनियों ने हमारे युवकों के सामने ऐसे प्रलोभन रखे कि इनके आगे पढ़ा-लिखा युवा वर्ग नतमस्तक हो गया। धीरे-धीरे ये प्रलोभन इस कदर लोलुपता में परिवर्तित हो गए कि अब हमारे मूल्य और संस्कृति इनके आगे बेमतलब के साबित होने लगे हैं। जिन भारतीय मूल्यों की हम दुहाई देते नहीं थकते थे उन्हीं मूल्यों का विघटन उदारीकरण की नीति ने किया। देश में एक नव संस्कृति पनपने लगी है और वह है उपभोक्तावाद से भरी संस्कृति। इसके प्रभाव के कारण आज सबसे बड़ा सामाजिक मूल्य धन की प्राप्ति बन गया है। धन-लोलुपता में आकंठ डूबे युवकों के लिए मूल्यों और संस्कारों का कोई मतलब नहीं बचा है। यही वजह है कि संजय को अपने पिता के विचार मूर्खतापूर्ण लगते हैं। उसे लगता है कि उसका बाप गांव की एक साधारण, बेमतलब की जमीन को लेकर खामख्वाह चिपका हुआ है। उनके बच्चों के लिए उनका गांव कोई मायने नहीं रखता। उनके लिए अपने पिता का गांव एक बेकार की वस्तु है। लेकिन रघुनाथ पुराने संस्कारों में पले बढ़े आदमी हैं। वे आज भी अपने गांव की मिट्टी से बंधे हुए हैं। यही वजह है कि शहर में रहते हुए भी उनका गांव से रिश्ता कायम है।

यह आख्यायिका सिर्फ शहरों में हो रहे सांस्कृतिक बदलाव की नहीं है बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में हो रही तब्दिलियों को भी रेखांकित करता है। कुछ लोगों के लिए यह बदलाव दुखद और दर्दीले साबित हुए हैं। गांव के सामाजिक समरसता भरे जीवन का ताना-बाना कहीं खो गया है। गांव का सामाजिक जीवन जिस अपनापे और सादगी की ठोस भूमि पर खड़ा था वह बिखर चुका है। उपभोक्तावाद के दुष्परिणाम दूर-दूर के गावों तक देखने को मिलते हैं। फिर इन सब से रघुनाथ का गांव कैसे अछूता रह सकता था? पहाड़पुर उदाहरण है वर्तमानकालीन स्वार्थपरक और ओछी राजनीति का। इस संदर्भ में प्रोफेसर गोपेश्वर सिंह का मत उल्लेखनीय है "पहाड़पुर और बनारस यानी गांव और शहर तक फैली इस कथा के नायक रघुनाथ की अजीब और विवश दास्तान को पढ़ते हुए मुझ जैसा पाठक तेजी से आए इस सामाजिक-पारिवारिक बदलाव को स्वीकार नहीं कर पाता। उसे यह विश्वास नहीं होता कि हमारे सारे संबंध इतने निर्मम तरीके से बदल रहे हैं। भूमंडलीकृत व्यवस्था के तहत बदलाव तो आया है लेकिन इतनी तेजी से आया है यह उपन्यास पढ़कर मैंने जाना। इस बदलाव के कारण हमारी दुनिया कितनी निर्मम आत्मकेंद्रित जड़विहीन और संवेदनहीन हो गई है इसकी दिलचस्प और प्रामाणिक कथा है 'रेहन पर रग्घू'।"[34] दरअसल यह बाजारवाद, उदारीकरण और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति की जो बाढ़ आयी है इसके नतीजतन उपजे हुए बदलाव हैं। यह नवीन दृष्टिकोण हमारी परंपरागत मान्यताओं और तौर तरीकों को ध्वस्त कर रहा है। इन बदलते हुए सामाजिक बदलाव को पुरानी पीढ़ी देख तो रही है लेकिन उनके संस्कार इतने रूढ़ हो चुके हैं कि इन परिवर्तनों को अपनाने के लिए जिस मानसिकता की आवश्यकता है वह उनमें नहीं है। वैश्विकरण के इस युग में आम आदमी के जीवन में हो रहे बदलावों को उपन्यास लेखक ने रघुनाथ के परिवार के माध्यम से चित्रित किया गया है।

'काशी का अस्सी' में भी बाजारवाद के कारण आम आदमी के जीवन में हो रही परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है। सन् 1991 वह प्रस्थान बिंदु है जहां से पूंजी का तेज बहाव हिन्दुस्तान की सरजमीं परो शुरू हुआ था। नए-नए चैनलों, भारी भरकम विज्ञापनबाजी का दौर यहीं से चल निकलता है। मुल्क के हुक्मरानों ने वित्तीय मोर्चे पर जो निर्णय लिया था शायद तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए यह उचित था। लेकिन पूंजी के इस तेज आंधी ने देश के जनमानस पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। यह नवीन अर्थ व्यवस्था की चहलकदमी भारतीय साधारण जनता को बहुत बड़े पैमाने पर विचलित करती गयी। आज के विकट समय काल में देश में सांस्कृतिक स्तर पर अनेक बदल हो रहे हैं। इसका गहरा असर हमारे समाज और संस्कृति पर हो रहा है।

4.8 लोक रंग

लोक शब्द का आशय सामान्य जन से होता है, जिसके अंतर्गत व्यक्ति की व्यक्तिगत पहचान न होकर समष्टिगत पहचान होती है। मानव समुदाय का एकत्रित रूप लोक कहलाता है। इन सबकी मिली जुली पद्धति लोक संस्कृति कहलाती है। भारत वर्ष में रहने वाले निवासियों का रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान, रीति रिवाज, भाषा अलग-अलग है इसके बावजूद सभी देश वासी एक सूत्र में गूंथे हुए हैं। लोक-संस्कृति सदैव अनुभवों, सुनी हुई बातों और परंपरा से चले आ रहे रीति-रिवाजों, प्रथाओं, नियमों, रस्मों के आधार पर चलती है। हर क्षेत्र के मूल निवसियों ने इस तत्व को संरक्षित किया है। यह मनुष्य के अन्तस में रची-बसी होती है। लोक शब्द का अर्थ केवल जनपदीय या ग्रामीण जनता से नहीं है बल्कि लोक का संबंध गांवों, कस्बों-नगरों में फैली हुई उस जनता से भी है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार मात्र पोथियां नहीं हैं । ये लोग शहरों में रहने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।

4.8.1 बनारसी संस्कृति

बनारस शहर की पहचान भारतवर्ष के सांस्कृतिक नगर के रूप में होती है। यह विश्व के प्राचीन नगरों में से एक है। इसका एक लंबा इतिहास रहा है और नगर की प्राचीन संस्कृति है जो वर्तमान में भी कायम है। उपन्यास-लेखक के 'काशी का अस्सी' में बनारस की जनपदीय संस्कृति का रूप दृष्टिगोचर होता है। आपने इस कृति के अंतर्गत जन सामान्य की चुलबुली भाषा में समसामयिकता का प्रस्तुतीकरण किया है। कथानक के शुरुआत में हम अस्सी के अनगिनत पात्रों से रूबरू होते हैं। इन पात्रों की जीवन-संबंधी अपनी विशेषताएं हैं। जीवन के प्रति उनका अपना दर्शन है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि उक्त उपन्यास का नायक अस्सी चौराहा है। इस आख्यान के आरंभ में अस्सी का जो जिंदादिल-जीवंत चित्र उभर कर सामने आया है, उसका लब्बोलुआब यह है कि यहां के वातावरण में सर्वत्र मस्ती और लापरवाही छाई हुई है। यहां के लोगों की बातचीत से लगता है कि इन्हें न तो जमाने भर की कोई फिक्र है और न ज़िन्दगी को लेकर कोई गिला-शिकवा। जिंदगी की चिंताओं को अपने ठेंगे पर रख कर दुनिया में हो रहे बदलावों के संदर्भ में यहां के रहिवासी पप्पू की दुकान पर बैठकर गप्पे करते रहते हैं। लेकिन धीरे धीरे यह सूरत बदलने लगती है क्योंकि पूंजी के प्रवाह ने इन लोगों को तनावपूर्ण स्थिति में डाल दिया है।

यह रचना बनारस के अस्सी मोहल्ले में रहने वाले लोगों की जिंदगी के मिज़ाज को बयान करती है। इसमें वर्णित पात्र मोहल्ले में स्थित पप्पू की दूकान पर बैठते हैं और देश-दुनिया के संबंध में बातें करते हैं। उनकी बतकही में विभिन्न मुद्दों पर बहसबाज़ी होती है। उपन्यास के शुरूआत में लेखक की जुबानी इस मोहल्ले के संबंध में दिए गए परिचय की ज़रा झलक देखिए – "मित्रों, यह संस्मरण वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढों के लिए नहीं, और

उनके लिए भी नहीं जो यह नहीं जानते कि अस्सी और भाषा के बीच ननद-भौजाई और साली-बहनोई का रिश्ता है। जो भाषा में गन्दगी, गाली, अश्लीलता और जाने क्या-क्या देखते हैं और जिन्हें हमारे मुहल्ले के भाषाविद् 'परम' (चूतिया का पर्याय) कहते हैं, वे भी कृपया इसे पढ़कर अपना दिल न दुखाएँ - तो, सबसे पहले इस मुहल्ले का मुख्तसर - सा बायोडॉटा - कमर में गमछा, कन्धे पर लँगोट और बदन पर जनेऊ-यह 'यूनीफार्म' है अस्सी का' ।

हालाँकि बम्बई-दिल्ली के चलते कपड़े-लत्ते की दुनिया में काफी प्रदूषण आ गया है। पैंट-शर्ट, जीन्स, सफारी और भी जाने कैसी-कैसी हाई-फाई पोशाकें पहनने लगे हैं लोग ! लेकिन तब, जब कहीं नौकरी या जजमानी पर मुहल्ले के बाहर जाना हो ! वरना प्रदूषण ने जनेऊ या लँगोट का चाहे जो बिगाड़ा हो, गमछा अपनी जगह अडिग है ! 'हर हर महादेव' के साथ 'भोंसड़ी के' नारा इसका सार्वजनिक अभिवादन है ! चाहे होली का कवि-सम्मेलन हो, चाहे कर्फ्यू खुलने के बाद पी.ए.सी. और एस.एस.पी. की गाड़ी, चाहे कोई मंत्री हो, चाहे गधे को दौड़ाता नंग-धड़ंग बच्चा-यहाँ तक कि जार्ज बुश या मा्गरेट थैचर या गोर्बाचोव चाहे जो आ जाए (काशी नरेश को छोड़कर) -सबके लिए 'हर हर महादेव' के साथ 'भोंसड़ी' के का जय-जयकार!"[35] अस्सी का यह मुख्तसर-सा परिचय मोहल्ले का सांस्कृतिक परिदृश्य प्रस्तुत करता है। यह जीवन के विविध रंगों से भरा एक ऐसा इलाका है जिसकी अपनी विशिष्ट भाषा और जीवन शैली है।

"गुरु यहां की नागरिकता का सरनेम है। न कोई सिंह, न पांडे, न जादों, न राम। सब गुरु। जो पैदा भया, वह भी गुरु, जो मरा, वह भी गुरु। वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा जनतन्त्र है यह।"[36] यहां रहने वाले लोगों की जिंदगी का यह संक्षिप्त-सा परिचय है।

'काशी का अस्सी' में बनारस में पायी जाने वाली विभिन्न संस्कृतियों के दर्शन होते हैं। इस नगर में पान और भांग की संस्कृति काफी प्रसिद्ध है। इस संदर्भ में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य

हैं– “तो साहब, जानिए कि भाँग अस्सी की संस्कृति है। और जब संस्कृति है तो कोई-न-कोई परम्परा भी जरूर होगी और वह परम्परा है होली का विश्वप्रसिद्ध 'कवि-सम्मेलन' !

मेरे साथ ही आप सब लोग वन्दना करें इस संस्कृति और परम्परा के रक्षक और मुहल्ले के 'डीह' डॉ. गया सिंह की!

हरिश्चन्द्र महाविद्यालय के अध्यापक डॉ. गया सिंह ने 'विद्वान्' कहलाने के लिए अथक संघर्ष किया है। एक ओर विद्वानों की संगत, दूसरी ओर ऐसे लोगों से मारपीट जो उन्हें गुंडा, लंठ, झगड़ालू, मुकदमेबाज और जाने क्या-क्या कहते थे! अपने को 'विद्वान्' साबित करने के लिए उन्होंने कई लोगों से कई मुकदमे भी लड़े। अनाड़ी लोग उन्हें कानपुर के 'धरतीपकड़' घोड़ावाले की टक्कर का व्यक्तित्व मनाते हैं। ये चुनाव तो नहीं लड़े लेकिन हिन्दू विश्वविद्यालय के एक विभाग में निकलनेवाला ऐसा कोई पद नहीं जिसके लिए इंटरव्यू न दिया हो ! अगर ये छंटे तो अपनी विद्वत्ता के आतंक और दबदबे के कारण ! मूर्खता के कारण दूसरे छंटे होंगे !

भाँग बाबू साहब की प्रतिभा के लिए नित्य का खाद-पानी है, ऐसा लोग बोलते हैं ! जब अस्सी पर चाय के साथ बिना लाइसेंस के भाँग बेचनेवालों को दारोगा ने गिरफ्तार करके चालान किया तो किसी भी माई के लाल की हिम्मत नहीं हुई कि इस जुल्म के खिलाफ बगावत का झंडा बुलन्द करे ! खाते सब थे, मगर पस्त ! अस्सी की सारी दुकानें बन्द ! ऐसे गाढ़े वक्त पर – जबकि बड़े-बड़े नेता रण छोड़ चुके थे – गया सिंह ने माइक सँभाला – दहाड़ने से पहले उन्होंने मंच को तीन तरफ से घेरे पचासों सिपाहियों समेत दारोगा शर्मा को देखा – ‘शर्मा...जी! देख रहे हो मेरा सिर ? खल्वाट ? खोपड़ी पर एक भी बाल नहीं। तुम्हारे डंडे का वार इस पर भरपूर पड़ेगा! मारो ! मार सको, तो ! लेकिन शर्मा भोंसड़ी के ! तुम काशी की संस्कृति और परम्परा मिटाना चाहते हो? तुम्हारी हैसियत कि तुम हजारों-हजार साल से चली आ रही काशी की संस्कृति और परम्परा मिटा दो? तुम्हारे जैसे जाने कितने दरोगा-दरोगी आए और गए;

अस्सी कायम है और कायम रहेगा।'...इसके बाद उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक अलंकार की सहायता से जब यह बताना शुरू किया कि किस तरह भाँग बनारस की आबोहवा के लिए अनिवार्य है, भाँग का सम्बन्ध 'दिव्य निपटान' से है, 'दिव्य निपटान' का सम्बन्ध शरीर और स्वास्थ्य से है, स्वास्थ्य का सम्बन्ध मानव-अस्तित्व से है और मानव-अस्तित्व का सम्बन्ध अस्सी से है तो शर्मा लाठी-बन्दूकधारी अपने लश्कर के साथ वहाँ से खिसकने लगा ! ऐसा ही विकट संकट एक बार आया परम्परा के आगे ! और यह संकट प्रशासन की ओर से नहीं, अपने ही लोगों की ओर से आया !

'भारतीय संस्कृति' के भाजपाई चरवाहों ने अस्सी-परम्परा के रखवालों से कहा कि होली का यह कवि-सम्मेलन नहीं होगा। अश्लील है, गन्दा है, फूहड़ है। इसे करना हो तो शहर से बाहर जाओ! गंगा के उस पार, रेती पर ! जहाँ कोई न सुने ! अगर हुआ, तो गोली चल जाएगी, लाशें बिछ जाएँगी, आदि-आदि।

इधर यह हिन्दुओं के महान पर्व पर आयोजित होनेवाला अकेला विश्व-स्तर का सम्मेलन ! जिसे देखने-सुनने के लिए आनेवाले देश-विदेश के लाखों लोग ! वीडियो-कैमरे और टेपरिकार्डर के साथ! सड़कें और गलियाँ जाम ! यातायात ठप ! लंका से लेकर शिवाला तक कहीं भी तिल रखने की जगह नहीं !...महीनों से अस्सी के इसी दिन का बनारस की जनता इन्तजार करती है ! और इन्तजार करते हैं महीनों तक मशक्कत और रियाज के बाद कविताएँ बनानेवाले कवि ! महाकवि चकाचक बनारसी से लेकर बद्रीविशाल और भुटेले गुरू तक !

लोगो ! बाबा की धरती का यह चमत्कार 'अवसि देखिए देखन जोगू' ! मानव-शरीर का कोई अंग नहीं जो सक्रिय न हो ! लिट्टे, खालिस्तान, उग्रवाद, रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कोई समस्या नहीं, कोई राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय पार्टी नहीं जो होली की गालियों के 'प्रक्षेप्यास्त्रों' की जद के बाहर हो ! गालियों में दिलचस्पी हो तब भी आइए और राजनीतिक

व्यंग्य में हो तब भी ! अगर शब्दों के अर्थ पर न जाएँ तो जीवन की अकुंठ उच्छल-उल्लसित ध्वनियों का समारोह ! तो साहब ! धमकी से भुटेले गुरू, बद्रीविशाल, सुशील त्रिपाठी, सुरेश्वर और दूसरे आयोजक परेशान ! परम्परा खतरे में ! जो भी शख्स मंच पर खड़ा होगा, गोली मार दी जाएगी! एक बार फिर ऐसे वक्त पर अपने त्याग, बलिदान और दिलेरी से डॉ. गया सिंह ने प्रसाद की 'गुंडा' कहानी के बाबू नन्हकू सिंह की याद ताजा कर दी-'जिसने अपनी माँ का दूध पिया है, सामने आए और मार दे गोली !"[37] इस क्षेत्र में होली, कवि सम्मेलन, गालियां और भांग प्राचीन काल से ही मौजूद है। यह सब यहां की अपनी विशेषता है। बनारस की आबोहवा में मौजूद इस जीवनचर्या से कुछ लोगों को परहेज हो सकता है। लेकिन इसकी परवाह अस्सी निवासी नहीं करते, इस पारंपरिकता को खत्म करने के लिए कुछ लोग आमादा हैं उनके विरोध में यहां के निवासी खड़े हो जाते हैं। इस पारंपरिक संस्कृति को बचाने हेतु डॉ. गया सिंह जैसा शख्स डट कर खड़ा होता है ताकि काशी की यह शतकों से चली आ रही जीवन पद्धति जीवित रह सके।

अस्सी में एक औघड़ संस्कृति भी है। इस संदर्भ में उपन्यासकार लिखते हैं – "धक्के देना और धक्के खाना, जलील करना और जलील होना, गालियाँ देना और गालियाँ पाना औघड़ संस्कृति है। अस्सी की नागरिकता के मौलिक अधिकार और कर्तव्य। इसके जनक सन्त कबीर रहे हैं और संस्थापक औघड़ कीनाराम। चन्दौली के एक गाँव से नगर आए एक आप्रवासी सन्त। अस्सीवासी उसी औघड़ संस्कृति की जायज-नाजायज औलादें हैं। गालियाँ इस संस्कृति की राष्ट्रभाषा है जिसमें प्यार और आशीर्वाद का लेन-देन होता है।

यह जरा सी बात राजापुर-सोरोवासी तुलसी की समझ में न आई थी। नतीजा यह हुआ कि आदिवासियों ने उन्हें अपने तरीके से पीटा और आप्रवासियों ने अपने तरीके से। किस्सा तब का है जब तुलसी की हनुमान-राम भक्ति का जलवा सातवें आसमान पर था।

अस्सीघाट पर बाबा तुलसीदास और बगल में हरिश्चन्द्र घाट पर औघड़ कीनाराम। मुहल्ले की एक ग्वालिन बाबा को दूध पिलाती थी। बिला नागा। जब सात साल हो गए तो बाबा बड़े प्रसन्न। बोले – 'कोई कष्ट हो तो बताओ', बोली – 'और सब ठीक, कोई सन्तान नहीं है बाबा।' 'ठीक है, देखते हैं, क्यों नहीं है ?' बाबा ने कहा और हनुमानजी से पूछा, हनुमान ने भगवान राम से पूछा और राम ने बताया कि उसके प्रारब्ध में ही सन्तान का योग नहीं है।

सुनकर बड़ी दुखी हुई। आँखों से लोर बहने लगे। टोले-मुहल्लेवालों ने समझाया – 'काहे रोती हो? जरा औघड़ बाबा कीनाराम को भी देखो।' पहुँची कुछ दिनों बाद मरघट पर, अधजले मुर्दे की बगल में कीनाराम, नंग-धडंग और सामने ताजी खोपड़ी। आगे-पीछे गाँजे की चिलम के साथ चेले चाटी। पहले दिन हिम्मत छूट गई – मारे लाज और डर के घाट से ही लौट आई। अगले दिन हिम्मत करके पहुँची। औघड़ ने उसका दुःख सुना तो पहले धुआंधार गालियां दीं, क्रोध में मटका फेंक दिया और चूतड़ पर चार चिमटा जमाया – 'जा भाग हियाँ से' ।

ग्वालिन रोती-गाती लौट आई।

जब एक-एक करके चार बेटे हो गए तो उनके साथ बाबा के पास आई। बाबा चकित। उन्होंने हनुमान से पूछा । राम ने हनुमान से बताया – 'भई, प्रारब्ध में तो नहीं था लेकिन महादेव की इच्छा। कोई क्या कर सकता है ?'

एक औघड़ के आगे भक्ति भी धरी रह गई और राम की भगवानी भी। ऐसे तो इस कथा के कई अर्थ हो सकते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि अघोरी कीनाराम की पैदाइश के समय तक बाबा जीवित भी थे या नहीं ? लेकिन इसका एक अर्थ साफ है – तुलसी के लिए होने वाले हुआं-हुआं के जवाब में अस्सी का भौं-भौं और उसका औघड़पन। यह भौं-भौं कभी आकाशवाणी के रूप में गूंजता है, कभी भविष्यवाणी के रूप में, लेकिन ज्यादातर लोकवाणी के रूप में।"[38] गौर करने वाली बात यह है कि अस्सी की औघड़ संस्कृति ज्यादा लोकतांत्रिक है।

यह आम जनता के ज्यादा करीब है, जिसमें मनुष्य के सुख-दुख को सांझा करने की क्षमता दिखलाई पड़ती है।

4.8.2 देशीयता का लोप तथा अमरीकीकरण का वर्चस्व

वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के बढ़ते चलन के कारण देश की परंपरागत लोक संपदा लुप्त हो रही है। सामूहिक जीवन इस देश के रग-रग में बसा हुआ है। लेकिन इस युग में विकसित होती नवीन जीवनशैली के चलते हम स्वयं में कैद होने के लिए अभिशप्त हैं। 'काशी का अस्सी' में अस्सी चौराहे पर विभिन्न आचार-विचारों वाले लोग एकत्रित होते हैं। यह एक ऐसी जगह है जहां पर सामान्य जनता दुनियाभर की बातें करती है। यह सब कहीं न कहीं उन्हें सुकून देता है। लेकिन समय के साथ यह प्रवृत्ति गायब हो रही है। एक समय था जब देश के कोने-कोने में मोहल्ला कल्चर के दर्शन होते थे। लेकिन आज के समय में भूमंडलीकरण नामक विशालकाय अजगर ने इस मेल-जोल वाली संस्कृति को निगलना शुरू किया है। प्रौद्योगिकी के नव-नवीन अविष्कारों ने भी इसमें बड़ी भूमिका निभाई है। वर्तमान दौर में मोहल्ला संस्कृति का तेजी से विलुप्त होता स्वरूप लेखक को चिंतित करता है।

नवीन आर्थिक नीतियों के कारण जो विकास हुआ है वह कितना मानवीय है यह भी अपने आप में बड़ा ही सोचनीय सवाल है। क्योंकि तथाकथित विकास के चलते एक ऐसी जीवन-पद्धति पनप रही है जिसकी वजह से हमारा खांटी देशजपन समाप्त हो रहा है। जिस अस्सी की बात उपन्यास में हो रही है उस घाट पर पहले गांजा और भांग जैसी देसी चीजें बिकती थीं। लेकिन आज उसी घाट पर गांजा-भांग की जगह हीरोइन, चरस, ब्राउन शुगर और वियाग्रा की गोलियां धड़ल्ले से बिकने लगी हैं। ऊपरी तौर पर देखा जाए तो दोनों चीजों का संबंध मात्र नशे से है। लेकिन गहराई से जानने-समझने से पता चलता है कि यह संबंध केवल नशे

की आदत तक सीमित नहीं है। भांग और गांजा बेचने वाले देसी लोग अपने उदर निर्वाहन के लिए यह कार्य वर्षों से करते आए हैं। चरस, ब्राउन शुगर, हीरोइन जैसी चीजों का संबंध आवारा पूंजी से है। एक ऐसा नया वर्ग यहां उभरा है जो इन चीजों का खरीदार है। इसे खरीदने वाले मात्र विदेशी पर्यटक ही नहीं बल्कि इन चीजों की लत अब यहां के मूल निवासियों को भी लग चुकी है। नशीली चीजों के आसानी से उपलब्ध होने के कारण युवा पीढ़ी तबाही के मार्ग पर जा रही है।

ग़ौरतलब है कि बनारस से गांजा-भांग जैसी चीजें खत्म हो रही हैं और इनकी जगह ब्राउन शुगर, चरस, हीरोइन जैसी चीजें ले रही हैं। जिस प्रकार का बर्ताव अस्सी के युवकों का है इससे साफ जाहिर होता है कि यहां की युवा पीढ़ी किस कदर नवीन अपसंस्कृति के चक्कर में फंसती जा रही है। यथा – "मित्रो, डॉ. गया सिंह विद्वान भी हैं और बुद्धिमान भी ! उन्हें समझते देर नहीं लगी कि यह भारतीय संस्कृति पर हमला है ! गाँजा-भाँग की संस्कृति पर ! जब से अस्सी पर अँगरेज-अँगरेजिन आने शुरू हुए हैं तभी से मुहल्ले के लौंडे हेरोइन और ब्राउन शुगर, में चरस के लती हो रहे हैं। ये डाल्टनगंज के नहीं, अस्सी के ही हैं। भागनेवालों में एक की सूरत उन्हें कुछ पहचानी-सी लगी थी। उन्होंने कई बार उसे चौराहे पर दो-चार रुपयों के लिए लोगों के पाँव पकड़ते, चिरौरी करते और घिघियाते हुए देखा था। भिखमंगे इनसे कहीं अच्छे हैं ! उनमें स्वाभिमान तो है-माँगते हैं तो अपना अधिकार समझकर, कभी-कभी डपटकर!...और ये साले माँ-बाप के नाम पर रिरियाते हैं !

डॉ. गया सिंह रिक्शे पर टिकठी लिये जब लौट रहे थे तो उनकी आँखों में चमक थी! उनके दिमाग में वह गुत्थी एकदम से सुलझ गई थी जो अब तक रहस्य थी ! मुहल्ले के ऐसे दो-तीन लौंडे उनकी नजरों के सामने घूम गए जिनके हाथ में पेजर या मोबाइल थे ! वे कल तक निठल्ले थे-इंटर-बी.ए. करके पिछले चार-पाँच सालों से चौराहे पर टिल्लो मार रहे थे। बेरोजगार

और आवारा साले । लौंडियाबाजी के चक्कर में रहते थे और चाय की दुकानों पर या तो उधारी चलाते थे या जजमान की टोह में रहते थे। अब हीरो-होंडा या येज्डी पर घूमते हैं और कभी दिल्ली से आ रहे हैं तो कभी बम्बई से । कहते हैं कि बिजनेस कर रहे हैं। आज उनकी बिजनेस का पता चल गया।"[39]

भारत में बाजारवाद और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ऐसी है जिसमें अमेरिकी वर्चस्व को बढ़ावा मिल रहा है। इस जद्दोजहद में भारतीयता का क्षरण बहुत तीव्र गति से हो रहा है तथा इसमें देश का आम आदमी पीस रहा है। वैश्विकता के कारण हम अकेलेपन का जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। विगत कई युगों से जिस मूल्यवान जातीय परंपरा एवं संस्कृति को हम संजोए हुए थे वह तीव्र गति से लुप्त हो रही है। नवीन सामाजिक संरचना में हम आत्मकेंद्रित होते जा रहे हैं। इस रचना के केंद्र में बनारस नगर का अस्सी चौराहा है। इस स्थान की विशेषता है कि यहां रहने वाले विभिन्न आचार-विचार वाले लोग पप्पू वाली दुकान पर गपशप हेतु एकत्रित होते हैं और यहां पर बैठकर चाय पिते-पिलाते गप्प करना इनका प्रिय शगल है। लेकिन वक्त के साथ यह सब खत्म होते जा रहा है। एक वक्त था जब भारत के हर छोटे-बड़े शहर में इस प्रकार के मोहल्लों के दर्शन होते थे। लेकिन भूमंडलीकरण ने देश की इस मेल-जोल वाली संस्कृति को शनैः-शनैः समाप्त करना शुरू किया। देश के लगभग सभी नगरों में मोहल्ला एक ऐसी जगह रही है जहां पर आम आदमी इकट्ठा होते हैं और आपस में घर-परिवार तथा देश दुनिया के संबंध में बतियाते रहते हैं। इसे केवल निठल्लों का कोरस कह कर नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। क्योंकि भारतीय जनसामान्य की श्रम से भरी जिंदगी में यह वे क्षण होते हैं जहां पर वे अपने श्रम का परिहार करते हैं और एक प्रकार के सुख का अनुभव करते हैं। वर्तमान दौर में देश से इस पद्धति का तेजी से विलुप्त होता स्वरूप लेखक को दुखी करता है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद का प्रहार इतना गहरा है कि देश से इन

चीजों को खत्म कर रहा है। सबसे दुखद पक्ष यह है कि मनुष्य के चेहरे पर से हंसी का भाव गायब हो रहा है। लेखक के अनुसार "हंसी धीरे-धीरे खत्म हो रही है दुनिया से। पाश्चिम के लिए इसका अर्थ रह गया है–कसरत खेल। क्लब, टीम, असोशिएशन , ग्रुप बनाकर निरर्थक , निरुद्देश , जबर्दस्ती ज़ोर-ज़ोर से हो-हो हा-हा करना। इसे हंसी नहीं कहते। हंसी का मतलब है ज़िंदादिली और मस्ती का विस्फोट , जिंदगी की खनक। यह तन की नहीं मन की चीज है। यह किसी सनसनीखेज खबर से कम नहीं कि जंबूदीप में एक ऐसी भी जगह है जहां हंसी बची रह गयी।"[40] लेखक का दर्द इसी बात को लेकर है कि आम आदमी के चेहरे पर से हंसी गायब होती जा रही है। अब वह पहले जैसा खुश नहीं रहता। नवीन नीतियों ने उसके चेहरे की खुशी छीन ली है और वह समय के साथ गमगीन होता जा रहा है। इस मेल-जोल की संस्कृति के खत्म होने का मतलब है लोगों के आपसी जुड़ाव की भावना का खत्म होना। हर व्यक्ति को मात्र उसका अपना अस्तित्व ही महत्त्वपूर्ण लगने लगता है। इस नवीन विचारधारा ने उसके मन को घेर लिया है। समूचे वातावरण में एक प्रकार की क्रूर प्रतियोगिता दिखाई पड़ती है। प्रतिस्पर्धा का माहौल समाज में तनाव और अलगाव का भाव भर देता है। यही कारण है कि उपन्यास के पूर्वार्ध में हंसी ठठ्ठा करता मस्त मौला अस्सी उत्तरार्ध में टूटता-बिखरता हुआ और निराश नजर आता है। प्रतियोगिता के खिंचतान के कारण समाज के आपसी जुड़ाव को तोड़ने की कोशिश हो रही है। भूमंडलीकरण भौतिक रूप में समग्र विश्व को नजदीक ला रहा है लेकिन ठीक हमारे बगल में बैठे आदमी को दूर करने का प्रयास जारी है। लाखों मिलों की दूरी पर बैठे लोग यह आभास देते हैं कि वे एक-दूसरे के करीब आ रहे हैं। लेकिन आस-पड़ोस के लोग दूर लगने लगे हैं।

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह है कि इस देश में रहने वाले सभी धर्मों के लोग एकता के सूत्र में बंधे हुए हैं। विभिन्न धर्मों, जातियों, संप्रदायों में बटे होने के बावजूद समस्त

भारतवासी एकता के सूत्र में बंधे हुए हैं। कतिपय विदेशी आक्रमणों के बावजूद भारतीय संस्कृति बिखरी नहीं। दरअसल इसका स्वरूप उस नदी की तरह है जिसमें, छोटी-छोटी उपनदियां मिल जाती हैं। भारतीयता में भी अनेक संस्कृतियां मिली हुई हैं। एक प्रकार से हिंदुस्तानी संस्कृति का स्वरूप सांझा सांस्कृतिक है जिसमें अलग-अलग पद्धतियों का मिलाप हुआ है। इसमें यह सामर्थ्य है कि बाहर से आयी कार्य प्रणाली, तौर तरीके, आचार-विचार को भी अपने भीतर समाती रही है। इस प्रकार यह एक ऐसी सांझा सांस्कृतिक विरासत है जिसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी, बौद्ध धर्म के अलावा भी अन्य धर्मों के लोग सौहार्द के साथ रह रहे हैं। लेकिन इधर के दिनों में देश की इस सांझा विरासत को तोड़ने की कोशिशें बहुत बड़े पैमाने पर हुई है। और इसमें आधुनिक राजनीति के स्वार्थीपन ने सबसे अहम भूमिका अदा की है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के बाद सियासत का सांप्रदायिकता से भरा घृणित चेहरा सामने आने लगा था। सत्ता के लालच में उपजी कट्टरपंथी विचारधारा के कारण हिंदू और मुसलमानों के बीच आपसी कलह शुरू हो गए थे। इस दृष्टि से 6 दिसंबर, 1992 के दिन अयोध्या में घटित बाबरी मस्जिद का विध्वंस हमारे लिए अत्यंत शर्मनाक घटना थी जिसके चलते हिंदू और मुसलमानों के दिलों में नफरत की गहरी भावना निर्माण हुई। सदियों से दोनों धर्मों के लोग आपसी सौहार्दपूर्ण भावना से इकट्ठा रह रहे थे। लेकिन दिलों पर पड़े इन जख्मों के कारण देश की सांझा सांस्कृतिकता पर जोरदार हमला हुआ है। इस संदर्भ में अस्सी के बैठकबाजों के बीच चल रहे संवाद को देखा जा सकता है – "आप खामखाह गालियाँ दे रहे हैं इन्हें।' कांग्रेसी वीरेन्द्र बोले, 'इसके लिए भाजपा को कोई दोष नहीं दे सकता ! देश उसके एजेंडे पर था ही नहीं। उसके एजेंडा पर था राष्ट्रीय स्वाभिमान और गोसंरक्षण ! देश भोंसड़ी के रसातल में जाता है तो जाए, ये अयोध्या और पोखरन जाएँगे!'

'हम न अयोध्या जाएँगे, न पोखरन; अब हम रोम और इटली जाएँगे वकील साहब! आप 'शिथिलौ च सुबद्धौ च' के गिरने की आस लगाए रहिए !' राधेश्याम दूसरे कोने से चिल्लाए !

'और क्या कर सकते हो तुम लोग ?' जब से राजस्थान, दिल्ली, मध्य प्रदेश और मणिपुर में जनता ने डंडा किया है तब से दो फाड़ हो गई है तुम्हारी !...और चुनावी मुद्दा ढूँढ़ रहे हो ? क्यों? अयोध्या ने किसी तरह प्रधानमन्त्री दे दिया और अब ऐसा मुद्दा हो जो बहुमत की सरकार दे दे। देश का कबाड़ा हो जाए लेकिन तुम्हें सरकार जरूर मिले। डूब मरो गड़ही में सालो!' हिकारत से वीरेन्द्र ने बेंच के पीछे थूका और रामवचन की ओर मुखातिब हुए-पांडेजी, आपको बताने की जरूरत नहीं है कि '6 दिसम्बर की अयोध्या की घटना की देन क्या है ? जो मुसलमान नहीं थे या कम थे या जिन्हें अपने मुसलमान होने का बोध नहीं था, वे मुसलमान हो गए रातोंरात। रातोंरात चन्दा करके सारी मस्जिदों का जीर्णोद्धार शुरू कर दिया। देश की सारी मस्जिदों पर लाउडस्पीकर लग गए। मामूली से मामूली टुटही मस्जिद पर भी लाउडस्पीकर लग गया। जिस मस्जिद में कभी नमाज नहीं पढ़ी जाती थी, उससे भोर और रात में अजान सुनाई पड़ने लगी। जो नमाज में नियमित नहीं थे, वे नियमित हो गए।...और सुनिएगा ? गाजीपुर, दिलदार नगर, बक्सर, भभुआ, आजमगढ़-अरे, आप तो उधर के ही हैं, जानते हैं – इस पूरे इलाके में हिन्दू से मुसलमान हुए लोगों की कितनी बड़ी तादाद है ? वे यह भी जानते हैं कि हम एक ही घराने और परिवार के रहे हैं। वे एक जमाने से ठाकुरों-भूमिहारों के यहाँ बिना किसी भेद-भाव के आते-जाते थे। न्योता-हँकारी, तीज-त्योहार साथ मनाते थे। एक ही खटिया-मचिया थी, जिस पर बैठा करते थे। कभी फर्क ही नहीं मालूम पड़ता था दोनों के बीच। लेकिन चीजें बदल गईं उस घटना के बाद ! राधेश्याम पड़वा ! है कोई इसका जवाब तुम्हारे पास?'

'ए राजकिशोर जी !' राधेश्याम ने मदद के लिए आवाज दी राजकिशोर को जो सड़क के उस पार दूसरी दुकान पर खड़े-खड़े नीबू की चाय पी रहे थे।

'अरे ! तुम्हारे पास कोई जवाब ही नहीं है ! राजकिशोर क्या देंगे ? मैं ही दे रहा हूँ !' वीरेन्द्र तैश में राधेश्याम के पास चले गए- 'कम्पटीशन शुरू हो गया है जी.टी. रोड के किनारे मन्दिर, मस्जिद, मजार बनाकर जमीन हड़पने का ! वे भी हड़प रहे हैं लेकिन तुम्हारे मुकाबले में वे कहीं नहीं हैं। मस्जिद खड़ी करने में तो समय लगता है; यहाँ तो एक ईंट या पत्थर फेंका, गेरू या सेनुर पोता, फूल-पत्ती चढ़ाया और माथा टेक दिया-'जै बजरंगबली !' और दिन-दहाड़े दो आदमी ढोलक-झाल लेकर बैठ गए – अखंड हरिकीर्तन! भगवान धरती फोड़कर प्रगट भए हैं अब सरकार चाहे भी तो झाँट नहीं उखाड़ सकती ! समझा ? अयोध्या का फायदा यह हुआ कि चन्दौली से कछवा के बीच जी.टी. रोड के किनारे-किनारे सैकड़ों एकड़ जमीन कब्जिया लिया तुम लोगों ने सेनुर पोत-पोतकर !...और एक फायदा हुआ है – नगर के हर गली-मुहल्ले में दो-दो चार-चार व्यास और मानस-मर्मज्ञ पैदा हो गए हैं भोंसड़ी के। जिन जजमनिया निठल्लों को कल तक पादने का भी सहूर नहीं था, वे घूम-घूम रामकथा कह रहे हैं और एक-एक दिन के पचीस-पचास हजार लूट रहे हैं। ये वाणी के तस्कर चूतिया बना रहे हैं बूढ़ी-विधवाओं और सेठों-मारवाड़ियों को! और सुनोगे ? अभी तक तो लौंडों को बर्बाद कर रहे थे तुम लोग, इधर देख रहा हूँ कि बेटे-पतोह के सताए तमाम रिटायर्ड बूढ़े सबेरे-सबेरे हाफपेंट पहनकर बौद्धिक कर रहे हैं पार्क में ! स्वास्थ्य और परलोक दोनों बना रहे हैं ! और यह भी बताएँ कि ललुआ को झूठे बदनाम किया तुम लोगों ने, चारा घोटाले का अरबों रुपया तो यू.पी. खा गया है गोसंरक्षण के नाम पर !...ए अशोक ! मेरे चाय के पैसे राधेश्याम से ले लेना ! आजकल सरकार हैं ये।"[41] अस्सीवासियों की बातों से स्पष्ट है कि बढ़ते सांप्रदायिकता के कारण कट्टरवादी सोच देश में तेजी से अपने पैर पसार रही है। इस साम्प्रदायिकता का फायदा

स्वार्थी नेताओं को मिल रहा है, लेकिन सामान्य जनता को इसके चलते भारी नुकसान उठाना पड़ रहा है। यह संस्कृति ऐसी है जिससे देश का ताना-बाना बिखर रहा है।

4.8.3 उपभोक्तावादी संस्कृती का उदय

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में उभरे भूमंडलीकरण के प्रभावस्वरूप एक विश्व संस्कृति की मान्यता को बढ़ावा मिल रहा है। पश्चिमी संस्कृति और विशेषकर अमेरिकी कल्चर को सामान्य भारतीय जनता पर बड़ी बेरहमी से थोपने की कोशिशें की जा रही हैं। भारत सांस्कृतिक विविधताओं से भरा हुआ देश है। यहां अनेक धर्मों, वर्णों एवं जातियों के लोग शतकों से एकत्रित रहते आए हैं। वैश्वीकरण के कारण देश में एक नवीन सांस्कृतिकता का उदय हुआ है, यह नयी पद्धति इस विविधता के स्वरुप को नकारती है। इस नवीन जीवन प्रणाली के अंतर्गत देशवासियों को अमेरिकापरस्त बनाने की कोशिशें की जा रही हैं। आज की साम्राज्यवादी नीति के तहत किसी भी आजाद राष्ट्र को अब जबरन उपनिवेश बनाकर रखने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान स्थिति में किसी भी मुल्क को उपनिवेश बनाएं बिना ही आर्थिक रूप से गुलाम बनाया जा सकता है। अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्र तीसरी दुनिया के देशों को इसी प्रकार अपना आर्थिक उपनिवेश बना रहे हैं। उनकी नजर हमारे देश की जनता पर भी बराबर बनी हुई है। वे देश की बड़ी आबादी को उपभोक्ता के रूप में तब्दील करना चाहते हैं। भारतीयों की मानसिकता को देखते हुए उन्हें मालूम है कि यहां के बाजारों में उनके उत्पादों के लिए अपार संभावनाएं मौजूद हैं। उनकी बारीक नजर हमारे बाजारों पर टिकी हुई है। यही वजह है कि अस्सी चौराहे पर रहने वाले लोग जो अब तक आराम की जिंदगी जीते आए थे, जिनकी जिंदगी में मस्ती और फक्कड़पन कूट-कूट कर भरा था, अचानक से यह सब गायब होने लगता है। मस्ती और लापरवाही के स्थान पर चिंता, हताशा, उदासीनता जैसे भाव घर करने लगते हैं। अस्सी निवासी अभावों में रहते हुए भी हंसी-खुशी से जिंदगी जी रहे थे

लेकिन अब वे अभाव उन्हें काफी बड़े प्रतीत होने लगे हैं। अस्सी की जनता देख रही है कि उनके आस-पास के लोगों के जीवन में बड़े परिवर्तन हो रहे हैं और वे हैं कि जहां के तहां पड़े हैं। इस बदलते युग में छोटे-मोटे अभाव भी अब उन्हें खटकने लगते हैं। इसलिए कमरतोड़ मेहनत की जा रही हैै कि इन अभावों को जल्द से जल्द समाप्त कर दिया जाए। यही वजह है कि अस्सी निवासियों में तनाव, निराशा, उकताहट का भाव दिखाई देने लगता है। कहना न होगा कि भूमंडलीकरण के पसरते पैरों ने देश में अमरीकीकरण की भावना को फलने-फूलने का मौका मुहैया किया है। इतिहास साक्षी है कि दुनिया में हमेशा से ही ताकतवर देशों की संस्कृति ने कमजोर देशों की संस्कृतियों पर अपना वर्चस्व स्थापित किया है। 'काशी का अस्सी' उपन्यास इसी सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के वर्चस्व के विरुद्ध खड़ा दिखाई देता है।

उपन्यास में एक प्रसंग अमेरिका से आयी कैथरीन नामक महिला का भी है। कैथरीन बनारस में रहकर वहां की संस्कृति को जानना चाहती है। वह सारनाथ और राम नगर की रामलीला पर किताब भी लिख चुकी है। लेकिन उसके सामने वीजा और आवास का संकट आता है। इसलिए वह यूनिवर्सिटी के किसी प्रोफेसर की मदद से डिप्लोमा कोर्स के लिए एडमिशन कर लेती है, जिससे उसे स्टूडेंट वीजा मिल जाता है। वह अस्सी में रहने वाले लाढेराम शर्मा से विवाह कर लेती है और कैथरीन शर्मा बन जाती है। वह बनारस पर एक किताब लिख रही है और उसमें एक प्रकरण अस्सी पर भी है। जिसके चलते वह अस्सी मोहल्ले के बारे में जानकारी प्राप्त करने हेतु पप्पू के दुकानों में आयी है। बातचीत के दौरान कैथरीन जब कहती है कि 'वाराणसी इज डाइंग' उसकी इस बात से नाराज होकर डॉ. गया सिंह उसे जवाब देते हैं – "बनारस तो मर रहा है लेकिन वहाँ से नहीं जहाँ के आँकड़े देवीजी दे गई है। देवीजी, तुम्हारे पास तो पूरे नगर के हैं लेकिन मेरे पास तो सिर्फ अस्सी के ही हैं। और उन्हीं की बिना पर मैं बता सकता हूँ कि सीढ़ियों पर कितने किलो हेरोइन, कितने किलो ब्राउन शुगर, कितने किलो

चरस और कितने डिब्बे मार्फीन की खपत हुई है, इस बीच , घाटों पर वियाग्रा, पेनाग्रा, नियाग्रा और किन-किन चीजों के पाउडर बिक रहे हैं, पुड़िया में ? दो-दो सौ रुपए एक-एक पुड़िया ! और खरीद कौन रहे हैं – बूढ़े ! चोरी-छुप ! पेंशन की रकम रोटी-दाल में नहीं पुष्टई में जा रही है। और सुनो, गुब्बारे और गुल्ली-डंडा की उमरवाले बच्चे घाट और छत और खिड़कियाँ देख-देखकर जवान हो गए हैं, समय से पहले ही! किस तरह घूरते हैं इसी उमर में सयानी लड़कियों को ! कभी देखा है।'

'यह तो टी.वी. का कमाल है !' दीनबन्धु ने असहमति जाहिर की ! 'नहीं, टी.वी. तो निरोध और कंडोम बाँट रही है, ये तो वह सीख रहे हैं जो देख रहे हैं।'

'लेकिन आप खामखाह नाराज हैं अमरीका से ? जो ढाई-तीन हजार विदेशी हैं गलियों में, उनमें सबसे कम अमरीकी हैं।'

'गलियों में और सबसे कम !' गया सिंह हँसे, 'क्या हो रहा है गलियों में, देखा है कभी ? डालर का धन्धा ! दीनबन्धु, डालर अमरीका की जीभ है। वह शुरू में ऐसे ही किसी मुल्क को चाटना शुरू करता है जैसे गाय बछड़े को चाटती है – प्यार के साथ । बाद में जब चमड़ी छिलने लगती है, खाल उधड़ने लगती है, दर्द शुरू हो जाता है, जीभ पर काँटे उभरते दिखाई पड़ने लगते हैं, जबड़े चलने की आवाज सुनाई पड़ती है तब पता चलता है कि यह जीभ गाय की नहीं, किसी और जानवर की है। और क्या समझते हो, जो देखते-देखते देश का देश चबा गया हो और उसमें भी सोवियत रूस जैसा देश – उसके लिए नगर का मुहल्ला क्या चीज है?

अब यही देखो ! आप लंका से हर शाम आते हो, भाँग खात हो, चाय पीते हो, गपाष्टक करते हो और लौट जाते हो। मगन रहते हो कि वाह रे हम ! लिंग पर ग्लोब उठाकर तान दिया हमने और दुनिया देखती रह गई ! कभी जानने की कोशिश की कि क्या हो रहा है यहाँ ? पता है आपको कि मुहल्ले में कितने मकान खरीदे हैं इन्होंने लोकल आदमियों के नाम से ?

मकान लोकल आदमी के नाम और रह ये रहे हैं ! कितने ऐसे मकान हैं जिनकी मरम्मत के लिए इन्होंने पैसे लगाए हैं खुद रहने के लिए । फर्जी शादियाँ की हैं वीजा के एक्सटेंशन के लिए। बीसों साइबर कैफ खुलवाए हैं घरों में अपने जनसम्पर्क और सुविधाओं के लिए। इसे ही हम समझते हैं ग्लोबलाइजेशन । उन्हें जितनी बार आना-जाना हो-आएँ-जाएँ, जब तक रहना हो, तब तक रहें, लेकिन हम ? है हमारी हैसियत एक बार भी अमेरिका जाने की ? हमारा घर उनका घर है लेकिन उनका घर उन्हीं का घर है, हमारा-तुम्हारा नहीं।...अभी क्या देख रहे हो, थोडे दिन बाद ही ये बोलेंगे – अस्सी जर्जर हो रहा है, ढह रहा है, मर रहा है, हमें दे दो तो नया कर दें – एकदम चमाचम! कल, बनारस को चमकाएँगे, परसों दिल्ली को ठीक करेंगे नरसो पूरे देश को ही गोद ले लेंगे और झुलाएंगे-खेलाएंगे अपनी गोदी में! यह बाद में पता चलेगा कि हम किस की गोद में है जसोदा मैया की कि पूतना की ?"[42] गया सिंह की बात से जो अर्थ ध्वनित होता है उसका मतलब यह है कि बनारस की अपनी पारंपरिक संस्कृति के खत्म होने का कारण अमरीकी वर्चस्ववाद का प्रभाव है। इसी अमरीकी अपसंस्कृति के प्रचार-प्रसार के कारण बनारस की लोकल संस्कृति समाप्त हो रही है।

यह उपन्यास अपने अंतिम अध्याय 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' में लोकगीत की बिरहा शैली के माध्यम से पूंजीवादी सत्ता की पोल खोलने की कोशिश करता है। वर्तमान में वैश्विकरण के कारण उपभोक्तावाद अपने पैर पसार रहा है। इसके सिपाहसलार विश्व भर के बाजारों पर अपना कब्जा कर रहे हैं। पूंजीवादी ताकतें हमारे देश के प्राकृतिक संसाधनों को भी लूट रही है। हमारी चीजें हमी को बेचने का गोरखधंधा जोरों पर है। इस अजब नीति पर एक व्यंग्य द्रष्टव्य है –

"बाहर का पानी गन्दा, बोतल का पानी साफ

बाहर की हवा मैली, डिब्बे की हवा साफ

बाहर की धूप पस्त, अन्दर की मस्त

बाहर की ठण्ड अंडबंड,

भीतर की चाकचौबन्द

नदी की गंगा जहर,

बोतल की पेप्सी लहर"[43]

इससे स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण के आकाओं की नजर इस देश के प्राकृतिक संसाधनों पर भी लगी हुई है। देश की युवाओं को वे अपने जाल में फंसा चुके हैं। इसके साथ ही आने वाली पीढ़ियों पर भी इनकी बुरी नजर लगी हुई है। वे चाहते हैं कि यहां की आने वाली नस्लें भी उनके उत्पाद की खरीदार बन जाए। इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति का फैलाव देश के कोने-कोने तक हो ताकि भविष्य में अपना सामान बेचने में उन्हें कोई दिक्कत का सामना न करना पड़े ।

उपन्यासकार ने उक्त रचना के माध्यम से धर्म के ठेकेदारों पर भी करारा व्यंग्य किया है। 'पांड़े कौन कुमति तोहें लागी' प्रकरण में बनारस के ब्राह्मणों के बदलते चरित्र को रुपायित करने का प्रयास किया गया है। अस्सी का ब्राम्हण समाज अपनी पुराणपंथी-पोंगापंथी सोच के कारण दरिद्र बना हुआ था। दरअसल नवीनीकरण के परिणामस्वरूप जिस उपभोक्तावादी संस्कृति का उदय हुआ है उसने समाज के पारंपरिक ढांचे में सेंध लगा दी है। अस्सी मोहल्ले के मल्लाहों ने अपने घरों में विदेशियों को पेइंग गेस्ट बनाया। विदेशी सैलानियों को सशुल्क अतिथि के रूप में रखने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति में एकदम से सुधार आने लगा। मल्लाहों के जीवन स्तर में जो फर्क आया है उसे देखकर वहां के ब्राह्मण परेशान हैं। लेकिन स्वयं को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप न ढालने के कारण ब्राह्मणों की माली हालत बिगड़ती चली गयी। अंग्रेजों को म्लेच्छ और जानवर कहने वाले धर्मनाथ शास्त्री जैसे ब्राह्मण

गरीबी की मार में पिस रहे हैं। लेकिन समय के साथ शास्त्री जी के विचारों में परिवर्तन आने लगता है। एक विदेशी महिला को अपने घर में पेइंग गेस्ट के रूप में रखना उनकी मजबूरी बन गयी है। धर्मनाथ शास्त्री मादलेन नामक विदेशी नारी को अपने घर का एक कमरा किराए पर देना चाहते हैं। उसके लिए जो कमरा दिया जाता है उसके बगल में ही पूजा घर है जिसमें शंकर भगवान बसे हुए हैं। लेकिन उसे कमरे के साथ अटैच लैट्रीन-बाथरूम चाहिए। इसलिए पूजा घर जिसमें शिव जी की मूर्ति लगी हुई है उसे वहां से हटाने का फैसला किया जाता है। पूजा घर को हटाते हुए शास्त्री जी ने जो तर्क गढ़ा है उस पर जरा गौर फरमाइए – "उनके सपने में जग्गू और रमदेइया नहीं, शिवजी आ रहे हैं-बैल पर सवार, एक हाथ में त्रिशूल–दूसरे में डमरू, गले में लिपटा हुआ सांप, आगे-पीछे नाचते हुए भूत-प्रेत। सीधे कैलाश पर्वत से चले आ रहे हैं डमरू बजाते हुए। उन्हें देखते ही रामगनर से राजघाट के बीच पसरी गंगा लहराकर खड़ी होती है और रिबन की तरह उनकी जटा को लपेट लेती है। औघड़, अड़भंगी, अलमस्त, भँगेड़ी, गंजेडी बाबा ! हर-हर महादेव! वे बैठक के मन्दिर से निकलते हैं और आँगन में अपनी बारात रोककर नन्दी की पीठ से उतर जाते हैं। उनकी आँखें क्रोध से लाल हैं, चेहरा तमतमाया है और माथे पर चाँद सूर्य की तरह दहक रहा है। जैसे वे नहीं बोल रहे हों, बिजली कड़क रही हो- 'बे धरमनाथ ! कहाँ है बे? गधे, सूअर, उल्ले के पट्ठे धरम ! निकल बे कोठरी से' धरमनाथ उस ठंढ में भी पसीने-पसीने। वे कांप रहे थे और उठने की कोशिश ही कर रहे थे कि पेट पर शिवजी की लात और त्रिशूल की नोक छाती पर ! त्रिशूल धँसा जा रहा है पसलियों के बीच – 'चूतिए, मैंने बहुत बर्दाश्त किया रे ! जहाँ मुझे रखा है, वह मन्दिर है कि माचिस ? हिमालय की ऊँचाइयों का पखेरू मैं,समुद्र की गहराइयों का थहैया मैं, अन्तरिक्ष के सन्नाटे का ता-ता थैया मैं! तेरी मजाल कैसे हुई मुझे डिब्बा-डिब्बी में बन्द करने की ? अब तक मैं धतूरे और भाँग के नशे में धुत था। मेरा दम घुट रहा है उस कालकोठरी में। अगर अपनी खैर चाहता है

तो अभी- इसी क्षण मुझे वहाँ से-उस कोंपड़ी से निकाल और ले चल खुले में-खुले आसमान में जहाँ चाँद है, तारे हैं, नक्षत्र-मंडल है, सूर्य है, हवा है, धूप है, बारिश है ! उठ और ले चल !'

शास्त्रीजी पसीने-पसीने ! काँप रहे हैं और हाथ जोड़कर कुछ विनती करना चाहते हैं लेकिन बकार नहीं फूट रही है – 'हे प्रभु ! मैं अधम, कूटिल, खल, कामी, हिम्मत नहीं पड़ रही है मेरी। लोग क्या कहेंगे? कहेंगे कि लोभ ने इसकी मति भ्रष्ट कर दी है।'

'हा-हा-हा-हा ! मूर्ख ! जिन लोगों की बात कर रहा है तू, वे हमारी ही सृष्टि हैं। वे भी और यह पृथ्वी भी। चाहूँ तो अभी- अभी इसी क्षण लोगों को राख बना दूँ और मुहल्ले को श्मशान ! मेरी सुनेगा कि लोगों की ? देख रहा है माथे पर यह आँख ?'

आर्तनाद कर उठे शास्त्रीजी ! घिघियाते हुए बोले- 'प्रभु, डर इसलिए लग रहा है कि वह महिला एक अँगरेजिन है ।'

'रे मतिमन्द ! तूने वेद पढ़ा है ! पुराण पढ़ा है ! शास्त्र पढ़ा है ! सब पढ़ा है फिर भी मूर्ख का मूर्ख ही रह गया ! मैंने प्राणियों की सृष्टि की है, हिन्दुओं, इसाइयों, मुसलमानों की नहीं। ये तूने बनाए होंगे। जा, समझा मुहल्ले को । अब उठ और ले चल।'

'आप का आदेश मेरे सिर माथे!' शास्त्रीजी ने माथा टेक दिया – 'लेकिन प्रभु ! मुझे समय दें दो-चार दिन का।'

'एवमस्तु!' शिवजी ने कहा और अन्तर्ध्यान हो गए !"[44] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि कैसे पूंजी के आगे धर्म और संस्कृति की धज्जियां उड़ रही हैं। उनकी पत्नी भी अपने पति की इस हरकत को छिनारपने से जोड़कर देखती है। धर्मनाथ शास्त्री की पत्नी एक विदेशी नारी को अपने घर में रखने से डरती है। क्योंकि उसे लगता कि इससे उसके पति का सामाजिक पतन हो जाएगा। कहने का मतलब साफ है कि पड़ाइन को अपने धर्म परायण पति पर बिल्कुल विश्वास नहीं है। उनकी आपसी बातचीत का एक अंश देखें – "पड़ाइन कुछ सोच में

पड़ गईं। सन्देह से पण्डित को देखती रहीं। थोड़ी देर बाद बोलीं 'तो किसके घर में रख रहे हो उसे?' 'इसी घर में? और कहाँ ? इतना सुनना था कि पड़ाइन सचमुच पागल हो गईं, वे पण्डित को घूरती रहीं, घूरती रहीं कि तमतमाया चेहरा लिए खड़ी हो गईं-फुफकारती हुई बोली 'अरे बेशरम ! बेहया ! थूक कर चाटने वाले कल तक जानवर कह रहे थे कि साले नहाते-धोते नहीं, झाड़ा फिरते हैं तो कागज में पोंछकर फेंक देते हैं। गो माँस खाते है, राक्षस हैं।...और सुनो, नुक्कड़वाले दुबे का तो बड़ा मकान था ! वे जब एक अँगरेज को रखना चाहते थे तो क्यों आसमान सिर पर उठाया था तुमने ? और वह दाढ़ीवाला अँगरेज ! वह तो बाल-बच्चेवाला भी था। बीवी भी थी उसके साथ उपध्याजी ने जब उसे कोठरी उठानी चाही किराए पर, तो क्यों बलवा मचाया? तब मुहल्ले के लड़के-लड़कियाँ खराब हो रहे थे, धरम भ्रष्ट हो रहा था और अब?"[45]

कहना न होगा कि नवीन भूमंडलीकृत व्यवस्था ने भारतीय पारंपरिक संरचना को बदलने के लिए विवश किया है। वर्तमान समय में पुरानी व्यवस्थाएं कमजोर पड़ने लगी हैं। सवर्ण जातियों के लोग भी समझने लगे हैं कि अब पारंपरिक रीति से उनका काम नहीं चलने वाला। इसलिए वे अपनी इन मान्यताओं को त्यागकर नवीन संस्कृति में स्वयं को ढालने के लिए तैयार हैं।

4.9 मिथकीय प्रयोग

मिथक मनुष्य की वह सृजनात्मक शक्ति है जिसके द्वारा मानवीय सत्यों, संवेदनाओं एवं मूल्यों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। मिथक किसी प्राचीन कथा पर आधारित होते हैं किंतु वह केवल पुराकालीन मान्यताओं तक सीमित नहीं होते बल्कि युगीन संदर्भों से जुड़कर नवीन मान्यताओं और मूल्यों को अपने में समाहित करते हैं। ऐसा भी माना जाता है कि

मिथक परिकल्पना पर आधारित हैं। इसके बावजूद मिथक मनुष्य के मूल्यों पर आधारित प्रकल्पना थी जिसके अंतर्गत सामाजिका सांस्कृतिक व्यवस्था को व्यवस्थित करना था। इन पौराणिक कथाओं की विशेषता यह है कि ये मूल्यहीन और आदर्शविहीन नहीं होतीं और ये लोक विश्वास से पनपती हैं। इनका निर्माण सामाजिक कार्य प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने हेतु किया गया था। पुरातनकाल में स्थापित किये गये धार्मिक पौराणिकी का मंतव्य स्वर्ग तथा नरक का लोभ, भय दिखाकर लोगों को विसंगतियों से दूर रखना था।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में कहा गया है कि मिथक आदिम संस्कृति का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण उपादान है, यह विश्वास को अभिव्यक्त विकसित और संहिताबद्ध करता है, यह नैतिकता की सुरक्षा करता है, उसे दृढ़ करता है, यह शास्त्र विधि धार्मिक अनुष्ठान की सक्षमता को प्रमाणित करते हुए मनुष्य के निर्देशन के लिए व्यावहारिक नियमों का निर्धारण करता है। इस प्रकार यह मानव सभ्यता के लिए अत्यावश्यक उपादान है। यह केवल निरर्थक कथा ही नहीं अपितु एक ठोस क्रिया व्यापार या कलात्मक बिम्ब-विधान की प्रस्तुति ही नहीं करता बल्कि आदिम विश्वासों और नैतिक विवेक का एक व्यावहारिक दस्तावेज है। इस प्रकार मिथक केवल दिमागी उपज या काल्पनिक चित्रों को व्यक्त करने का माध्यम नहीं है, वरन् यह मानव के विश्वासों, उसकी नैतिकताओं के साक्षी हैं। इस प्रकार मिथक मनुष्य संस्कृति का आवश्यक माध्यम है और यह सिर्फ काल्पनिक कथा न होकर, जीवन के यथार्थ अथवा सत्यता का अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण तत्व है।

4.9.1 पात्रों का मिथकीय स्वरूप

काशीनाथ सिंह ने अपने कथा वाड़मय में पौराणिक संदर्भों का प्रयोग कर अपनी रचनात्मकता को नया आयाम दिया है। आपकी साहित्यिक रचना 'उपसंहार' मिथकीय चेतना की कृति है।

प्रस्तुत कलाकृति का कथानक भगवान श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित है। इसमें उनके जीवनकाल के अंतिम दिनों का मार्मिक चित्रिण है। महाभारत के युद्ध की समाप्ति के बाद कृष्ण द्वारका नगरी लौट कर आए थे। इस युद्ध में वे विजयी हुए लेकिन जिस प्रकार के आदर्श राज्य की उन्होंने परिकल्पना की थी वैसा राज्य उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। महाभारत की लड़ाई का प्रमुख कारण कौरवों का अत्याचार एवं अनीतिपूर्ण शासन व्यवस्था को बताया गया है। इस अन्याय को मिटाने के लिए कुरुक्षेत्र में कौरवों और पांडवों के बीच जंग छिड़ गई और बहुत बड़े पैमाने पर नरसंहार किया गया। इस संहार में कृष्ण ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। इस लड़ाई में अनेक वीर योद्धा मारे गए थे। लेकिन यह सब घटित होने के बाद कृष्ण के मन में गहरे पश्चाताप की भावना उपजी है। दूसरों की नजर में स्वयं को बड़ा साबित करने के लिए उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर जनसंहार करवाया था। यह बात उन्हें भीतर ही भीतर सालती है। लेकिन वे जिस सुख और शांति की कामना कर रहे थे उसे भी प्राप्त नहीं कर सके। इसके उलट उनके भीतर निराशा का भाव दिखलाई पड़ता है।

इसमें जिस कृष्ण की चर्चा लेखक ने की है वह कोई अलौकिक शक्ति संपन्न ईश्वर नहीं है। बल्कि यहां पर वे एक साधारण मनुष्य के रूप में आते हैं जो जीवन में आने वाली विभिन्न परेशानियों के कारण चिंताग्रस्त हैं। दरअसल पौराणिक कथा को आधार बनाकर एक सामान्य मनुष्य की व्यथा इस उपन्यास में व्यक्त हुई है। कृष्ण ने जरासंध के आक्रमणों से परेशान होकर मथुरा छोड़ने का फैसला लिया था और यादव कुल को लेकर उन्होंने द्वारका नगरी की स्थापना की थी। वे चाहते थे कि यह नगर इंद्र की अमरावती के समान सुंदर हो। उनके लिए यह नगर किसी सपने की तरह था। वे एक ऐसा गणराज्य स्थापन करना चाहते थे जिसमें सारे कूल मिलकर रहे, सब समान रूप से संपन्न और सुखी रहे, ऊंच-नीच, छोटे-बड़े की भावना न रहे, सबको समस्त सुविधाएं उपलब्ध कराई जाए तथा यहां के सभी निवासी निर्भय और

निशंक विचरण करें। इसलिए कृष्ण अपनी प्रजा के बीच गए और उन्होंने लोगों को जानने-समझने की चेष्टा की। उनकी जरूरतों, इच्छाओं, आकांक्षाओं से वे परिचित होना चाहते थे। उन्होंने द्वारका नगरी में स्थिर होने के बाद क्रूर, अहंकारी, बर्बर दानवों के सफाई का लक्ष्य निर्धारित कर लिया और इसके लिए वे आर्यावर्त के दूसरे छोर प्राग्ज्योतिषपुर तक गए। उनके इस लोकहितवादी कार्य ने इस क्षेत्र को वैभवशाली और समृद्ध बनाया। उन्हें प्रतिष्ठा दिलाई और उन्हें ईश्वर की गरिमा भी प्राप्त हुई। वे समस्त विश्व को एक आदर्श संसार के रूप में स्थापित करने हेतु प्रयत्नशील थे।

द्रष्टव्य है कि कृष्ण की लोक को लेकर व्यग्रता उपन्यास में व्यक्त हुई है। द्वारिका में जिस प्रकार के हालात बन रहे है इससे वे बेहद खिन्न और दुखी दिखाई पड़ते हैं। राज्य द्वारा आयोजित एक सभा में वे प्राग्ज्योतिषपुर से लाई गई युवतियों के संबंध में कहते हैं – "जहां तक प्राग्ज्योतिषपुर की युवतियों का प्रश्न है, आपमें से कई लोग उस युद्ध में मेरे साथ थे। वे मुक्त होने के बाद बेसहारा हो गई थीं। कहां जातीं? न उनके मां-बाप पूछने वाले थे न सास-ससुर। मैंने आप सबसे बात करके, सबकी सलाह से द्वारका की नागरिकता दी। वे यहां शरणार्थी हैं। मनुष्यता का भी यही कर्तव्य था कि उन्हें पशुओं की तरह जंगल झाड़ में न छोड़ें। अब तो वे शरणार्थी नहीं, हमारे-आपके जैसे नागरिक हैं। द्वारका पर उनका वैसा ही हक है, जैसे हमारा। उन्हें बाहरी समझना भूल है। जैसे हमारी औरतें घर में काम-काज देखती हैं, गायें चराती हैं, खेत-बारी देखती हैं, अपना कमाती-खाती हैं, वैसे ही वे भी करती हैं। अपने लिए किसी का मुंह नहीं देखतीं। अच्छे-बुरे लोग हर जगह होते हैं और उनमें भी होंगे। और हम उन्हें ही दोष क्यों दें, अपने बेटों को क्यों न दें?

रही बात मदिरापान करके बहकने, गाली-गलौज करने, मारपीट करने की, तो हम यह कर सकते हैं कि अपने घरों में मदिरा तैयार करना रोकें, भट्ठियां न जलने दें, मादक वस्तुओं से

घरों को बचाएं। हां, समुद्र पार से जो मदिरा के पीपे के पीपे चोरी-छिपे आते हैं उनके लिए मैं युवराज से बात करूंगा। उन पर भी अंकुश लगाना जरूरी है।"[46] उनके इस कथन से साफ है कि वे अपनी प्रजा की मुसीबतों को लेकर चिन्तित हैं। दरअसल यह चिंताएं वर्तमान में भी मौजूद हैं। देश के ताकतवर नेताओं को अपनी आंखें खोलकर देखना चाहिए कि भगवान कृष्ण अपनी प्रजा को लेकर कितने व्याकुल रहते थे। जनसाधारण की जायज़ समस्याओं को लेकर वे विचार-विमर्श करते थे। जनता की भलाई के लिए कदम उठाना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। आज हम देख रहे हैं कि हमारे बहुत से नेतागण अपने नीजि स्वार्थों में इस तरह लिप्त हैं कि उन्हें जनता जनार्दन की बिल्कुल परवाह नहीं है। बहुत से राजनेता अपने स्वार्थ साधन में लगे हुए हैं। यही वजह है कि जिस तरह का विकास देश में अपेक्षित था वह नहीं हो सका। अगर भारतीय नेतृवर्ग और उच्च पदस्थ प्रशासनिक अधिकारी अपनी जिम्मेदारियों और कर्तव्यों को ईमानदारी के साथ निभाते तो अब तक अनेक बाधाओं को हम पार कर सकते थे।

इसमें बलराम का चरित्र भी विशेष महत्व का है। कृष्ण और बलराम के बीच हुए संवाद से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण की कारगुज़ारियों का विपक्ष अगर कोई रचता है तो वह बलराम ही हैं। महाभारत के युद्ध की मीमांसा करते हुए कृष्ण पांडवों का पक्ष लेते हैं और यह कहने का प्रयास करते हैं कि कैसे पांडव न्याय के साथ थे और कौरवों का पक्ष अन्याय का था। लेकिन बलराम उनकी इस बात से सहमत नहीं होते, वह कृष्ण से कहते हैं कि – "किशन, जाने क्यों मुझे लग रहा है कि अगर तुमने ह्रदय से चाहा होता, तो यह टल सकता था! दोनों सम्मान करते हैं तुम्हारा।"[47] लेकिन कृष्ण उन्हें बताते हैं कि क्यों यह युद्ध अटल था। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में महाभारत का समर हुआ, इसमें अपार मनुष्य हानि हुई। कृष्ण की नारायणी सेना कौरवों की ओर से लड़ी थी। रणभूमि में अनेक शूरवीर योद्धा मारे गए। कृष्ण इस बात से भी

दुखी हैं। युद्ध का दिन खत्म हो जाने के बाद वे रात के समय मशालें लेकर लाशों के ढेर के बीच से चलते और वीरगति प्राप्त कर चुके यादव वीरों को ढूंढते रहते। वे स्वयं उनकी चिताएं सजाते तथा घायलों को शिविरों में भेजते थे। इस तरह से वे इस रण में शामिल हैं और अपनी ही सेना को मरते हुए भी देख रहे हैं। इस संदर्भ में उपन्यासकार लिखते हैं – "इस बात को उनसे ज्यादा सही तरीके से कौन समझ सकता था कि मार भी वही रहे हैं और मर भी वही रहे हैं।"[48]

इस आख्यायिका में सबसे प्रमुख प्रश्न यह उभर कर आता है कि आखिर इस महाभयंकर समर के बाद प्राप्ति क्या हुई? क्योंकि वास्तविकता यह है कि जंग में जो पराभूत होता है उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है लेकिन जो विजेता होता है क्या वह बेहतर स्थिति में रहता है? महाभारत के रण के उपरांत पांडवों के राज्य के संदर्भ में आ रही खबरें भी चिंताजनक थीं। हस्तिनापुर के महाराज युधिष्ठिर अक्सर कुछ तपस्वियों को लेकर बैठे रहते थे और ब्रह्म, जीव, माया के संदर्भ में बहस करते रहते थे। महायुद्ध के कारण धरती जलकर राख हुई थी, नदियां सूख गई थीं, जंगल बंजर हुए थे। ऐसे विकट समय में युधिष्ठिर राज्य की समस्याओं को छोड़कर फिजूल की बातों में लगे रहते थे। इस लड़ाई के बाद जो बस्तियां रह गई थी, उनमें महामारी फैल रही थी, राज्य में लोग मर रहे थे लेकिन इन विपदाओं को लेकर महाराज बिल्कुल चिन्तित नहीं थे और अपनी जिम्मेदारियों से भाग रहे थे। युधिष्ठिर के संबंध में बलराम कृष्ण को जानकारी देते है – "तुमने उन्हें सलाह दी थी कि राज्याभिषेक के बाद पहला काम कीजिए कि पितामह के पास चले जाइए और राजनीति और राज्य संचालन सीख आइए। वे चंद घड़ियों के मेहमान हैं, गए भी थे और वहां से यही सीख कर आए कि जब राज्य मुसीबत में हो तो भाग खड़े हो। ...तो सुनो जब युद्ध के बाद महामारी शुरू ही हुई थी कि उन्होंने भाइयों की सभा बुलाई और बोले – मैं कितना सौभाग्यशाली हूं कि मुझे तुम

लोगों जैसे भाई मिले हैं और यह कितना अच्छा संयोग है कि आकाश में बादल नहीं है, बारिश की आशंका नहीं है, मौसम सुहावना है, हवा में नमी नहीं है। मैं कल कैलास मानसरोवर की यात्रा पर निकलना चाहता हूं। यह सुनकर सभी भाई सन्न रह गए। राज्य में महामारी फैल रही है, लोग मर रहे हैं। गांव के गांव अपना राज्य छोड़कर दूसरे राज्य में भाग रहे हैं। यह आपके लिए सुयोग है?' भीम क्रोध में बोला।

देखो भीम, मरना-जीना तो विधि के हाथ है। एक दिन हमें भी मरना है। मैं यहां रहूं या कैलास, जिन्हें मरना है, वह मरेंगे ही।

नहीं लोगों को मरने से रोका जा सकता है। आपका काम है कि आप अच्छा से अच्छा वैद्य भिजवाइए, औषधि भिजवाइए, साफ सफाई का बंदोबस्त कीजिए उनके बीच जाइए उन्हें भरोसा दीजिए। अपने बीच राजा को देखकर उनका मनोबल बढ़ेगा। यही राज्यधर्म है। सहदेव ने कहा।

सुनो सहदेव! गदाधारी भीम और धनुर्धारी अर्जुन के रहते मुझे कभी किसी बात की चिंता नहीं हुई। अर्जुन ने झुंझला कर कहा – महामारी में गदा और धनुष का क्या काम?

इस बात को आप क्यों नहीं समझते?

युधिष्ठिर चुप हो गए और देर तक चुप रहे। फिर बोले – मुझे अपने भाइयों से ऐसी उम्मीद नहीं थी।"[49]

दरअसल युधिष्ठिर राज्य के सिंहासन पर बैठने के बाद अपनी जिम्मेदारियों से भागने की कोशिश करते हैं। आज का सियासी माहौल भी इससे भिन्न नहीं है। वर्तमान दौर में भी ऐसे बहुतेरे नेताओं से हम परिचित हैं जो जनता के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाने के बजाए उन कर्तव्यों से पलायन कर जाते हैं। यह उपन्यास ऐसे सरगनाओं के लिए सबक है कि जनता का नेतृत्व वही व्यक्ति कर सकता है जो अपनी प्रजा के हित के लिए सदैव तत्पर रहे। देश में

ऐसे राजनयिकों की संख्या बहुत बड़ी है जो चुनाव में येनकेन प्रकारेण जीत हासिल कर लेते हैं लेकिन अपने उत्तरदायित्व को ठीक से नहीं निभाते।

महाभारत के संग्राम में महान योद्धाओं को जिस छल-कपट से मारा गया था उसे अधर्म ही कहा जा सकता था। इस युद्ध में भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य, दुर्योधन जैसे वीर योद्धा कृष्ण के कुटील कारस्थान के चलते मारे गए थे। भीम ने दुर्योधन को भी इसी कुटिलता से परास्त किया था। कृष्ण की इन कारगुजारियों से खफा बलराम गुस्से में कहते हैं – "तुम अधर्म की नींव पर धर्म की जर्जर इमारत खड़ी कर रहे थे। कहकर गए थे द्वारका से कि यह अधर्म के विरुद्ध धर्मयुद्ध है, धर्म की स्थापना करनी है। किस धर्म को स्थापित किया? न्याय को? ईमानदारी को? भाईचारे को? प्रेम को? किसको? प्रेमयोग का ज्ञान देते घूम रहे हो और दादा को पोते से, मित्र को मित्र से, गुरु को शिष्य से और भाई को भाई से मरवा रहे हो! पूरे आर्यावर्त में घूम कर देखा मैंने, ब्राह्मणों, महिलाओं और बच्चों को छोड़कर कोई नहीं बचा है। इसे किस धर्म की स्थापना कहेंगे?...

हां, इस युद्ध के बाद इतना जरूर हुआ कि जो पहले दबे स्वर में तुम्हें 'अवतार' या 'ईश्वर' कहते थे वे खुलकर स्तुति गान करने लगे। और गाने वाले थे ही कौन वही वेद पाठी ब्राह्मण, तपस्वी, ऋषि मुनि। यज्ञ, हवन, पूजा-पाठ करने वाले ब्राह्मण। तुम्हें भी अच्छा लगता था और मुझे भी खुशी होती थी कि चलो मेरा छोटा भाई ईश्वर है, मैं ईश्वर का बड़ा भाई हूं। लेकिन एक प्रश्न मेरे मन में बराबर उठता है कि ईश्वर का काम केवल संहार करना है? निरर्थक, निरुद्देश्य, निस्वार्थ जनसंहार?"[50] बलराम की बातें सुनने के बाद उनका मन मसोसकर रह जाता है। उन्हें लगता है कि युधिष्ठिर जैसे लापरवाह और अयोग्य व्यक्ति को हस्तिनापुर की राजगद्दी पर बिठाने का क्या मतलब था? वे सोचते हैं कि आखिर दुर्योधन में क्या बुराई थी? उसका दोष इतना ही था कि वह पांडव कुल से नफरत करता था, बाकी प्रजा को उससे कोई

शिकायत नहीं थी। अगर अठारह अक्षौहिणी वीर योद्धाओं के संहार के बाद इसी प्रकार का राज्य हासिल करना था तो क्यों करवाया? वे सोचते हैं कि यह सब उन्होंने इसलिए करवाया कि वे साबित करना चाहते थे कि वे भगवान विष्णु के अवतार हैं। इस समय मारे गए वीर योद्धा आर्यावर्त के गौरव थे। एक तरह से ये सारे युद्धवीर निरर्थक ही मारे गए और जिस तरह से मारे गए वह युद्ध नहीं बल्कि हत्या थी। यह एक ऐसा नरसंहार था जिसके पीछे कोई तर्क नहीं था। कृष्ण को अब लग रहा था कि यह सब रोका जा सकता था। लेकिन जब वे इस पर पुनर्विचार करते हैं तो उन्हें लगता है कि यह लड़ाई नहीं रोकी जा सकती थी और इसे रोकना उचित भी नहीं था। क्योंकि हस्तिनापुर का राजा अंधा था, बेटा जो भावी नरेश होने का सपना पाले था बहरा था और मंत्रिपरिषद गूंगी थी। इस तरह उनके अंतर्मन में युद्ध को लेकर द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हुई है। वे अंतर्द्वंद्व से पीड़ित दिखाई देते हैं। एक ओर उन्हें लगता है कि यह महासंग्राम जरूरी था तो दूसरी ओर इसकी विभीषिका को देखकर उनका अंतःकरण पीड़ा से भर जाता है। अतः यह आख्यान उत्तर महाभारत काल में कृष्ण के मन में चल रहे अंतर्द्वंद्व को चित्रित करता है। कृष्ण को यह प्रश्न बराबर सालता रहता है कि न्याय के समर्थन के बहाने इतना बड़ा मानवसंहार करवाया गया क्या यह वांछनीय था? एक तरह से उनका अंतर्मन युद्ध की विभीषिका से पीड़ित है।

इसमें कृष्ण का लोक कल्याणकारी रूप भी सामने आता है। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद द्वारिका की स्थिति उत्तरोत्तर खराब हो चली थी। यहां के निवासियों के घरों में महुए की शराब बनने लगी थी। वारुणी पी जा रही थी। इस जंग में जिन बच्चों के पिता मारे गए थे वे बच्चे अब बड़े हो गए थे और गुरुकुल और अखाड़ों में उनकी कोई रुचि नहीं रह गई थी। गुरुकुल सुनसान पड़े रहते थे। एक और समस्या कृष्ण को परेशान कर रही थी और वह थी उन्होंने प्राग्ज्योतिषपुर में भौमासुर की कैद से सोलह हजार किशोरियों को मुक्त कराया था।

उन्हें मुक्त कराने के बाद वे द्वारका लेकर आए थे और समुद्र के किनारे रावटियां खड़ी कर उनका पुनर्वास किया था। लेकिन अब यादवों के लड़के शाम ढलते ही रावटियों का चक्कर लगाते थे और वहां की लड़कियों के साथ काम क्रीड़ा में लिप्त थे।

इस प्रकार द्वारका नगरी में हालात अत्यंत विकट हो चुके थे। जिस युवावर्ग पर राज्य के भविष्य का दारोमदार टिका हुआ है वे मूल्यविहीन हो रहे थे। नवयुवक शराब पीने में मग्न थे और गुरुकुलों में जाने में भी उनमें कोई रुचि नहीं रह गई थी। उनका नदी किनारे बनी रावटियों में जाकर लड़कियों के साथ काम क्रीड़ा में लिप्त होना दर्शाता है कि वे किस प्रकार गलत मार्ग पर जा रहे थे। इससे साफ जाहिर है कि आने वाले समय में इस जम्बूद्वीप का भविष्य अंधकार में है। प्रकारांतर से यह साहित्य कृति आधुनिक समाज को सचेत करती है कि हमें इस बात को लेकर सतर्कता बरतनी होगी कि हमारी युवा पीढ़ी को शिक्षित और संस्कारशील बनाना बेहद ज़रूरी है ताकि वे उज्ज्वल भवितव्य की ओर अग्रसर हो। रचनाकार ने इस उपन्यास के माध्यम से आज के युवाओं के गंभीर प्रश्नों से हमें रूबरू कराया है।

प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णदेव के दुविधाग्रस्त मनःस्थिति का परिचय मिलता है। इसके अलावा उनके लोकरंजनकारी, लोक कल्याणकारी, लोकरक्षक रूप से भी रूबरू हुआ जा सकता है। वे जात-पात, वर्ण व्यवस्था आदि में विश्वास नहीं करते तथा मनुष्य के समानता की भावना के पक्षधर हैं। एक जगह पर वे कहते हैं – "मैंने उन जाति अभिमानी, पाखंडी, दंभी क्षत्रियों के दर्प को विदीर्ण करते हुए कह दिया था कि यह अनामंत्रित ग्वाला अपनी रुक्मिणी को लिए जा रहा है जो करना हो कर लो! लेकिन असल बात क्षत्रिय-यादवों की नहीं है एक प्रश्न मेरे मन में बराबर गूंजता रहा है तब भी और अब भी कि क्या मनुष्य का मनुष्य होना ही काफी नहीं है? फिर उसे वर्णों में क्यों बांटा गया? क्यों कहा गया कि यह क्षत्रिय है, यह ब्राह्मण है, यह

वैश्य, यह प शूद्र।... दाऊ मैंने अब तक जो किया, कुछ भी गलत नहीं किया। यादव, ग्वाला, चरवाहा, रास रचैया, बंसी बजैया सुनते सुनते-सुनते थक चुका था मैं, मैंने तय कर लिया था कि जब मैं गौवें चरा सकता हूं तो तुम जैसे पशुओं को भी चरा सकता हूं।

और रही बात ईश्वर की तो मैं ईश्वर कहो या वासुदेव होना चाहता था क्योंकि उसकी कोई जाति नहीं होती, वर्ण नहीं होता, गोत्र नहीं होता, अकेला वही है जो वर्णाश्रमों के बंधनों से मुक्त है।"[51] कृष्ण की इन बातों से स्पष्ट है कि वे वर्णाश्रम पद्धति में विश्वास नहीं करते। मनुष्य को जातियों और वर्णों में बांटने के कारण उसका बड़ा नुकसान हुआ है।

4.9.2 पौराणिक संदर्भों का प्रयोग

आधुनिकतम काल में जात-पात संबंधी समस्या एक विचारणीय मुद्दा बना हुआ है। आज भी बहुतायत संख्या में लोग वर्णाश्रम व्यवस्था में यकीन करते हैं। भारतीय जनमानस में जातीय संस्कार इतने रूढ़ हो चुके हैं कि इन जड़ता की क़ैद से हमारा समाज पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाया है। जातीय व्यवस्था में गहरे विश्वास के कारण पिछड़ी जातियों का उचित रूप में विकास नहीं हो पाया। देश के सर्वांगीण विकास में वर्ण व्यवस्था का निर्धारण किसी अवरोधक के रूप में काम करता है। इतिहास गवाह है कि अपने जातीय दर्प के चलते ऊंची जातियों के लोगों ने पिछड़ी जातियों पर अनेक सितम ढाए हैं। इस उपन्यास में वर्णित कृष्ण इस अमानवीयता के कारण उपजी समस्याओं से भली-भांति परिचित हैं। इसलिए वे इस विधान को समाप्त करने के पक्षधर हैं।

'काशी का अस्सी' में भी उपन्यासकार ने मिथकीय पात्रों का सहारा लिया है। वर्तमान युगीन राजनीतिक विडंबनाओं को दर्शाने के लिए वे कथित शैली का बखूबी से प्रयोग करते हैं।

उदाहरण के लिए – "त्रेता में, जिन दिनों ब्रह्मदत्त काशी में राज्य कर रहे थे, इसी अस्सी घाट पर पक्षियों की एक सभा हुई ! कोई बुजुर्ग पक्षी बोला-'बिरादरो !'

मनुष्यों में राजा है, पशुओं में भी राजा है, मछलियों में भी राजा है, हम लोगों में कोई राजा नहीं है। राजा के बिना रहना अच्छा नहीं। सोच-विचार कर हमें भी एक राजा चुनना चाहिए।

ध्यान से देखते हुए पक्षियों की नजर एक उल्लू पर गई। वह बड़ा ही धीर, गम्भीर, प्रभावशाली और दबदबेवाला लगा। सबने कहा-यही हमारा राजा हो, भई, खाँटी जनतन्त्र था उन दिनों। बुजुर्ग ने तीन बार पुकार लगाई कि जिस किसी को आपत्ति हो, बोले । तीसरी पुकार से पहले ही एक कौवा काँव-काँव कर उठा – 'मान्यवर, मुझे आपत्ति है।'

'कहो, क्या आपत्ति है ?' पक्षियों ने एक स्वर से पूछा।

कौवा बोला –'आप उसे राजा चुनने और बधाइयाँ देने से पहले यह सोच लें कि जब इतनी खुशी का समाचार सुनने पर इसका चेहरा ऐसा है, तो क्रोध करेगा तब कैसा होगा ?'

इसके बाद तो उल्लू ने कौवे को दौड़ा लिया। मित्रो, त्रेता के जमाने से उड़ते हुए इस कलिकाल में दोनों भोंसड़ी के दिल्ली पहुँच रहे हैं।"[52]

इसी प्रकार का एक और उदाहरण प्रस्तुत है – "मित्रो, मूलकथा आगे बढ़े, इसके पहले एक छोटा सा क्षेपक ! काशी के मुर्दाकाल के दिनों का। भादों की अँधियारी रात ! ऐसी रात में जो कुछ हो सकता था, सब हो रहा था यानी घनघोर पानी बरस रहा था, बिजली कड़क रही थी, हवाएँ गुम थीं, चिता जल चुकी थी लेकिन मुर्दा लानेवाले बाप, चाचा, भाई, नातेदार-रिश्तेदार लौट नहीं सके थे और अँधेरे आर बारिश में ही फँसकर रह गए थे-घाट पर ! कुछ बुक्की मारे सहम-सहमे बैठे थे और कुछ चारों दिशाओं में खड़े-खड़े पहरे दे रहे थे ! जंगलों में हर तरफ से जानवरों की डरावनी आवाजें आ रही थीं। जब रात आधी चली गई तो उन्होंने शिव और उनकी बारात को चिता के चारों ओर नाचते-गाते, उछलते-कूदते और खुशियाँ मनाते देखा। शिव

उनके कुलदेवता थे और उन्हीं के कुल का एक बेटा मरा था जिसके लिए वे तो नाच-गा रहे थे और ये थे कि रोए जा रहे थे ! कहते हैं, इन्हीं रोनेवालों में अस्सी के सन्तों के पुरखे भी थे। यह दृश्य देखकर उनकी आँखें खुलीं। ज्ञान हुआ कि जिन्दगी हाय-तोबा मचाने के लिए नहीं, मस्त रहने के लिए मिली है। जीने के लिए गंगा का पानी भले हो, पीने की चीज तो आँखों के आँसू ही हैं।

अब आइए मूलकथा पर !...तो काशी महाश्मशान था और डोम यहाँ का राजा था ! और राजा भी ऐसा-वैसा नहीं, उसकी हैसियत ऐसी थी कि हरिश्चन्द्र जैसे राजा को भी खरीदकर अपना नौकर रख सके ! उसके सिवा यहाँ रहे होंगे तो निषाद, केवट और घाट कमानेवाले पंडे। आगे चलकर जब काशी तीर्थ और धर्म और मोक्ष का क्षेत्र घोषित हुआ तो इसकी महिमा ने देश-भर के राजाओं-सामन्तों का ध्यान आकृष्ट किया।"[53]

भारत वर्ष पर पुरातन काल में शकों-हूणों से लेकर आधुनिक काल में अंग्रेजों तक के आक्रमण हुए हैं। यही वजह है कि भारतीय संस्कृति विभिन्न आचार-विचारों वाले लोगों से प्रभावित हुई है। लेकिन इसकी यह विशेषता रही है कि इन तमाम हमलों को झेलने के बावजूद यह टूट नहीं गयी क्योंकि इसमें कुछ ऐसे तत्व हैं जो इसे टूटने से बचाने में कामयाब रहे हैं। लेकिन आज के समय में हमारी सांस्कृतिकता पर जो हमले हो रहे हैं वह ज्यादा आक्रमक और घातक है। यह आक्रमणकारी और कोई नहीं बल्कि अमेरिका जैसा ताकतवर देश है। वर्तमान दौर में हमारी सोच, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में जो हमले हो रहे हैं उससे बचना इतना आसान नहीं है। रचनाकार इन खतरों को पहचानता है और पौराणिक संदर्भों का सहारा लेकर बड़ी ही रोचक शैली में अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है। इस संदर्भ में वे पुराकाल में वाराणसी में हुए ब्रह्मदत्त के पुत्र कुमार की कथा कहते हैं। कुमार को बचपन से मांस-भक्षण की आदत थी। उसका रसोइया नियम से प्रतिदिन उसके लिए मांस

लाता, पकाता और खिलाया करता। एक दिन कुमार के हिस्से का गोश्त उसी के पालतू कुत्ते खा गए। रसोइया परेशान हुआ और भागा-भागा श्मशान गया। उसने मरा हुआ मुर्दा देखा और चुपके से उसकी जाँघ का मांस काट लाया, उसे पकाया और कुमार को परोस दिया। उसने जैसे ही पके मांस का टुकड़ा जीभ पर रखा वह दंग रह गया – इतना सुरस, इतना मीठा और स्वादिष्ट गोश्त उसे अब तक क्यों नहीं खिलाया गया। रसोइया तलब किया गया। कुमार ने दुनिया भर की पूछ-ताछ की उससे कहा कि यही मांस पहले क्यों नहीं पकाते थे? रसोइए ने डरकर सारी बात ज्यों-की-त्यों बता दी। इस बात से वह बहुत खुश। बोला – 'आगे से मेरे लिए ऐसा ही मांस पकाया कर। जो मेरे लिए लाया करता था, उसे स्वयं खाया कर !' रसोइया की मुश्किल यह थी कि रोज-रोज वह कहां से मनुष्य का मांस लेकर आए ? उसके बाद कारागार में बन्दियों को मारकर उनका मांस कुमार को खिलाया गया। लेकिन धीरे-धीरे कारागार खाली हो गया। एक भी बन्दी नहीं बचा। बंदियों के समाप्त हो जाने के बाद आम जनता को पकड़ कर कुमार को खिलाने लगे। लेकिन अंत में सारा प्रकार समझ में आ गया और राजा को देशनिकाला दे दिया गया।

कुमार राज्य के बाहर जंगल में पहुंचा और एक वटवृक्ष के नीचे उसने अपना डेरा जमाया। वह प्रतिदिन मनुष्य की टोह में तलवार लिये निकलता और जैसे ही किसी आदमी को देखता, प्रचंड स्वर में दहाड़ता हुआ उसकी ओर दौड़ पड़ता। वह उस आदमी को सिर के बल उलटा पीठ पर लादता और रसोइए को पकाने के लिए दे देता। लेकिन एक दिन किसी मनुष्य का गोश्त न मिलने पर वह अपने रसोइया को ही मारकर खा जाता है। लेकिन सारी दिक्कतें दूसरे दिन से शुरू हो जाती हैं। एक दिन धनवान ब्राह्मण पाँच सौ बैलगाड़ियों पर जजमानी का माल लादे व्यापार करने निकला था। उसके लिए व्यापार करने के लिए घने जंगल को पार करना ज़रूरी था। उसने गाँववालों में हजारों कार्षापण बाँटे और कहा कि वे उसे जंगल पार

करा दे। लाठी-डंडे समेत बहुत से सुरक्षा रक्षकों से घिरा उसका काफिला जंगल के रास्ते जा रहा था। पेड़ पर बैठा मांसभक्षी कुमार हड़ियल-मरियलं ग्रामीणों को देख दुखी हुआ। इसी बीच उसकी नजर मोटे और स्वस्थ ब्राह्मण पर पड़ी। उसे देखकर वह खिल उठा। उसने सबको ललकारते हुए कहा कि 'मैं मनुष्यभक्षी चोर हूँ।' और वह पेड़ से कूदा, उसके इस तरह अचानक से आने से अनेक सुरक्षा रक्षक मूर्छित होकर गिर पड़े। उसने ब्राह्मण को पीठ पर सिर के बल लादा और चला। लेकिन रक्षक जब चेतना में आए तो उनके मन में विचार आया कि हमने हजार कार्षापण ब्राह्मण की रक्षा के लिए हैं। नरभक्षी पकड़ में आए या न आए – परंतु हमें कोशिश तो करनी चाहिए और वे ललकारते हुए उसके पीछे दौड़े। कुमार जिस समय एक कँटीली बाड़ को फाँदने की कोशिश कर रहा था, उसी समय एक बहादुर ग्रामीण रक्षक ने उसकी एड़ी पर वार किया। कुमार लँगड़ाता हुआ कुछ दूर तक चला लेकिन चोट ज्यादा थी और खून बहुत बह रहा था, उसने ब्राह्मण को फेंककर अपने को हलका किया और घने जंगल में अदृश्य हो गया। इस वाक़ए से एक बात उन्हें समझ में आ गई कि नरभक्षी राजा चाहे जितना भयानक और बलशाली हो, दुर्वध्य नहीं है। उसका वध सम्भव है।

काशीनाथ सिंह आगे लिखते हैं – "गया सिंह ने दीनबन्धु तिवारी को इसके आगे की कथा नहीं सुनाई। यहीं पर अपना समोधान देते हुए बताया कि, 'ब्रह्मदत्त-पुत्र मनुष्यभक्षी चोर कलिकाल में आकर सात समुन्दर पार अमरीका का राष्ट्रपति हुआ और ब्राह्मण व्यापारी के रक्षक अस्सी के गदरहे।"[54] इस मिथकीय कथा से स्पष्ट है कि अमेरिका की आर्थिक वर्चस्ववादी नीतियों के कारण समस्त भारतीयता पर खतरों के बादल मंडरा रहे हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह हमलावर अभेद्य है। अगर हमारी सांस्कृतिकता के महत्त्व को ठीक से समझेंगे तो यह आक्रमण भी हम सह सकते हैं। इसलिए हमें इस नवउदारवाद के खतरों को पहचानना होगा

और अपनी जड़ों की ओर वापस लौटना होगा। इस प्रकार आपकी यह विशेषता है कि मिथकीय कथाओं को आधार बनाकर वे अपने पाठकों को सचेत करते हैं।

संदर्भ सूची

1. डॉ. सुनीता कुमारी, नरेश मेहता का काव्य सांस्कृतिक मूल्यांकन, पृष्ठ: 9
2. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ: 127
3. अखिलेश मिश्र, धर्म का मर्म, पृष्ठ: 21
4. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:111
5. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 146
6. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 236
7. श्रीराम वर्मा, कहन-4, अगस्त- 2000, पृष्ठ : 350
8. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 309
9. संजय कुमार सिंह, कहन-4, अगस्त-2000, पृष्ठ : 352
10. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:70
11. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:163
12. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 74
13. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ: 12/13
14. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 97
15. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 97
16. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 97
17. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 169
18. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 172
19. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ :125
20. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ :127

21. खगेंद्र ठाकुर, कहन-4, अगस्त-2000, पृष्ठ:307

22. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 346

23. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 357

24. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 357

25. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 302

26. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ : 302

27. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ : 63

28. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ : 63

29. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ : 134

30. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ : 34

31. नामवर सिंह, चौपाल में रेहन पर रग्घू, सं. कामेश्वरप्रसाद सिंह, पृष्ठ क्रमांक : 28

32. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ : 26

33. उमाशंकर चौधरी, चौपाल में रेहन पर रग्घू, सं. कामेश्वरप्रसाद सिंह, पृष्ठ : 109

34. गोपेश्वर सिंह, चौपाल में रेहन पर रग्घू, सं. कामेश्वरप्रसाद सिंह, पृष्ठ : 58

35. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 11

36. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 12

37. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 19/20

38. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 38/39

39. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 81

40. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 162

41. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 93/94

42. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 112/113

43. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 143

44. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 132

45. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 123

46. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ : 87

47. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ : 37

48. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ : 41

49. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ : 57/58

50. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ :63/64

51. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ :66/67

52. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 73

53. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 99/100

54. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 115

5. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य: भाषा-शैली

साहित्य के अंतर्गत रचनाकार के रचनाधर्मिता की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह अपनी रचनात्मकता में शिल्प विधान का विकास कहां तक कर सका है। अपनी संवेदना, विचार और दर्शन के प्रस्तुति के लिए भाषा एक माध्यम की तरह कार्यरत होती है। रचनाकार साहित्य सृजन में जनसामान्य में प्रचलित भाषा-शैली, मुहावरों, लोकोक्तियों और उपमान-प्रतीकों को एक विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है । अक्सर यह देखा गया है कि कालांतर में वह उसके लेखन-कर्म की शैली-वैशिष्ट्य का रूपक बन जाता है। हिंदी के अनेकानेक रचनाकारों ने अपनी रचनाधर्मिता से हिंदी कथा साहित्य में बहुमूल्य योगदान दिया है। साहित्यकार अपने लेखन कौशल को विकसित करते हुए विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते रहे हैं।

काशीनाथ सिंह के कथा जगत् में शिल्प विधान के स्तर पर विभिन्न भाषा-शैलियों का प्रयोग पाया जाता है। इसलिए उनके साहित्य को एक तरह से भाषा-शैली का कोलाजात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। कोलाज एक प्रकार की कला है जिसमें विभिन्न प्रकार के वस्तुओं, रंगों एवं चित्रों को एक जगह पर सजा कर कलात्मक मेलजोल से किसी आकृति को रूपायित किया जाता है। इसके पीछे संबंधित कलाकार की अंतर्दृष्टि निहित होती है।

वस्तुत: शिल्प खण्ड का अर्थ है निर्माण है। कलाकार अपनी आंतरिक अनुभूति, संवेदना, विचारधारा तथा सौंदर्यबोध को सृजनात्मक रूप देने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन जिन उपादानों को जोड़कर वह अपनी अनुभूति, भावबोध एवं सौन्दर्यबोध को निश्चित रूपाकार देता है उसकी गणना शिल्प के अन्तर्गत होती है । रचना और कलाकृति में वस्तु तत्व और रूप तत्व अनुपूरक और अन्तर्विरोधी सम्बन्धों में इस तरह विकसित होते हैं कि उन्हें कथ्य एवं शिल्प

के रूप में विभाजित करना मुनासिब नहीं है। प्रस्तुतकर्ता अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रभावोत्पादक कला रूप की खोज कर लेता है। कभी-कभी प्रस्तुतिकरण सम्बन्धी रूप और शिल्प कथ्य पर इतना हावी हो जाता है कि उसे रचनाकार के शिल्प विधान का पर्याय मानना पड़ता है जिसे वही परिकल्पित कर सकता है और रच सकता है। किसी भी कलाकृति में विषय-वस्तु और रूप को समान महत्त्व दिया जाना आवश्यक है। इन दोनों के सम्बन्ध सहवर्ती-अन्तर्वर्ती होने के साथ-साथ कलात्मक प्रस्तुति में द्वन्द्वात्मक होते हैं। कहना न होगा कि विषयवस्तु इतनी महत्वपूर्ण नहीं बन सकती कि वह रचनाकार के शिल्प-कौशल के महत्त्व को बिल्कुल समाप्त कर दे क्योंकि कलात्मक अभिव्यक्ति के अभाव में कोई भी रचना प्रभावोत्पादकता उत्पन्न नहीं कर सकती है। विभिन्न कलाएं अपने-अपने माध्यम-रूपों की विशेष कलात्मक अपेक्षा रखती है। चित्रकला के लिए रंगों की आवश्यकता होती है, लेकिन केवल रंगों के आधार पर सुंदर कलाकृति नहीं बन सकती। सृजनकर्ता को रंगों के ज्ञान के साथ-साथ रंग विवर्तन का ज्ञान होना आवश्यक होता है। जिस तरह एक चित्रकार के लिए परिदृश्य सम्बन्धी दृष्टिकोण व रंगों का उचित संयोजन का ज्ञान आवश्यक होता है उसी प्रकार साहित्यकार के लिए शिल्प, भाषा-शैली, बिम्ब-प्रतीक एवं छंद विधान की संरचना का ज्ञान आवश्यक होता है। क्योंकि साहित्य निर्मिति का उद्देश्य जहाँ सत्य-अनुभूतियों के तथ्य परक संधान के अभिज्ञापन का होता है वहां वह सामाजिक विसंगतियों में सौन्दर्यबोधी चेतना के रूपांतरण का कार्यवाहक भी होता है। रचनाकार अपनी प्रतिबद्धता, संघर्ष साधना तथा विशिष्टताओं को एक कलात्मक अंदाज में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में पाठकों के लिए विषय वस्तु के साथ-साथ शिल्पगत विशेषता का भी महत्व होता है।

काशीनाथ सिंह के कथा लेखन को सौन्दर्यबोधी आकांक्षा एवं प्रतिबद्ध भाव-बोध वाले रचनाकार की संज्ञा दी जा सकती है। उन्होंने अपने कथा साहित्य में कथ्य एवं शिल्प विधान

की प्रस्तुति के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया है। साहित्य की प्रत्येक विधा में भाषा का महत्त्व सर्वोपरि है। भाषा ही वह माध्यम है जिसके सहारे लेखक पाठकों के अंतःकरण में प्रवेश करता है। साहित्यकार के लिए कलात्मक विचारों के साथ-साथ उपयुक्त शब्दों एवं सुंदर भाषा का होना आवश्यक है। सुंदर भाषा से हमारा अभिप्राय है, ऐसी भाषा जो पाठकों के दिलो-दिमाग पर अपना सार्थक प्रभाव छोड़ जाए। जिस प्रकार पेड़ों पर फल-फूल खूबसूरत लगते हैं, ये पेड़ों को उपयोगी तो बनाते ही हैं साथ-साथ उन्हें सुंदर और आकर्षक भी बनाते हैं। साहित्यिक भाषा में भी ऐसे तत्वों का मिश्रण रहता है जिससे भाषा सृजनात्मक रूप ग्रहण करती है। कहना न होगा कि व्यक्ति का बाहरी व्यक्तित्व उसके सौन्दर्य में वृद्धि करता है लेकिन उसका वास्तविक सौंदर्य तो आंतरिक सौंदर्य ही है जो उसकी समग्र सुंदरता को रूपायित करता है। भाषा-शैली में भी इसी आन्तरिक सौन्दर्य की नितांत आवश्यकता होती है। यह आन्तरिक सौन्दर्य है – रचनाकार का अन्तःकरण, उसके अन्तस से निकलने वाले भाव, संवेदना, जिसमें सहजता एवं स्वाभाविकता जरूरी है । बावजूद इसके भाषा-शैली संबंधी सौन्दर्य भी अपना महत्त्व रखता है। विवेच्य कथाकार का समूचा कथा संसार मनुष्य जीवन के इसी आंतरिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है। उनकी कहानियां और उपन्यास इतने रोचक एवं पठनीय बन पड़ने की वजह उनकी विशिष्ट भाषा-शैली है। कलात्मकता का निखरा हुआ रूप आपके कथा रचनाओं में परिलक्षित होता है। दरअसल साहित्य में भाषाभिव्यक्ति एवं लेखन-क्षमता में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्यकार अपने भाव-संप्रेषण के लिए ऐसी भाषा गढ़ता है जो उसके लिए उपयुक्त होती है। वह संवेदन की गहराई में जाकर अपने लिए एक ऐसी भाषा की तलाश करता है, जहां वह भाव-सम्पृक्त और प्रभावकारी शक्ति रखती हो। यहां जो बात उल्लेखनीय है, वह है सृजनात्मक पक्ष के प्रति रचनाकार की सजगता। विभिन्न प्रकार के भाषाई प्रयोग करते हुए सर्जक उसके सृजन पक्ष के प्रति सजग रहता है, क्योंकि व्यक्ति

की अनुभूति चाहे जितनी व्यक्तिगत क्यों न हो, वह समाज निरपेक्ष नहीं हो सकती। कहना न होगा कि विवेच्य लेखक का कथा वाङ्मय मात्र व्यक्तिगत अनुभूति में गोते नहीं लगाता बल्कि अपने शाब्दिक संरचना में समाज-सापेक्ष है। जिसे हम उनके कथा साहित्य में देख सकते हैं ।

5.1 भाषिक संरचना

"जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनकी समष्टि को भाषा कहते हैं। भाषा के इस लक्षण में विचार के अंतर्गत भाव और इच्छा भी है। ध्वनि-चिह्नों के अतिरिक्त अन्य चिह्न भी हैं, जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते हैं, जिनमें प्रधान है लेखबद्ध अक्षर। यदि वैज्ञानिक और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भाषा मनुष्य के केवल विचार-विनिमय का ही साधन नहीं है, विचार का भी साधन है । भाषा का विचार से अटूट सम्बन्ध है।"[1] काशीनाथ सिंह के कथा कृतियों में भाषा के विभिन्न रूप एवं स्तर परिलक्षित होते हैं। उनकी रचनाओं में विभिन्न प्रकार के पात्र आते हैं उन पात्रों के स्वभाव, संस्कार एवं परिवेश के अनुसार भाषा में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस विशाल संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में एक इकाई है। हर व्यक्ति के बोलने की एक विशिष्ट पद्धति और लहजा होता है, स्वर होता है, शब्दावली होती है। अपने लहजे एवं शब्दावली में पात्र स्वयं को अभिव्यंजित करता है उससे उस व्यक्ति के भाषिक संस्कारों का पता चलता है। पात्रानुरूप भाषा में भी परिवर्तन का सहज रूप देखा जा सकता है। आपके कथा रचनाओं में भाषा का सहज एवं परिवर्तनशील रूप अनायास ही दृष्टिगोचर होता है । भाषा के इस सहज परिवर्तन को कौशलतापूर्वक अभिव्यक्त करने की वजह से उनके कथा साहित्य में भाषा के विविध रंग एवं पैटर्न परिलक्षित हुए हैं। आपकी रचनाओं में प्रयुक्त भाषा पात्र विशेष के भाषाई संस्कारों

के अनुरूप रूपायित हुई है। उनकी 'जंगलजातकम्', 'मीसाजातकम्', 'बाँस' आदि कहानियों में तथा 'उपसंहार' उपन्यास में भाषा का क्लासिकल रूप दृष्टिगत होता है ।

लेखक की 'जंगलजातकम्' कहानी में भाषा का अभिजात्य रूप द्रष्टव्य है – "पेड़ घबराए और दौड़े-दौड़े बूढ़े बरगद के पास पहुंचे।

'हे आर्य, ये जीव कौन हैं? आप हममें सबसे श्रेष्ठ और बुजुर्ग हैं, हमें बताएँ।' 'सौम्य ! जो जानवर की लगाम अपने हाथ में ले, वह मनुष्य है,' आर्य बरगद ने बड़े चिंतित स्वर में कहा।

'आर्य, घोड़े पर बैठे हुए के बारे में भी बताएँ।'

'हम उसके बारे में कुछ नहीं जानते !...सौम्य, उसके गाल इतने फूले हैं कि आँखें लुप्त हो गई हैं। उसकी लाद इतनी निकली है कि टाँगें अदृश्य हो गई हैं, उसके बदन का भार इतना अधिक है कि घोड़ा मेढक हो गया है। हे सौम्य, ऐसे को मनुष्य नहीं कहते।'

'हमने सुना था आर्य कि मनुष्य गुलाम नहीं बनता, उसे क्रय नहीं किया जा सकता, लगामवाले मनुष्य के बारे में कुछ और बोलें आर्य !'

आर्य ने हाथों से अपने कान ढक लिए, सिर झुका लिया और भर्राई आवाज में कहा, 'न पूछे, न पूछे...!'

पेड़ चिन्ता में पड़ गए। कुछ देर बाद उनमें से एक ने साहस के साथ पूछा, 'आर्य, यदि आज्ञा दें तो हम उनका स्वागत करें। कन्द-मूल-फल के साथ उनके आगे उपस्थित हों!'

'नहीं, नहीं, नहीं,' आर्य ने झल्लाकर कहा, 'सौम्य, उनसे कहें कि यहाँ से चले जाएँ। ऐसों की हमें आवश्यकता नहीं।"[२]

आपकी एक और रचना 'बांस' में तथागत और जंगल से गुजर रहे एक आदमी के बीच के संवाद में भाषा का प्रांजल रूप द्रष्टव्य है। बौद्ध कालीन परिवेश को दर्शाने के लिए लेखक ने

इस भाषा का प्रयोग किया है। यथा – "तथागत ने इस उत्तर से थोड़ी असुविधा महसूस की। वे थोड़ी देर चुप रहकर बोले, 'आर्य, आप हाँफ रहे हैं, पसीने से तर-बतर हो रहे हैं, भूखे-प्यासे हैं, पत्तनग्राम भी निकट नहीं है, आपसे खड़ा तक नहीं हुआ जा रहा है फिर मुझे बताएं कि इस बोझ को निरुद्देश्य ढोने का क्या प्रयोजन?'

'भन्ते, जिसे आप बोझ समझ रहे हैं, वह मेरा ईश्वर है।'

'जरा विस्तार से समझाएँ कि यह बाँस आपका ईश्वर कैसे है ?'

आदमी ने सारी कहानी विस्तार से सुनाने के बाद अंत में कहा कि 'हे भन्ते, जब मैं नदी में डूब रहा था और लगभग मृतप्राय हो चुका था तब इसी ने सहारा देकर मेरे प्राण बचाए थे।'

'किन्तु आर्य ! इस समय तो स्थिति दूसरी है। यह बोझ बनकर आपके प्राण ले रहा है।'

'आपका कथन सत्य है भन्ते, किन्तु यह भी सत्य है कि इसी के उपकार से मैं जीवित हूँ।'

'आर्य, इसे जो करना था कर चुका, अब यह मात्र बोझ है। इसे ढोते जाने का कोई अर्थ नहीं !'

आदमी ने असहमति के साथ अपने सिर के आगे झूल रहे बाँस के अगले भाग को कृतज्ञ भाव से देखा।

'आर्य, विवेक से काम लें, इस बाँस को अपने सिर से उतार फेंके और आराम से घर जाएँ।' तथागत ने वहां से प्रस्थान करने से पूर्व कहा।

'मुझे कृतघ्न होने के लिए न कहें, भन्ते!'

'जीवन सर्वोपरि है ! आर्य, मैं जीवन और आपके हित की बात कर रहा हूँ।"[३] तथागत के इस संवाद से बौद्ध कालीन परिवेश का चित्र साकार हो उठा है, इसके अलावा बुद्ध के शांत और सौम्य व्यक्तित्व का दर्शन भी इन संवादों से होता है।

आपका 'उपसंहार' कृष्ण के जीवन पर आधारित मिथकीय चेतना का उपन्यास है। यही वजह है कि प्राचीन युग के अनुरूप लेखक की भाषा अभिजात्य रूप ग्रहण कर लेती है। उदाहरण

स्वरुप – "एकदम निहत्थे और उनके बाएँ से, दाएँ से, आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से वारुणास्त्र, वायवास्त्र, आग्नेयास्त्र, पर्जन्यास्त्र, नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र आ-जा रहे हैं, तोमर, खड्ग, गदा, भल्ल, मूसल, परिघ, चक्र, बाण चलाए जा रहे हैं, भाँजे जा रहे हैं, फेंके जा रहे हैं और वे थे कि अविचल, अविकल, निर्भय । इन सबके उत्तर में अगर उनके पास थी कुछ तो ओठों पर सिर्फ मुसकान की नन्ही-सी थिरकन।

ऐसे तो यह मुसकान सतरंगी थी लेकिन कुरुक्षेत्र में उसका सिर्फ एक ही मतलब था आत्मविश्वस्त उपहास कि देखो, आर्यावर्त या कि भारत के क्षत्रिय नरेशो, धनुर्धरो, गदाधारियो, योद्धाओ! तुमने यहाँ से हजारों योजन दूर दक्षिण-पश्चिम के समुद्र-तट पर पानी से घिरे जिस द्वारका को अदना और हाशिए पर पड़ा हुआ द्वीप समझ रखा था और उसके द्वारकाधीश को ग्वाला और चरवाहा, आज उसे देखो उसे देखो और अपनी हैसियत देखो। बता दिया था गोशाला में गौवों के थन को पेन्हाते हुए और दूध दुहते हुए और युद्ध-शिविर में घोड़ों की पीठ पर खरहरा करते हुए कि आर्यावर्त की मुख्यधारा हस्तिनापुर से नहीं द्वारका से निकलती है।"[4]

इस प्रकार कृष्ण के संबंध में कही गयी उपर्युक्त पंक्तियों में भाषा का अभिजात्य रूप दृष्टिगोचर होता है। लेखक ऐसी प्रांजल एवं आलंकारिक भाषा का प्रयोग करता है कि पाठक इस भाषा से मनोमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। गौरतलब है कि रचनाकार ऐतिहासिक-पौराणिक परिदृश्य को रचते समय हिंदी के बहुतायत लेखकों की तरह संस्कृतनिष्ठ शब्दों के प्रति अतिरिक्त आग्रही नहीं दिखाई पड़ते। हिंदी के ज्यादातर साहित्यकार ऐतिहासिक और पौराणिक वातावरण की निर्मिति करते समय संस्कृत भाषा के शब्दों का सृजन करते रहे हैं। लेकिन काशीनाथ जी ऐसे शब्दों के प्रति विशेष आग्रही न होते हुए भी पौराणिक और

ऐतिहासिक परिवेश को जीवित करने में सफल होते हैं। इसे आपकी भाषा की एक विशेषता मानी जानी चाहिए।

विवेच्य साहित्यकार की भाषिक संरचना में जहां एक ओर संजीदगी है, अभिजात्य है वही प्रसंगानुरूप स्थानीय रंग भी घुलमिल गये हैं। इन देशज रंगों की उपस्थिति के कारण भाषा में जीवंतता आ गयी है । भाषिक संरचना का यह खांटी देशज रंग इस बात को प्रमाणित करता है कि लेखक लोक जीवन के कितने समीप है। बनारस के लोक जीवन, लोक संस्कृति, लोक संस्कारों को उजागर करने वाली शब्दावली के कारण भाषा में रागात्मकता एवं आत्मीयता का भाव सहज ही आ गया है जो सहृदय पाठक को आकृष्ट किये बिना नहीं रहता ।

'काशी का अस्सी' उपन्यास के अंतर्गत जब उपन्यासकार बनारस के मुहल्ले अस्सी-चौराहा की साधारण जनता का चित्रांकन करते हैं तब उनकी भाषा भी उसी मस्ती के रंग में रंग जाती है। और तब इस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता, बस एक ही रंग दृष्टिगत होता है और वह है अस्सी चौराहे पर रहने वाले लोगों का अलमस्त-फक्कड़ाना अंदाज। ऐसे स्थलों पर तथाकथित अश्लील कही जाने वाली गालियों का भी अनायास प्रयोग होता है। लेकिन इसके लिए लेखक को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि भद्र समाज को अश्लील या फूहड़-सी लगनेवाली गालियाँ लेखक का अपना सृजन नहीं है बल्कि ये गालियाँ हमारे समाज का अभिन्न अंग बन चुकी हैं।

यह औपन्यासिक कृति बनारस के एक मोहल्ले अस्सी में रहने वाले लोगों की जीवन शैली को रेखांकित करता है। उपन्यास में वर्णित अस्सी मोहल्ले के लोग पप्पू की दुकान पर बैठते हैं और देश - दुनिया की बातें करते हैं। इन बातों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक

मुद्दों पर बहस होती है। उपन्यास के शुरूआत में लेखक अस्सी मोहल्ले का परिचय इस प्रकार कराते हैं – "मित्रों, यह संस्मरण वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढों के लिए नहीं, और उनके लिए भी नहीं जो यह नहीं जानते कि अस्सी और भाषा के बीच ननद-भौजाई और साली-बहनोई का रिश्ता है। जो भाषा में गन्दगी, गाली, अश्लीलता और जाने क्या-क्या देखते हैं और जिन्हें हमारे मुहल्ले के भाषाविद् 'परम' (चूतिया का पर्याय) कहते हैं, वे भी कृपया इसे पढ़कर अपना दिल न दुखाएँ - तो, सबसे पहले इस मुहल्ले का मुख्तसर - सा बायोडॉटा - कमर में गमछा, कन्धे पर लँगोट और बदन पर जनेऊ-यह 'यूनीफार्म' है अस्सी का'।

हालाँकि बम्बई-दिल्ली के चलते कपड़े-लत्ते की दुनिया में काफी प्रदूषण आ गया है। पैंट-शर्ट, जीन्स, सफारी और भी जाने कैसी-कैसी हाई-फाई पोशाकें पहनने लगे हैं लोग ! लेकिन तब, जब कहीं नौकरी या जजमानी पर मुहल्ले के बाहर जाना हो ! वरना प्रदूषण ने जनेऊ या लँगोट का चाहे जो बिगाड़ा हो, गमछा अपनी जगह अडिग है ! 'हर हर महादेव' के साथ 'भोंसड़ी के' नारा इसका सार्वजनिक अभिवादन है ! चाहे होली का कवि-सम्मेलन हो, चाहे कर्फ्यू खुलने के बाद पी.ए.सी. और एस.एस.पी. की गाड़ी, चाहे कोई मंत्री हो, चाहे गधे को दौड़ाता नंग-धड़ंग बच्चा – यहाँ तक कि जार्ज बुश या मा्गरेट थैचर या गोर्बाचोव चाहे जो आ जाए (काशी नरेश को छोड़कर) – सबके लिए 'हर हर महादेव' के साथ 'भोंसड़ी' के का जय-जयकार!"[5] यह उदाहरण बनारस के अस्सी-मोहल्ले का सांस्कृतिक परिदृश्य प्रस्तुत करता है। अस्सी विविध रंगों से भरा ऐसा मोहल्ला है जिसकी अपनी विशिष्ट देसी संस्कृति एवं भाषाई कलेवर है। यथा – "गुरु यहां की नागरिकता का सरनेम है। न कोई सिंह, न पांडे, न जादों, न राम। सब गुरु। जो पैदा भया, वह भी गुरु, जो मरा, वह भी गुरु। वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा जनतन्त्र है यह।"[6] यह वैचारिक और बौद्धिक प्रहसन भरी उपलब्धि है जिसे तथाकथित भद्र कहे जाने वाले लोग नकली आडम्बर से छिपाए रखना चाहते हैं। प्रसंगवश समाज में प्रयुक्त किसी भी

शब्द को हम अश्लील, गलत अथवा त्याज्य नहीं कह सकते। देश में डोली ले सकते जाने वाली विभिन्न बोलियों में ऐसे शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से होता है। इस तरह से सामान्य जनता द्वारा बोले जाने वाले ये तथाकथित वर्जित शब्द सही है या गलत यह व्यक्ति के वर्ग, जाति, संस्कृति, उच्चारण एवं प्रसंग पर निर्भर करता है। समाज के प्रत्येक अंग में फिर वह शहर हो, कस्बा हो या गाँव हो ऐसी शब्दावली का प्रयोग सहज-स्वाभाविक है। दरअसल शब्दों में व्यक्ति के भाव अन्तर्निहित होते हैं। शब्दों के स्वर से मनुष्य के भीतरी संगीत या आंतरिकता का पता चलता है। दरअसल भाषा में प्रयुक्त होने वाली गालियां लोक रंग तथा लोक परंपरा का ही भाग है।

लोक संस्कृति बहुत व्यापक होती है, यह लोक से छन कर आती है। यह समाज में आम आदमी की जबान पर विचरण करती है। लेकिन शिष्ट समाज जब इस लोक से परे होकर सोच विचार करता है तब इस प्रकार की भाषा अश्लील लग सकती हैं। प्रत्येक समाज में गालियाँ प्रचलित हैं और रोजमर्रा की जिंदगी में इनका अनायास इस्तेमाल भी किया जाता है। संसार में शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र होगा जहां गालियां प्रयुक्त नहीं होती। लोक व्यवहार में इनका भी अपना महत्व है। लोक परंपरा और लोक संस्कृति को समझने के लिए इस प्रकार की भाषा को समझना भी अत्यंत आवश्यक है। गालियाँ और अपशब्द लोक परम्परा का एक अभिन्न हिस्सा हैं। “काशीनाथ सिंह अपनी प्रयोजनधर्मिता और कला-कुशलता में असाधारण होने के बावजूद, जिस संस्कृति और समाज से आते हैं उसमें गालियों का भी अपना पारस्परिक समाजशास्त्र है, जो कई बार रचना के स्तर पर विकसनशील होने की गवाही देता है । रचनात्मक स्तर पर, अपनी गद्य की सत्ता में उसके सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में गालियों का सहयोग लेकर वे उस पारम्परिक समाजशास्त्र को नया अर्थ देते हैं, जिससे उनकी प्रयोजनधर्मिता अलंकृत और यान्त्रिक होने से बच जाती है । आचरण की सभ्यता, माध्यम की

शुद्धता या कहें भाषा का परिनिष्ठित रूप साहित्य में किसानी संस्कारों को उभरकर नहीं आने देता । भाषिक अभिजात्य-वर्ग विभाजित समाज के उच्च वर्ग के ढोंग का दिखावे का अस्त्र होता है । भाषिक संस्कृति अभिजात्य के आवरण में असंख्य अपराध और पाप को प्रश्रय देती है।"[7]

आपके कथा कृतियों में लोक जीवन के रंग सहज रूप में घुल मिल गए हैं। लोक जीवन के विभिन्न रूपों से सराबोर भाषा रचते हुए उन्हें अभद्र, अश्लील, अवांछनीय कहे जाने वाले शब्दों से कोई परहेज नहीं है। उनकी भाषा की विशेषता यह है कि जिस आम बोलचाल की भाषा में सामान्य जनता वार्तालाप करती है उस भाषा में वे अपने पात्रों को अभिव्यक्त करने की कोशिश करते हैं। अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रकार के आडंबर या छलावे की जरूरत उन्हें महसूस नहीं होती। सामाजिक जीवन में लोग जिस जबान में एक दूसरे से संवाद करते हैं उसी भाषाई संस्कारों के साथ वे अपने उपन्यासों एवं कहानियों में दिखाई पड़ते हैं।

आपकी कहानियों में ऐसे पात्रों का सृजन हुआ है जो अपनी भाषा के जरिए इर्द गिर्द के परिवेश को उद्घाटित करते हैं। 'सुधीर घोषाल' में सुधीर एक बंगाली क्रांतिकारी है। उसे जब पता चलता है कि इसमें चित्रित लेखक की सहानुभूति निम्न वर्ग के प्रति है तो वह लेखक को बताता है – "जानता हाय तुम कि ई शाला क्या चीज हाय? इहाँ से पहले ई सिंगरेनी में था - कहीं दक्खिन में। सो, ई दस लेबरों को जिन्दा आग में भून दिया। और भी बहोत-बहोत अत्याचार किया। दो बरस पहले हम अखबार में सुना था। हमारा साथी लोग बोला था। हम उन लोगों को जानता भी नेईं। सिंगरेनी गिया भी नेईं। वह लोग भी हमारे को नेईं जानता ! बाकी हम भाई-बन्द हाय, लेबर हाय ! जब ई साहब बनकर इस जगह में आया तो हमको पता

चल गिया। हम जिन्दा नेईं छोड़ेगा इसको। हम जाने नईं देगा इसको। और तुम...हम तोमरा किताब देखा। अन्दर में का फोटू देखा, तब तुमको बोला। तुम किसी को नेईं बोलेगा।'

साँस रोककर उसने मुझे देखा, 'तुम बोलने सकता कि ई खून के माफिक हाय, कतल के माफिक हाय ! आन्दोलन नेईं। है तो ! ऐसा आमरा साथी लोग भी बोलेगा। बाकी हम विप्लव की प्रतीक्खा नेई कोरेगा। से काहे ? उसकी आँखें जलने लगीं। उसने छाती पीटकर कहा, 'आमरा भाई-बन्द! आमरा...' वह बोलते-बोलते रुका। उसने कान खड़े कर आसपास की आहट ली और सीढ़ियों तक जाकर झाँक आया।

'हम चिरकुंडा का बासी हाय। रानीगंज की खदान में लेबर किया। वहीं हमको खबर लगा। हम कोलिकाता में जाकर एक महीने काम किया-होटल में। खाना पकाना सीखा। ई सब इसी हरामजादा कुत्ता का वास्ते। अब हम जान गया। किसी रोज ताड़ाताड़ी इहाँ से चला जाएगा। हम फाँसी पड़ जाएगा बाकी छोड़ेगा नेईं...नेईं... नेईं..."[8] इसमें सुधीर घोषाल द्वारा बोले गए वाक्यों में बंगाली ज़बान का पुट सहजता से आ गया है।

इसी प्रकार 'काशी का अस्सी' में वर्णित रामजी सिंह का उदाहरण द्रष्टव्य है – "उन्होंने एक बार अपने पास चेले को पकड़ा। रिजल्ट आया ही आया था । उन्होंने पूछा - 'बे लाल जी ! हम तुझे पढ़ाये, जो-जो नहीं आता था, तुझे, सब बताये, लिखाये, रटाये, तू पास हो गया, हम कइसे फैल हो गय।' लाल जी बोले - 'गुरू, ऐसा है कि आप जो पढ़ाये, वह तो हम पढ़े ही । बाकी आपकी चोरी-चोरी भी कुछ पढ़े थे ।'

उन्हें उसके उत्तर से संतोष नहीं हुआ । मुझसे पूछा - 'अंदाजा लगाओ तो जरा! क्या बात हो सकती है ?' इसमें अंदाजा लगाने जैसी कोई बात नहीं थी लेकिन मैं अंदाजा लगाने लगा और कोई जगह नहीं थी ! 'ने', 'में', 'का', 'के', 'पर', 'से' आदि को वे फालतू और बेमतलब का समझते थे ! सीधे-सीधे वाक्य में अड़ेंगेबाजी के सिवा और कोई काम नहीं नजर आता था इनको।

लेकिन यह बताता तो लात खाता!"[9] उपर्युक्त पंक्तियों से रामजी सिंह के बातचीत के ढंग का पता चलता है। 'बे लाल जी', 'लिखाए', 'रटाये', 'कइसे' ये कुछ ऐसे शब्द हैं जो रामजी सिंह के भोजपुरी लहजे को दर्शाते हैं। पाठक इन शब्दों एवं वाक्यों के सहारे व्यक्ति के भाषाई संस्कारों को जान लेता है क्योंकि भोजपुरी अथवा इतर प्रान्त विशेष की बोली से खड़ी बोली हिन्दी का लहजा एवं प्रयोग कई मायनों में भिन्न है। विभिन्न बोलियों के भाषा-प्रयोग का अंतर साफ जाहिर है । अस्सी चौराहा के एक पात्र तन्नी गुरू के बतकही का अंदाजेबयां पेश है – "तुम एकदम्मै से झंडू हो गए हो का ?'

'कुछ बताओ तो !' मैंने पूछा।

'बात यह है...जरा इधर आओ एक किनारे!' उन्होंने मेरी आँखों में देखा – 'लेकिन सच्ची बोलना! हाँ ? मेरे मन में एक डाउट है ! देखो, झूठ मत बोलना ! चौथीराम जादो तुम्हारे दोस्त! मुकुन्द जादो के यहाँ चाय पीते हो ! बर्फीवाले सीताराम जादो से भी तुम्हारी घुटती है, हम देखे हैं। एक और फंटूस तुम्हारे आगे-पीछे घूमता है – रामौध जादो!...कल कोई बोला कि दिल्ली में भी कोई जादो है जिसकी किताब में अस्सीचरितम् की घोषणा है। अब यह बताओ, तुम भी तो जादो नहीं हो?'

मुझे हँसी आ गई उन्हें सुनकर ।

'देखो गुरू, हँसो मत ! हमें तुम्हारे खून में कुछ फरक मालूम हो रहा है !'

'बस, इतनी सी बात ?'

'तुम उस दिन गोपला की दुकान पर मंडल-मंडल काहे चिल्ला रहे थे?...तुम्हें याद है न ! जब वह विपिया भोंसड़ी के हर जगह से दुरदुराया और लतियाया जा रहा था तो यही अस्सी-भदैनी है जिसने उसका तिलक किया और कहा - राजर्षि ! राजा नहीं फकीर है, देस की तकदीर

है!...और ससुरा दिल्ली गया तो हमारे ही 'उसमें' डंडा कर दिया !...और अब तुम भी पगलाए भए हो का ? चलो, पान खिलाकर प्रायश्चित् करो ! ए देवराज ! दो ठो पान बढ़ाना तो !"[10]

रचनाकार की भाषा संबंधी खूबी है कि वह व्यक्ति विशेष के उच्चारण, लहजे की खामियों और विशेषताओं को स्पष्टतया दर्शाते हैं। पात्रों के वार्तालाप से उस चरित्र की एक मुक्कमल तस्वीर पाठकों के समक्ष जीवंत हो जाती है। लेखक अपनी कलात्मकता से व्यक्ति के भाषिक संस्कारों से हमें रूबरू कराता है। लेखक जिस रूप में चरित-नायक को रूपायित करता है पाठक के मन में भी उस व्यक्ति की वैसी ही तसवीर अंकित हो जाती है। श्रव्य-बिम्बों के आधारस्वरूप पाठक चरित नायक की कल्पना सहज ही कर सकता है। आपकी भाषा की यह विशेषता है कि वे अपनी भाषायी सामर्थ्य से चरित नायक को दृश्यमान कर देते हैं। कहीं-कहीं पर यह भ्रम भी होने लगता है कि पाठक स्वयं भी उस चरित नायक से व्यक्तिगत रूप में परिचित है।

काशीनाथ जी अपने कथा वाङ्मय में संवादों के साथ-साथ व्यक्ति चरित्र का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि रचना में वर्णित पात्र पाठकों के समक्ष मूर्तिमान हो जाता है। उनकी लेखनी को यह कमाल हासिल है कि किसी व्यक्ति चरित को रचते हुए उसके स्वभाव विशेष के संदर्भ में उनकी टिप्पणियां इतनी विश्वसनीय होती हैं कि ऐसा भास होने लगता है कि कथित पात्र से हमारी बहुत पुरानी जान-पहचान है, ऐसे लगता है मानो हम उस चरित्र से वर्षों से परिचित हैं। 'रेहन पर रग्घू' में रघुनाथ के चरित्र का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं – "रघुनाथ पहाड़पुर गाँव के अकेले लिखे पढ़े आदमी। डिग्री कालेज में अध्यापक। दुबले पतले लम्बे छरहरे बदन के मालिक। शुरू के दस वर्षों तक साइकिल से आते जाते थे, बाद में स्कूटर से। पिछली सीट पर

कभी बेटी बैठती थी, बाद के दिनों में बेटे। कभी एक, कभी दोनों। आखिर पाँच छः मील का मामला था।

हर सुखी और सफल आदमी की तरह रघुनाथ ने भी अपने जीने, आगे बढ़ने और ऊँचाइयाँ छूने के कुछ नुस्खे ईजाद कर लिए थे! सच पूछिए तो उन्होंने ईजाद नहीं किए थे, उनकी प्रकृति में ही थे, बस वे समझ गए थे और उन्हें अपने नित्य व्यवहार का अंग बना लिया था। वे पतले और लम्बे थे इसलिए थोड़ा झुक कर चलते थे। कहीं आते जाते समय, किसी से मिलते-जुलते, बोलते-बतियाते समय थोड़ा झुके रहते थे। पहली बार उन्होंने अपने संदर्भ में किसी दूसरे से बात करते समय प्रिंसिपल साहब के मुँह से 'विनम्रता' शब्द सुना। ऐसा उनकी प्रशंसा में कहा गया था। जिस झुके रहने पर वे शर्म महसूस करते थे, वही उनकी खूबी है – यह नया बोध हुआ। इसमें उन्होंने आगे चल कर दो खूबियाँ और जोड़ दीं – मुसकान और सहमति। कोई कुछ कहे, वे मुसकराते रहते थे और समर्थन में सिर हिलाते रहते थे। यह तभी सम्भव है जब आप अपनी तरफ से कम से कम बोलें।

इस तरह रघुनाथ ने विनम्रता, मितभाषिता और मुसकान के साथ जीवन की यात्रा शुरू की थी। और इसे संयोग ही कहिए कि वे कभी असफल नहीं रहे! इसी संयोग को दूसरे 'किस्मत' कहा करते थे! और इस पर विश्वास कर लिया था रघुनाथ ने भी!"[11]

5.1.1 भाषा प्रवाह

भाषा ही वह माध्यम है जिसके आधार पर रचनाकार अपने विचार पाठकों तक संप्रेषित करता है। भाषागत सौष्ठव मात्र शब्दों में निहित नहीं होता बल्कि इसके लिए आवश्यकता होती है भाषा-प्रवाह की। आपके साहित्यिक कृतियों में भाषा का प्रवाह सर्वत्र विद्यमान है। यह प्रवाह कहीं खंडित नहीं होता। इसका प्रमुख कारण है कतिपय रचनाओं में भाषिक चमत्कार के साथ-साथ लेखक की आंतरिक संवेदना भी भरी हुई है। उदाहरण के लिए – "ऐसे राजकुमार की

खोज कोई हँसी खेल नहीं। साल-दो-चार साल, भी ज्यादा लगते हैं, तब कहीं मिल पाता है। और यह काम भी हर किसी के बस का नहीं लोग दौड़ते तो रहते हैं, कहीं कुछ उखड़ता है? एक भी रोयाँ टेढ़ा होता है ? न लल्लो-चप्पो करने से शादियाँ होती हैं, न अपने को धन्नासेठ समझने से। लोग रुपयों की गठरी बाँधे दौड़ते तो रहते हैं, लेकिन सिर्फ इतने से रिश्ता बनता है ? इसका अपना एक ढंग होता है, अपना तरीका होता है। लड़केवाले को इधर से, उधर से, चारों तरफ से घेरना पड़ता है, चाँप चढ़ाना पड़ता है, कभी गम खाना पड़ता है, कभी ताव खाना पड़ता है, इज्जत का वास्ता देना पड़ता है, हरे चारे दिखाने पड़ते हैं, उसके रिश्तेदारों को रो-गाकर भिड़ाना पड़ता है, इतना घेरना पड़ता है कि कहीं से निकलकर भागने का दांव न मिले। चंग पर चढ़ाओ और ले आओ - फिर देखो, ससुर कैसे भागते हैं।"[12]

"सुनो, भड़को मत ! दूसरों के सुख से अपने को दुखी मत करो वरना सारी जिन्दगी रोते गुज़रेगी मेरी जान ! हमारे सोचने की चीज़ यह नहीं है कि किसका लड़का विलायत पढ़ रहा है, बल्कि दूसरी है। देखो...हम घर पर खुश नहीं थे। नहीं थे न ! एक ही जगह, एक ही जैसे दिन और रातें, रोज़-रोज़ का लड़ाई-झगड़ा, असन्तोष और ऊब और डाँट-डपट !...तो हम लोगों ने सोचा कि कुछ दिनों के लिए इस ज़िन्दगी को बदलें-नई करें-थोड़ा हँसे-गाएँ। आधी से ज्यादा ज़िन्दगी इसी रोने-कलपने में चली गई, लेकिन अब जो थोड़ी सी रह गई है इसे मूंछों पर ताव देते हुए बिताएँ! न किसी का लेना और न किसी का देना ! दुनिया फोद पर चढ़े !... रह गए ये अपने लौंडे और लड़कियाँ, सालों के बाप का कर्ज़ नहीं खाया है हमने। जितना होगा, करेंगे, नहीं होगा-नहीं करेंगे। जितना करेंगे, उसके आधार पर रास्ता खुद चुनें ! मैं गलत तो नहीं कह रहा हूँ ? और जब सारा ज़माना ही परेशान है तो ये भी परेशान हों-हुआ करें।...लेकिन नहीं हुआ ऐसा ! वही चिन्ता, वही समस्याएँ, वही आटा-दाल, वही बरसात और छत-सब हमसे पहले ही इस कमरे में पहुँच आए ! और लगता यह है कि आगे भी जहाँ-जहाँ

जाएँगे, ये हमसे पहले नहीं, तो हमारे साथ-साथ चलेंगे।...तो ऐसा क्यों है ? क्यों हो रहा है-हमें सोचना यह है !

इस लम्बे बयान पर-'प्रतिभा के इस भयानक विस्फोट' पर-मैं चकित हुआ; लगा कि घोर अँधेरे में मैंने जो तीली जलाई थी, वह बढ़ते-बढ़ते मशाल हो गई है और वह मशाल अब मैंने पत्नी के हाथ में दे दी है और वह उसे लेकर भादों की रात भी खे सकती हैं। लेकिन उन्होंने मुझे ऐसे देखा जैसे मैं यह बकवास किसी नशे में कर रहा हूं और अगर नशे में नहीं हूं तब तो और भी बुरा है!"[13]

आपकी भाषिक कलेवर की यह खूबी है कि वह बातचीत करती हुई सी जान पड़ती है। ऐसा लगता है कि लेखक पाठकों से बातें कर रहा है और इस कारण उनकी साहित्यिक भाषा अत्यंत जीवंत बन पड़ी है। उनकी इस जीवंतता का एक उदाहरण गौरतलब है – "आखिर उस्ताद कलकत्ते से लौटे तो उन्हें पहलवानी सूझी।...पढ़ना-लिखना सब वाहियात। ...डंड खींचो, मुसुक बनाओ। बगीचे में अखाड़ा खोदा गया, मिट्टी डाली गई, उनके नाम पाँच-छह गायें छोड़ दी गईं और नवाब सिंह को लड़ाने के लिए गंगा पार से नट बुलाया गया। आस-पास हो-हल्ला मचा। और नवाब सिंह हैं कि पहलवान होंगे...इन्हें पटकेंगे, उन्हें पछाड़ेंगे। य धोबियापाठ... य काला जंग...य दस्ती...य सखी...य अडंगी...य वहरा...य म्मारा...व म्मारा...ऐसे नहीं, ऐसे...या मालिक, या बजरंगबली। लोग कहते-नवाब पहलवान ! पहलवान नहीं बे, उस्ताद! है कोई पास-पड़ोस में लड़नेवाला? कौन जा रहा है – उस्ताद! कौन बैठा है-उस्ताद! कौन लेटा है-उस्ताद! कौन लड़ता है-उस्ताद! या बजरंगबली, है कोई? और उस्ताद हैं कि लड़ते हैं तो सिर्फ लड़ते ही हैं! बाबू राजा सिंह खुश। साफा बाँधा, मूंछे ऐंठी, और घोड़ी कुदाई – खट खट् खट्।

जोतसी कह गया था – बेटा खानदान का नाम रोशन करेगा – हहाऽऽ, हहाऽऽ... और आज बिसुनपुरा।

इसी बीच जमींदारी टूट गई। उनकी खेती दो हलों की हो गई। परिवार परेशानी में पड़ गया! घर की हालत बदल गई, लेकिन राजा सिंह की मूंछे न झुकीं।"[14]

काशीनाथ सिंह अपने उपन्यासों में स्वच्छंद प्रवृत्ति के लेखक के रूप में उभरे हैं। भले ही अपनी शुरुआती कहानियों में वे इतनी स्वच्छंदता के साथ अभिव्यक्त न हुए हों परन्तु उपन्यासों में और विशेषकर 'काशी का अस्सी' तथा 'रेहन पर रग्घू' में वे बंधनों को नहीं स्वीकारते और मुक्त रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। वे उन लेखकों में नहीं हैं जो फूंक-फूंक कर अपने कदम रखते हैं, लेखक जानता है कि इन जगहों पर गिरने या फिसलने का खतरा है, लेकिन वह इस बात से ज्यादा फिक्रमंद नहीं है। स्वभाव का यह मतवालापन, बिंदास अंदाज ही है जो उनके लेखन को इतना चित्ताकर्षक बनाता है। व्यक्तित्व के इस बेफिक्री के कारण उनकी कथा कृतियों में ऐसी स्वच्छंद प्रवाहमयता देखी जा सकती है। आपकी भाषा का प्रवाह एक-सी गति में प्रवाहित नहीं होता। उनकी भाषा का गति सूचक यंत्र निरंतर बदलते रहता है । भाषा की यह गति, प्रवाहमयता स्वरों के उत्थान-पतन पर निर्भर करती है । उनके लेखन में कुछ स्थल ऐसे हैं जहां पर भाषाई संस्कार तीव्रगामी हो गया है । उदाहरण के लिए–

"और रघुनाथ ने यही किया। उनकी सारी शक्ति और सारी बुद्धि और सारी पूँजी उन्हें ही सँवारने में लगी रही!

उन्होंने चाहा-सरला पढ़ लिख कर नौकरी करे।

सरला पढ़ लिख कर नौकरी करने लगी। उन्होंने चाहा-संजय साफ्टवेयर इंजीनियर बने।

संजय साफ्टवेयर इंजीनियर ही नहीं बना, अमेरिका पहुँच गया!

उन्होंने चाहा-मैनेजर समधी बनें!

संजय ने यह नहीं चाहा! उसने वह किया जो उसने चाहा!

रघुनाथ का चाहा रह गया। दयानिधान कोई मदद नहीं कर सके उनकी!"[15]

एक संदर्भ 'उपसंहार' से भी प्रस्तुत है – "लेकिन जरासंध ने आक्रमण किया एक-दो-तीन नहीं, सत्रह बार। किसी क्षत्रिय नरेश ने हमारी सहायता की जरूरत नहीं समझी हम लड़ते-भिड़ते रहे, मरते-कटते रहे, उजड़ते-बसते रहे हमारे बगल में ही हस्तिनापुर था एक बार भी झाँकने की कोशिश नहीं की कि हम बचे भी हैं या नहीं जबकि सबको पता था कि मगध के बन्दीगृह में चौरासी नरेश हैं जिनकी नरबलि दी जानी है, उन्हीं में एक सिर कृष्ण का भी चाहिए जरासन्ध को एक भी नरेश नहीं आया मथुरा।"[16] आपके साहित्य में यह गतिशीलता खास कर लम्बे अनुच्छेदों में देखने को मिलती है। जहाँ जैसा भाव होता है वैसे अनुच्छेदों में भी अंतर आ जाता है। परन्तु कहीं भी यह प्रवाह थमता नहीं है और उनकी रचनाओं में अबाध गति से बहता रहता है। कहना न होगा कि लेखक की भाषा भावानुसरणी है। जिसमें पात्र एवं प्रसंग के अनुसार अभिजात्य, मध्यवर्गीय भाषा संस्कार, निम्नवर्गीय बेलौस और बेलाग, फक्कड़ाना मस्ती भरा अंदाज दृष्टिगोचर होता है। अपनी रचनात्मकता में वे मध्यमवर्गीय संस्कारों एवं अभिजात्य वर्ग के छद्म को भी दर्शाते हैं। ऐसी जीवन्त, सकारात्मक और पात्रानुरूप सृजनशीलता अन्यत्र दुर्लभ है।

5.1.2 शब्द सामर्थ्य एवं वाक्य विन्यास

शब्द ही वे घटक हैं जिन पर साहित्य रूपी भवन अपना आकार निर्मित कर पाता है। साहित्य में गद्य हो या पद्य शब्दों का अन्यतम महत्त्व है। शब्द ही अर्थ के संवाहक घटक हैं। लेकिन साहित्यिक भाषा का निर्माण सिर्फ शब्दों के गठन अथवा वाक्य-नियोजन से संभव नहीं है। वाक्य जब अपनी प्रवाह-यात्रा में उपयुक्त शब्दावली को अंतर्भुक्त कर लेते हैं तब साहित्यिक सौंदर्य का निर्माण होता है । भाषा का सौष्ठव शब्दों के चयन मात्र पर निर्भर नहीं होता अपितु शब्दों की सटीकता पर अधिक निर्भर होता है। जरूरी नहीं है कि किसी रचनाकार की

रचना में परिष्कृत शब्दावली ही प्रयुक्त हो, साधारण बोलचाल के ग्रामीण शब्दों में भी वह चमक-दमक होती है जो रचना को प्रभावशाली बनाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि रचनाकार को लफ्जों की आन्तरिक संवेदनाओं एवं गहराइयों की अर्थसम्मत पहचान हो।

आप एक ऐसे गद्य-लेखक हैं जो बखूबी जानते हैं कि कौन-सा लफ्ज़ किस जगह अपनी सार्थक अर्थवत्ता ग्रहण कर सकता है। अपनी अभिव्यक्ति के प्रति इतने सतर्क लेखक बहुत कम देखने को मिलते हैं । आपके समग्र कथा वाङ्मय पर ध्यान दे तो यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि उन्होंने शब्दों के चयन में भरसक मेहनत की है। अपनी रचनात्मक कौशल से उन्होंने सिद्ध किया है कि इसके पीछे उनकी प्रयत्न लाघवता एवं सृजनात्मक प्रतिभा का अनोखा संगम है। आपने कहानियों और उपन्यासों में विविध प्रकार के शब्दों का उन्होंने अचूक और अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। आपकी रचनाओं में तत्सम, तद्भव, देशज, अंग्रेजी, उर्दू-फारसी आदि शब्द-प्रयोगों में औचित्य एवं सौन्दर्य का समन्वय एवं संतुलन देखा जा सकता है। विभिन्न श्रोतों से शब्द लेकर केवल शब्द-संख्या में वृद्धि करना लेखक का अभिप्राय नहीं है वरन् इनकी सार्थकता के प्रति वे अत्यधिक रूप से सचेत हैं।

आप अंग्रेजी के शब्दावली का प्रयोग भी प्रसंगानुरूप करते हैं। कहीं-कहीं पर उन्होंने अंग्रेजी भाषा के इन शब्द रूपों में परिवर्तन किया है। आपके उपन्यास एवं कहानी साहित्य में ऐसे बहुतेरे वाक्यांश मिलेंगे जहाँ पर अंग्रेज़ी के शब्दों का यथोचित उपयोग हुआ है । यथा –
'लड़की पूछती है और डॉक्टर कमरे के बाहर चला जाता है, तब तक आप लोग 'एडमिट कार्ड' बनवा लाइए।'
'मुझे व्यक्तिगत रूप से इमरजेंसी ड्यूटी रूम के थुलथुल लड़के और बाबू की यह चीज पसंद आ जाती है।'

'नहीं मालूम कि पिछली रात वहीं स्नेक बाइट के दो केस हो चुके हैं?'

'यही उसका कैरेक्टर है।'

'क्या कीजिएगा?... एक्शन लूंगा एक्शन ! और आप कहते हैं क्या कीजिएगा? यह विद्यालय की डिसिप्लिन का सवाल है, कोई मजाक नहीं।'

'यह अच्छा ही हुआ नहीं तो जादू अपनी सर्किल में फायरी स्पीच के लिए बदनाम थे।'

'राजनीति में ही कोई घास नहीं डालेगा – लोग पैरासाइट होने का तोहमत जो लगाएंगे सो अलग।'

'कुछ का कहना था कि जुलूसवाले छात्रनेता को अगले महीने छात्रसंघ का चुनाव लड़ना था इसलिए माहौल बनाने की खातिर उसकी पार्टी ने स्टंट खड़ा किया था।'

'दरअसल, असर बात का ही नहीं, साइकोलॉजी का भी पढ़ा था जिसका वे अचूक क्षणों में इस्तेमाल करते थे।'

'साहब उस समय रिलैक्स कर रहे थे और शीला को कोई गोपनीय और जरूरी डिक्टेशन दे रहे थे।'

'ईडियट! गधे! मेरी मां को गुजरे दस साल हो गए। यू नो!'

'पहले उन्होंने गर्मजोशी से उससे हाथ मिलाया, फिर लिपट गए, थिंक ऑफ डेविल एंड डेविल इज देयर।'

'आज पैरंट्स डे है न? सब रात में लौटेंगे मम्मी-डैडी के साथ।'

'यह कौन सी राइम है? यह भी कोई पोयम है?'

'उसके 'डैडी' का 'विलेज़' बिहार में कहीं बक्सर के करीब पड़ता है जिसके बारे में उसे पता नहीं।'

'उसकी मम्मी एक बार गई थीं सुनील (बड़ा भाई जो सेंट जोन्स में पढ़ता है) का मुंडन कराने तो लौटकर बीमार पड़ गई थीं, 'सोऽऽ डर्टी, सोऽऽ डर्टी कि बाबा रे बाबा !'

'यह मत कहना कि बीमार हैं, कहना कि बाहर गए हैं – आउट ऑफ स्टेशन।'

'न, वह जो कर रहा है, करने दें। सेल्फ डिपेंडेंट होने दीजिए!'

'दीपू ने तालियां बजाईं और हिकारत से कहा ईडियट! बास्टर्ड!'

'इन्हें खेल का एटीकेट तक नहीं मालूम।'

'सानू ने बोतलें फ्रिज में रखवाईं और उससे 'अंब्रेला' लाने को कहा।'

'मैं जानती हूं कि तुम भावुक हो, शुरू से ही इंट्रोवर्ट भी रही हो।'

'स्वीटी ने जैसे ही कहा, रेखा ठहाका मारकर हंस पड़ी – व्हाट पीस ऑफ पोयम। वंडरफुल!'

'हाय बरखुरदार! यू ग्रेट सन ऑफ ग्रेट इंडियन स्वायल ! रात कैसी नींद आई?'

'कल से ही उसका एग्जाम है, यह भी नहीं सोचा उसने।'

'उनकी बातें सोना के लिए अल्टीमेटम की तरह थीं।'

'आज विश्वविद्यालय में कन्वोकेशन है।'

'दान नहीं भी देगा तो किसी हिकमत से अपने नाम अलॉट कर लेंगे।'

'इस तरह मस्त और चकाचक थे कासी गुरु बनारस में, छोटी-सी नौकरी, किराए का डेरा 'हाउसवाइफ' बीवी, 'लोन' की मोटरबाइक' मोटरबाइक नहीं, पहले साइकिल।'

'यहां तक कि ऑफिस के लिए वे 'शार्टकट' छोड़ लंबा रास्ता पकड़ते।'

'ऐन वक्त पर कासी गुरु ने ऐसा ब्रेक मारा कि बाइक स्टैंड स्टील!'

'मैं माली के घर के पिछवाड़े से बोटाॅनिकल गार्डन की ओर भागा।'

'कुछ ऐसे हो कि वे अलग भी रहें और इसे एंज्वाय भी कर सकें।'

'वह महीनों बाद कैजुअल के रूप में भर्ती होकर कॉलेज आई थी।'

'प्रिंसिपल साहब बड़े नेक आदमी हैं – वेरी गुड मैन।'

'ऐसे प्रिंसिपल साहब ने वेलफेयर का भी मोहन को आश्वासन दिया है, लेकिन बड़े आदमी हैं।'

'शहर ने पोर्टफोलियो जांघ पर से उठाकर मेज पर रखा।'

'तीसरे प्रयत्न में पप्पू सप्लीमेंटरी के रास्ते धूमधाम से उत्तीर्ण हो गए।'

'बाजार के हिसाब से यह चीपो के चीपो और बेस्टो के बेस्टो पडेंगे आपके लिए।'

'याद रखो कि लड़का हो या लड़की दोनों ही तुम्हारी कैशबुक के पन्ने हैं।'

'उसे मैंने खुद पर मुस्कुराते या दूसरों को सुनाकर टांट कसते पाया है।'

'आपके दिल में एक घाव है जो सेप्टिक हो रहा है।'

'भई, डॉक्टर सांस कैसे लेंगे? इन्हें गैस्ट्रिक ट्रबुल जो है।'

'कुछ ऐसी भी लड़कियां हैं जो और लड़कियों से अपने को असामान्य और और असाधारण समझती हैं और जिनमें 'एडवेंचर' और जोखिम उठाने की ललक पैदा हो आई है।'

'वे निर्भय, निःशंक 'बूमरैंग' की तरह इस्तेमाल करते हैं उसका।'

'जैसे ही समझदार राजकिशोर ने विरेंद्र श्रीवास्तव को लुलुआना शुरू किया वैसे ही अस्सी का वह गोवा संसद के 'कॉन्फिडेंस मोशन' वाला विशेष अधिवेशन हो गया।'

'तब यह दुकान लंका की राजधानी थी – यूनिवर्सिटी के बच्चा नेताओं का 'किडी कॉन्वेंट'।'

'मित्रों, डॉक्टर गया सिंह माने स्पीडब्रेकर। बात या बस की चाहे जैसी स्पीड हो, उसमें ब्रेक।'

'दाढ़ी-बाल इतना बढाया कि 'इंटेलेक्चुअल' लगने लगे।'

'लेकिन संत लोग उन्हें स्पीडब्रेकर नहीं बोलते वह इतने मामलों में इतनी बार कचहरी से 'स्टे' ला चुके हैं कि संत उन्हें स्पीडब्रेकर के बजाय 'स्टेफ्री' (जो स्टे लाने के लिए फ्री हो) कहना ज्यादा पसंद करते हैं।'

'श्रीनिवासन न साधू हैं, न संन्यासी, न जोगी है, न बैरागी, सच्चे इंटेलेक्चुअल हैं!'

‘जग्गू मल्लाह के शब्दों में पिछले कुछ वर्षों से यह घाट अंगरेज-अंगरेजिनों का परमामिंट एग्जाई जमीनी हाउसबोट हो गया है।’

‘बाबा की योग-साधना का डिमांस्ट्रेशन था उस रात।’

‘राजा बाबू ने थिंक टैंक से पूछा।’

‘इस तरह रघुनाथ सहज हो ही रहे थे कि एक दिन घर पर उन्हें प्रिंसिपल के हस्ताक्षर से नोटिस मिली। आरोप दो थे – 'नेग्लिजेंस ऑफ ड्यूटी' और 'इनसबार्डिनेशन'!’

‘सोनल संजय के प्रोफेसर सक्सेना की इकलौती बेटी थी! थ्रू आउट फर्स्ट क्लास।’

‘उसे लगा कि किसी लड़की को टुकड़ों में नहीं, 'टोटैलिटी' में देखना चाहिए!’

‘ये सब पुराने कन्सेप्शन हुए-हमारे पापा मम्मी के जमाने के, हमारे नहीं!’

‘सोनल माने संगीत। चीपनेस इसे पसंद नहीं। फिल्मी गानों को संगीत नहीं मानती।’

‘बाई द वे, मेरी तो सलाह है कि वह फ्रस्ट्रेटेड होकर कुछ कर बैठे इससे पहले किसी मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट में एडमिशन करा दो। ऐसे नहीं तो डोनेशन देकर।’

‘देखो संजू 'ला ऑफ ग्रेविटेशन' का नियम केवल पेड़ों और फलों पर ही नहीं लागू होता। मनुष्यों और संबंधों पर भी लागू होता है।’

‘अधेड़ और तीन बच्चों – बल्कि युवाओं के पिता। अद्भुत 'सेंस ऑफ ह्यूमर' के मालिक!’

‘उसने बहुत समझदारी और विवेक से काम लिया था अपना 'बॉयफ्रेंड' चुनने में।’

‘लड़के लड़कियों में 'गासिप' की भी आशंका नहीं।’

‘मर्द का स्वाद! एक एडवेंचर! जस्ट फॉर फन!’

‘मीनू बलकट्टी थी – कंधों तक छोटे-छोटे बाल! एकदम लाल मेहंदी से रंगे। उम्र चालीस से ऊपर। स्वभाव से सीरियस और रिजर्व्ड।’

‘हां मैं भविष्य देख रही हूं जहां स्पेस ही स्पेस है।’

‘इसे रघुनाथ ही नहीं उनके गार्जियन भी समझते थे कि 'कोटा' या 'आरक्षण' एक ऐसा कवच मिल गया है उन्हें जिसका इस्तेमाल वे अपनी असफलताएं छिपाने के लिए करते हैं!’

‘सोचते सोचते उसे लगा कि यह सिर्फ एक ख्याल नहीं है – एक 'हॉरर' फिल्म है जो उसकी आंखें देख रही हैं!’

‘यह कैसेट सोनल को समीर ने प्रेजेंट किया था – तीन साल पहले।’

‘आरती गुर्जर उसके लैंडलॉर्ड की बेटी।’

‘उसने सोनल को हाउस वाइफ से ज्यादा नहीं होने दिया।’

‘उसने राजनीतिक 'ऐक्टिविस्ट' होना पसंद किया।’

‘जिस दिन शीला गई उसी दिन सोनल ने गेट और घर की तालियों के डुप्लीकेट बनवाए।’

‘दूसरी बात थी बाप का ईगो।’

‘आया था तो अस्पताल अपनी मां को लेकर उसकी हालत सीरियस थी।’

‘इस बेटे को उन्होंने अनाथालय से एडाप्ट किया था जब वह बच्चा था।’

‘जब तक मैंने पढ़ाई खत्म नहीं कर ली तब तक प्यार की अहमियत मेरे लिए 'फूटनोट' से ज्यादा नहीं थी।’

‘अगर कैरियर बन जाए तो इसके लिए सारा जीवन पड़ा है।’

‘किसी के अपने 'हनीमून' के किस्से थे तो किसी के पास आधी रात के।’

‘यही है नई पीढ़ी – नौजवानों की वह जेनरेशन जो देश को बचाएगी भी और बनाएगी भी!’

‘यही छत मेरे जीवन का टर्निंग प्वाइंट बनी।’

‘मुझे कभी-कभी लगता है कि मेरी बाढ़ नॉर्मल लड़कियों जैसी नहीं रही।’

‘पोजीशन होल्डर। शैडो की तरह अपनी साइकिल लिए मेरे साथ या आगे-पीछे चलने वाला।’

‘यूज एंड थ्रो, लड़की और निरोध समान है।’

'हो सकता है, पढ़ाई के दौरान ही प्लेसमेंट हो गया हो और घर बसा कर मस्ती मार रहा हो।'

'अपना बायोडाटा भेज रखा था यह उसी का नतीजा था।'

'वाटर वाटर एवरीवेयर, नॉट ए ड्रॉप टू ड्रिंक।'

'देख कर संतोष हुआ कि 'निपुल्स' अब भी वैसे ही ब्राउन और तने हैं जैसे थे।'

'डिप्रेशन में चली गई थी'

'इसमें 'एडवेंचर' के साथ 'थ्रील' भी शामिल था।'

'उसकी जगह डस्टबिन हो जाती है, दिल नहीं।'

'और यह भी कि गंभीर रस का जटिल विद्वान ही है या 'सेंस ऑफ़ ह्यूमर' भी है।'

'अबॉर्शन कराने के बाद कितनी अकेली हो गई थी परसो से।'

'यही मेरे डिप्रेशन की वजह है।'

'आधे घंटे के लिए रिसीवर अलग कर देता था और मोबाइल साइलेंस पर ताकि डिस्टर्बेंस न हो।'

'बोट हाउस का संसार 'फ्यूजन' का संसार था।'

आपके कथा वाङ्मय में अंग्रेजी शब्दों का देशीकरण भी अनेक जगहों पर हुआ है। इनकी सार्थकता को वाक्य-गठन के अनुसार देखा जा सकता है। आपकी रचनाओं में देसी उच्चारण के साथ अंग्रेजी शब्दावली को प्रस्तुत करते हैं। 'संकट' कहानी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "वे घर आते और मैं कहीं भी जाता होता, रास्ता रोक लेते, 'संकर, घर-घर ही है, और मलेटरी, मलेटरी ही! क्यों ?' फिर वे मुस्कुरा उठते। उनकी आँखें बन्द हो जातीं। मुँह में पानी भर आता। वे जीभ चटखारने लगते। लगता, उनके दाँतों में कोई लिबलिबी वस्तु आकर फँस गई हो। वे लम्बी साँस लेते, 'संकर, औरत संसार का अर्नामिंट है। नहीं, मास्टर साहब क्या पढ़ाते थे

तुमको ? फीगर आफ स्पीच? हाँ, तो औरत फीगर आफ़ स्पीच है !' वे फिर ज़ोर से हँस पड़ते।"[17]

"देर तक हाकी खेलने के बाद थक गया या ऊब गया तो थोड़ा पास आकर बोला, 'इस्टोरी सुनाओ तो आऊँ?'

'अपुन तुमसे क्या बोला ? इस्टोरी ! रज्जा, रैन्नी और परीं नहीं,' गर्दन में ऐंठन पैदा करने की कोशिश करते हुए बोला, 'अपुन विल्लेन माँगता है विल्लेन ! क्या समझा ! विल्लेन देगा तो चलेगा नहीं तो बाइ-बाइ !"[18]

उपर्युक्त पंक्तियां 'विलेन' कहानी से हैं जिसमें बंबईया हिंदी का प्रयोग हुआ है।

'काशी का अस्सी' उपन्यास में भी देसी अंग्रेजी युक्त बोली का प्रयोग लेखक ने किया है। यथा – "यू सी, ए ग्रेट पंडित ! व्याकरणाचार्या, जोतिषाचार्या, भिषगाचार्या, वेदाचार्या ! यू सी मेनी आचार्याज ! व्हाट अंडरस्टैंड? पामिस्ट आलसो ! हिन्दी इन ट्वन्टी सेवन डेज! संस्कृत इन सिक्स मन्थ !!'

...'अचारिन ! हिज वाइफ !' कन्नी धीरे से बोले और हाथ जोड़ लिये ! कन्नी की देखा-देखी अँगरेजिन ने भी हाथ जोड़े – 'नामास्ते !'

'वेरी हाईक्लास डिवोटी ! जब तक दर्शन नहीं कर लेते, मुँह में अन्न नहीं डालते ! पानी नहीं पीते! ही इज रीयल रिसी-मुनी। लाइक वसिष्ठा, लाइक विश्वामित्रा !"[19]

उपर्युक्त वाक्यों में अंग्रेजी का देशज रूप प्रयुक्त है। इस प्रकार लेखक व्यक्ति के संस्कार एवं परिवेश के अनुसार ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं।

आपकी कतिपय रचनाओं में उर्दू-फारसी के लफ़्ज़ों का प्रयोग भी बहुतायत से हुआ है । उनके उपन्यास-कहानी में उर्दू भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

'क अब इत्मीनान से बैठ गए थे।'

'क्या यह आप सभी के दिमाग की खुराफात नहीं है?'

'सफेद लिबास में दो अन्य व्यक्ति आए, उन्होंने उसे उठाया और ले चले।'

'जैसे ही उनकी नजर नीम पर पड़ती, उन्हें लगता कि उस पर बेमुरव्वत मार पड़ रही है।'

'अबकी उन्होंने कोई एतराज़ नहीं किया।'

'हालांकि पानी मेरी खिड़की से अभी काफी नीचे था लेकिन एहतियात जरूरी था।'

'गाली देना मेरी आदत नहीं है, गालियों की तुलना में चुप मारना मेरी दिमागी सेहत के लिए ज्यादा मुफीद पड़ता है।'

'दूसरे क्षेत्रों से आए नेताओं को कोफ्त होती है कि उनका क्षेत्र अकाल से क्यों वंचित रह गया।'

'बच्चे और बूढ़े तो उसके मुरीद हैं ही, औरतें भी मगन हैं।'

'हाकिम-हुक्काम डरते भी हैं और गुन भी गाते हैं।'

'छोटी से छोटी तफसील का जिक्र करते हुए एक माकूल और विश्वसनीय सिलसिला तैयार कर सकता हूं लेकिन मैं जानता हूं कि वह सब झूठ होगा।'

'क्यों, हेड कांस्टेबल होना चाहते हो? मैंने पूछा और बेसाख्ता हंस पड़ा।'

'मैं चीर घर से बाहर लाई हुई उस लाश की तरह हूं जिसकी शिनाख्त नहीं हो सकी है।'

'ठुक्कूलाल ने किसी तरह अपनी हंसी जब्त की और क्लास की ओर मुखातिब हुए।'

'वह अक्सर कहता कि अगर किसी आदमी को देखना हो तो सबसे पहले उसे उसकी आंखों में देखो क्योंकि वह अपनी समूची ख़ासूसियत के साथ वही जीवित रहता है।'

'सच कहो तो उसकी आंख उसका ताबूत है जिसे लिए हुए वह पैदा होता है और अंत में वहीं अपने को दफन कर लेता है।'

‘मैं उनकी शिनाख्त शायद उसकी आवाज से कर लूं मगर चेहरे से नहीं।’

‘इतने लंबे नाम से उन्हें कोई नहीं जानता था, लोग जानते थे उनके तखल्लुस 'शौक' से।’

‘तो, मुख्तसर में सिर्फ इतना है’

‘मगर उस जम्हूरियत की जबान पर और जिसके नाम पर यह निजाम चल रहा है।’

‘अंग्रेजी की स्पेलिंग की गलतियों से बचने के लिए उन्होंने एक खास तरीका ईजाद किया था।’

‘हमारे विशेष संवाददाताओं ने बताया कि इस अवसर पर उनके मनोरंजन के लिए ग्रामीणों ने परंपरागत शैली में बनेठी के अनेक हैरतअंगेज करतब दिखाए।’

‘वह मैदान फतह कर लेने की मुद्रा में पास आया और बगल में बैठ गया।’

‘मास्टर पहलवानी करना हाथी पालने जैसा बड़ा बेवाहियात काम है।’

‘हम वहां तफरीह के लिए गए थे, भौतिक मामलों पर विचार करने के लिए नहीं।’

‘उस शाम न तो किसी मुवक्किल को आना था, न कोई केस देखना था।’

‘अपनी गलती नहीं देखते तुम लोग और तोहमत मुझ पर मढ़ते हो।’

‘वह हाई स्कूल के मैनेजर होने की वजह से नहीं ऐसे भी बड़े सभा चतुर और तजुर्बेकार आदमी थे।’

‘ऐसा ही एक मरीज शाम के वक्त तशरीफ लाया हलीम के दवाखाने में।’

‘सपने की खुमारी क्यों?’

‘आखिर हमारी ख्वाहिश यही तो है लोग सुखी हों, सुखी दिखें।’

‘हमारी शख्सियत इससे ज्यादा एक दूसरे के लिए नहीं है।’

‘लेकिन गाल इतने गुदगुद हैं कि कहीं से कोई जुंबिश नहीं हो रही है।’

‘आप तो बातें करो लिखने-पढ़ने की और वे कहेंगे कि उनके ताल्लुकात शहर के फलां-फलां गुंडों से हैं।’

'ब्लैक का इफरात होना – यह मुश्किलें भी सबकी हैं।'

'वे मुझ पर व्यंग्य करते हैं खुराफत ढूंढ रहा हूं।'

'वे चुपचाप चाय पीते रहते हैं और मुझसे एक भी हर्फ बोले बिना उठ कर चले जाते हैं।'

'सुबह से कोई नया वाक़या या शगूफा सुनने को नहीं मिला है।'

'उन्हें अपने इन नेताओं पर गुस्सा है जिन्होंने आंदोलन की तुलना में अपने को तरजीह दी है।'

'पांच मील के घेरे में पांच साल के भीतर कभी किसी ने 'तुम' नहीं कहा था वह भी इतनी हिकारत से।'

'अस्सी पर पप्पू की दुकान में बैठे सभी गुरू पर्दे के पीछे की इबारत पढ़ रहे थे।'

'हर सुखी और सफल आदमी की तरह रघुनाथ ने भी अपने जीने, आगे बढ़ने और ऊंचाइयां छूने के कुछ नुस्खे ईजाद कर लिए थे।'

'सितंबर में वे अमेरिका जाएं चाहे जहन्नुम – इससे कोई मतलब नहीं।'

'थाना माने बहुत कुछ! जलालत। हवालात।'

'इन्हीं दिनों रघुनाथ को एक इलहाम हुआ।'

'ऐसी खलिश इतनी कशिश मैंने कभी नहीं महसूस की थी।'

'कौन जाने पापा मम्मी थाने पहुंच जाए और गुमशुदगी की रिपोर्ट लिखा दे।'

'फिर मेरी कमियां बताते हुए उसने वर्तिका की खूबसूरती के कसीदे पढ़े होंगे।'

'माफ कीजिए आप लोग मेरी इस गुस्ताख़ी के लिए खामखाह तकलीफ दी।'

'रात जिबह करती रही भोर तक उसे अलग मुझे अलग।'

'ऐसे हिंसक क्रूर लुटेरों और डकैतों और रहजनों के पास कोई संगठित सेना भी नहीं थी, अगर थी तो उस कबीले के लुच्चे लफंगे शोहदों की टोली।'

'लगता है, ऐश्वर्य की भी एक मियाद होती है और वह पूरी हो गई।'

'लेकिन परम फितूरी, न चैन से खुद रहे न किसी को रहने दे बलराम बेइंतहा प्यार करते थे इस किशन को।'

'नकल उतारना, स्वांग रचना, अभिनय करना, गौवें चराना, सभी ग्वाल-बालों के साथ दोस्ती गांठना, खेलकूद के नए-नए तरीके ढूंढ निकालना उसका प्रिय शगल था।'

'साम्ब ने उस जगह की तजवीज की, जहां वह गढ़ा था।'

'दारुक घोड़ों की वर्जिश करा के लौटा था।'

इस प्रकार विवेच्य लेखक ने उर्दू के लफ़्ज़ों का बहुतायत से प्रयोग किया है। कहना न होगा कि इन शब्दों के प्रयोग के कारण उनकी भाषा और अधिक खूबसूरत हो गई है।

रचनाकार ने अपने कथा वाङ्मय में विभिन्न भाषाओं के शब्दावलियों को अपनाया है। इन शब्दों की ध्वनि पाठक सहज ही सुन सकता है जो उसके मानस पर गहरा असर करती हैं। लेखक की शब्द साधना किसी सामान्य गद्य लेखक की तरह नहीं है बल्कि शब्द चयन लेखक ने किसी सतर्क कवि की भाँति किया है। कहीं-कहीं सामान्य बोलचाल के शब्दावलियों का सौन्दर्य तो देखते ही बनता है। ऐसे ही शाब्दिक-प्रयोगों के कारण आप हिंदी के अन्य रचनाकारों से अलग जान पड़ते हैं। सामान्य बोलचाल के ठेठ देशज शब्दों के कुछ वाक्य दृष्टव्य हैं – 'चौतरे के नीचे रोशनी में नदी का एक हिस्सा बड़ी लापरवाही से गुडुप-गुडुप कर रहा था।'

'उसके मुंह में दांत भी है और सिर पर बाल भी। सिर्फ चेहरा है जो 'चीज' जैसा रह गया है।'

'मारो, साली पनबाहा है।'

'सोचो, सुबह से बिना खाए-पिए इसी चकल्लसबाजी में पड़ा हूं और बसंत का बच्चा?'

'भाग जा नहीं हम तेरी कुटम्मस करते हैं अभी!'

‘नहीं तो ज्यादा किडबिड करोगे तो दाढ़ी समेत तुम्हारी गुमटी उठाकर फेंक दी जाएगी।’

‘यदि वह किसी मालदार आदमी का बेटा होता या उसके पास कोई जबर्दस्त पौवा होता तो आज वह सब लिखने की नौबत ही न आती जो मैं लिखने जा रहा हूं।’

‘वे कुछ पगलेट किस्म के जीव थे।’

‘यह सब क्या पंवारा आपने लिखा है?’

‘और वहां भीड़-भडाका, बाजा-गाजा, झैयम-झैयम।’

‘उनके भव्य और दिव्य चेहरे पर बुर्राक मूंछे कितनी फबती हैं ?’

‘लेकिन यह पक्का जान लो कि इतना रोबीला और खुर्राट मर्द कहीं ढूँढ़े न मिलेगा।’

‘मगर लोगों के न चाहते हुए भी, जब शौक साहब की निशानेबाजी अपने शबाब पर थी, वह दिन आ गया, जिसे कभी नहीं आना चाहिए था।’

‘अच्छा अब सारी बातों का लुब्बे-लुबाब सुन ले और यह हाय-हाय बंद कर दे।’

‘उनके आंकड़ों का कहना है कि सच इतना हरजाई कभी नहीं रहा कि मुजरिम की जबान पर और हो, थाने के मुंशी और दरोगा की जबान पर और।’

‘पत्नी ने उनकी खाकी वर्दी देखकर प्रसाद के साथ तीन-तीन बताशे बांटते हुए ऐलानिया कहा कि अब उन्हें किसी का डर नहीं पड़ा है, क्योंकि रानी-धानी के बाबू 'पियान' हो गए हैं।’

‘देवनाथ तश्तरी अपनी नाक के पास ले गए और मुंह बनाया,' यह तो भूकुडियाई लग रही हैं और बहुत बदबू भी कर रही हैं। कब की है?’

‘तुम तो खामखा एक न एक फुचंग लगाए रहते हो।’

‘लेकिन तब तक अंग्रेजी में बातें होने लगी थीं और उन दोनों की अड़बी-तड़बी उनके पल्ले नहीं पड़ रही थी।’

‘कभी-कभी खब्बू मेहमान आ जाता तो हम टापते रह जाते लेकिन उम्मीद की खुशी... क्या कहिए?’

‘लेकिन अफसोस कि वह लड़का बिलल्ला निकल गया।’

‘उस वक्त वे चौके में अपने हिलते हुए कमजोर दांतो के साथ जौ की रोटियों से जूझ रहे थे और यह खटराग सुन रहे थे।’

‘वरना तुम्हारा तो कुछ ना होगा, अपना कबाड़ा हो जाएगा!’

‘आज जैसे ही तुम्हारे दरवाजे पहुंची गब्बर खड़ा मिला।’

‘उसने तरन्नुम में एक भडऊ गाना गाया।’

‘साले दो-चार दिन के लिए भी आ जाएं तो जख हो जाते हैं।’

‘अपने तो जिभचटोर की तरह सारी जिंदगी घूम-घूमकर दूसरों का अन्न खाते रहे और अब चाहते हैं कि मैं भी यही सब करूं।’

‘लेकिन मैंने इस भकुए से एक बार भी नहीं कहा।’

‘बब्बन, संजय, गोपाल – सब कौआरोर मचाए थे।’

‘उनके हिसाब से यह सारा लस्तगा उसी के कारण था।’

‘पति लाख लुच्चई करे मगर वह सती हो, सावित्री हो।’

‘उनमें से एक जो बदमाश और फंटूश जैसा लगता था खाने के वक्त चम्मच मांग बैठा।’

‘कहते और हकलाते हुए एक सज्जन हवा की तरह विभाग की गैलरी में आधे घंटे से चक्कर काट रहे हैं और अपनी किसी लंगीमार योजना को सुलझा-उलझा रहे हैं।’

‘वे लोग बताते हैं कि अगर बमचख ही मचाना हो तो सैकड़ों बातें हैं।’

‘और ऐसे मसले पर आंदोलन तो एक तरह की मोटमर्दी ’

‘ज्वान सहसा चुप हो जाते हैं और माहौल फिर से ठस हो जाता है।’

‘तुम अस्सी के चुटुक्कों के साथ खेलना छोड़ो और चलो, अंग्रेजी बोलने का अभ्यास करो।’

‘60 शुरू होते-होते कवि भी 'फ़ुर्र' हो गए और केंद्र भी टूट गया!’

‘अब तक अस्सी के 'फेनामना' बन चुके राय साहब ने अकेले दम उनकी हालत बिगाड़ के रख दी थी !’

‘उन्होंने देखा होगा और इन्हें तब पता चला होगा कि नारी क्या चीज है? कौन जाने वह प्रेमी मजबूत रहा हो और उनकी 'कुटुम्मस' भी की हो।’

‘संत गिरिजा कभी लुक्कड़ किस्म के आदमी थे।’

‘राजकिशोर भभुआ के बाबू साहब हैं। यानी बिहारी और वे भी अस्सी पर दूसरे बिहारियों की तरह फटकलंडगिरधारी हैं।’

‘लोहिया के जमाने से समाजवादियों का 'कॉफी हाउस' था और आज भाजपाइयों का 'अप्पूघर' है।’

‘कहां हम भूइंहार हैं कहां एक भुच्चड़ जादो!’

‘लेकिन ऐसे नहीं, वह है पहलवान और तुम हो ससुर चमरकिट्!’

‘कौशिक गुरु इसी से पता चलता है कि अहीर कितने बकलंड होते हैं ।’

‘यह प्यार किसी सड़कछाप टुच्चे युवक का दिलफेंक प्यार नहीं था, इसमें गुणा भाग भी था और जोड़ घटाना भी!’

‘रघुनाथ की छवि गांव वालों की नजर में झगड़ा झंझट से दूर रहने वाले जितने शरीफ आदमी की थी उतनी ही सोंठ आदमी की – एक रुपैया में आठ अठन्नी भुनाने वाले आदमी की।’

‘इस बार की हड़ताल को समझने में ठाकुर गच्चा खा गए थे।’

‘दशरथ जिन्हें कभी कोई पूछता तक नहीं था उनकी बल्ले बल्ले थी।’

‘वह कलेवा लेकर आई थी अपने मरद के लिए!’

'ये सारी बातें बेटों की नजर में बुढ़भस थीं।'

'इस बार तो सनेही ने जो सूचना दी उससे वे और भी हदस गए!'

'यह मेरे लिए 'सरग नसेनी' थी।'

'जाने कहाँ से मन में आया कि अगर छत से पानी के निकास का रास्ता कुछ देर के लिए बन्द कर दें तो छत बुलबुलों से भर जाय और मैं खूब छपाक-छैयाँ करूँ।'

'साजिद से मेरा कोई रब्त-जब्त तक नहीं था तब तक सिर्फ 'हलो-हलो' था।'

'मोबाइल साइलेंस पर था लेकिन एक नंबर लगातार लुप-लुप कर रहा था।'

'गोपाल के 'अकबक' की एक ही टेक थी जिसे सुनाना वे कभी नहीं भूलते थे।'

'उनके तो अस्सी के अस्सियों बेटे संड-मुसंड घूम रहे हैं छुट्टा सांड की तरह।'

'तुमने किस घामड और निकम्मे आदमी के लिए लाखों के खून बहाए किशन?'

'कि अचानक कड़कड़-तड़तड़ की आवाजों और कौंध के साथ फैले हुए फेन पर छपाक् से कोई भारी-सी चीज गिरी।'

'आज सबेरे यदुवंशियों और भोजवंशियों के बीच बलवा हो गया।'

इस प्रकार आपके कथा साहित्य में गुड़ुप-गुड़ुप, पनबाहा, चकल्लसबाजी कुटम्मस, किडबिड, पौवा, पगलेट, पंवारा, झैयम-झैयम, बुर्राक, खुर्राट, हरजाई, पियान, भूकुडियाई, खब्बू, फुचंग, अड़बी-तड़बी,बिलल्ला, खटराग, कबाड़ा, भडऊ, जिभचटोर, भकुए, कौआरोर, लुच्चई, फंटूश, लंगीमार, बमचख, ठस, चुड़ुक्कों, लुक्कड़, फटकलंडगिरधारी, भुच्चड़, चमरकिट्, बकलंड, सड़कछाप, सोंठ, गच्चा, बल्ले बल्ले, कलेवा, हल्ला बोल, बुढ़भस, हदस, सरग नसेनी, छपाक-छैयाँ, अकबक, लफडो़, संड-मुसंड, छुट्टा सांड, घामड, बलवा जैसी शब्दावलियों से ठेठ हिंदी का ठाठ देखा जा सकता है। काशीनाथ जी अपनी रचनात्मकता में इन शब्दावलियों का यथायोग्य प्रयोग करते हैं। दरअसल ऐसा सृजन वही लेखक कर सकता है जो लोक की देशज संस्कृति से भली-भांति

परिचित है। इस तरह के प्रयोग स्पष्ट करते हैं कि लेखक कितनी गहराई से लोक जीवन से जुड़ा हुआ है। कथाकार इन शब्दार्थों के नाद सौंदर्य और अर्थ सौंदर्य की छटाओं को जानता है और अपने कहानी-उपन्यास साहित्य में सायास-अनायास ही प्रयोग करता है।

5.1.3 मुहावरे एवं कहावतें

प्रत्येक बोली भाषा में विशिष्ट मुहावरें एवं कहावतें प्रचलित होती हैं । बोलियों में प्रयुक्त मुहावरों-कहावतों के स्वाभाविक प्रयोग से भाषा-सौन्दर्य में वृद्धि होती है। आपके कथाओं में मुहावरेदार भाषा तथा कहावतों का प्रयोग सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में प्रयुक्त कतिपय मुहावरों के कारण भाषा-सौंदर्य में जितनी वृद्धि हुई है, शायद ही किसी अन्य घटक के कारण हुई हो । मुहावरों के स्वाभाविक एवं सरस प्रयोगों से रचनाकार की भाषा अधिक जानदार प्रतीत होती है। उनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों के प्रयोग देखिए –

'वे लहलहाती हुई फसलें देखतीं और सिर धुनने लगतीं।'

'और इसकी जगह एक दूसरी चर्चा चली कि वह औरत गोठी साहब के गले यूं ही मढ दी गई है और गोठी उसेसे पीछा छुड़ाने के लिए भागते रहते हैं।'

'वह हमेशा मुंह फुलाए रहती है।'

'यह आवाजें जो नदी की छपछप और हलकोरों के बीच दब रही थीं, धीरे-धीरे तेज होती गईं और मैं अपने कान खड़े कर दीवार से उठ गया।'

'आप कर्जे में गले तक लबालब डूब जाएं इसके पहले ही वह दफा हो जाए।'

'उसकी आंखें धमक रही थीं और अपने चौड़े जबड़े के अंदर वह दांत पीस रहा था।'

'देखता हूं कि अभी-अभी दो जने गले मिल रहे हैं और हंस रहे हैं तो छाती पर सांप लोटने लगता है। लेकिन फिर देखता हूं कि उनमें से एक खड़ा है और दूसरा जमीन पर पड़ा तड़प रहा है तो तबीयत बाग-बाग हो जाती है।'

'बेशक, जब अभी यह हाल है तो आगे और गुल खिलाएगी।'

'यह अजीब सी बात है कि मैं उससे मुंह चुराने लगा था।'

'मैं अपनी आंखें चुरा लेता हूं और वह बसंत के कान में बुदबुदाता है।'

'यदि ये वापस हो जाए तो पेशाब से मूंछें मुड़वा दूं, समझा?'

इस प्रकार प्रस्तुत वाक्य में 'पेशाब से मूंछें मुंडवा देना' जैसा मुहावरा आया है जो ठेठ देशज वाणी को प्रस्तुत करता है। आम बोलचाल की बोली में इस तरह के मुहावरे सहजता से उपलब्ध हैं जो उस प्रदेश की लोक भाषाओं से हमें अवगत कराते हैं।

'वह कुछ बोलना भी चाहता था, लेकिन उसके मुंह से बकार नहीं निकली।'

'मालिक त्योरियां चढ़ाए इधर से उधर चक्कर काट रहा था।'

'सेठ, माफी बड़ी चीज होती है और उस जैसे कौड़ी के तीन के लिए तो बहुत बड़ी।'

'वह गुस्से में है और मुंह फुलाए है।'

'औरतें हंसते-हंसते लोटपोट हो रही हैं और मर्द दूर से ही बच्चों पर गालियों की बौछार कर रहे हैं।'

'इन सामानों को समेटो और रफू हो जाओ।'

'इनसे कहीं ज्यादा खौफनाक और टुच्ची बातें रोज-ब-रोज हर जगह और हर समय हो रही हैं, आप देख रहे हैं और किनारा कर रहे हैं।'

'मालिक बगले झांकने लगा तो उसने उसकी जुल्फें मुट्ठी में लीं।'

'घमोच चिंघाड़ता रहा लेकिन कोई भी अपनी जगह से टस से मस नहीं हुआ।'

'लड़खड़ाते चले आ रहे आर्य बरगद का चेहरा तमतमा रहा था।'

'उसी अधिकार से यह अंतिम निर्णय देता हूं कि यहां से रातों-रात दफा हो जाओ।'

'वे नासमझ हैं, बड़ी जल्दी ही घुटने टेक देने वाले हैं।'

'इस अकाट्य तर्क को सुनकर जनसमूह त्राहि-त्राहि कर उठा।'

'पोट्ठपाद को ऐसा दंड दे कि राज्य में कोई भी महाराज के विरुद्ध सिर न उठा सके।'

'वहां कनखी देखते हुए बोला या शरमाते हुए मुस्कुराया या मूछों पर ताव देते हुए खड़ा हो गया।'

'मैंने चुपके से कपड़े उतारे और दबे पांव ऊपर चला गया।'

'मजदूर रात दिन खून-पसीना एक करके फसल खड़ी करते हैं और जमींदार गुंडों के बल पर उन्हें कटवा कर खलिहान भर रहे हैं।'

'वे आपस में कानाफूसी करते और फिर अपनी जगह तैनात हो जाते थे।'

'शौक साहब उसके गाफिल होने या झपकी लेने या थकने का इंतजार करते, और औचक में हमला बोल देते।'

'जब वह अस्पताल में जिंदगी और मौत के बीच झूल रहा था, वे उसे देखने भी गए थे।'

'अजीब आदमी हैं आप! वह भी ताव खा गया।'

'वह मुस्कुरा रहे थे और इस छोटी सी जान पर फिदा थे।'

'वे खटखटाने के इरादे से इधर-उधर ताक-झांक कर ही रहे थे कि जाने किधर से आकर कोई मुलायम और कोमल सी चीज उनके पैरों में लटपकाई और वे उछल पड़े।'

'अगर चाहते हो कि कोई तुम्हारी बात से मुकर न सके तो उसे साइकोलाजी की तरह देखो। उसकी आंखों में अपनी आंखें डालकर।'

'सीताराम ने जिस समय मुंहमांगी चीज खिलाने की बात कही थी उस समय उनका दिमाग खाली था।'

'उन्होंने अपने उसूलों की अच्छी खासी कीमत चुकाई थी और इसका उन्हें कोई अफसोस नहीं था।'

‘उनके बच्चे अच्छे स्कूलों का मुंह नहीं देख सके।’

‘करना-धरना कुछ नहीं बस दून की हांके जा रहे हैं।’

‘उस इलाके में उनकी मर्जी के बगैर पत्ता भी नहीं हिलता है।’

‘लल्ला के बारे में ऐसी बढ़-चढ़कर बातें बताते थे कि सुनने वाला दांतो तले उंगली दबा लेता था।’

‘अपना ही देख लो, एक भी मेहमान बढ़ जाता है तो फटने लगती है।’

‘अपना बेटा है, आकाश-पाताल एक कर देगा कुछ उठा नहीं रखेगा।’

‘वे जिस मुसीबत से बचने के लिए दौड़-धूप कर रहे थे वह उन्हें गले पड़ती हुई नजर आ रही थी।’

‘उसके मन में तो चोर था कि इतने रस में जो ही दो चार पिड़िया गुड़ होता।’

‘समझ रहा था कि तूं हमें भी पट्टी पढ़ा देगा।’

‘दरअसल गांव का नाम लेते ही बहुत सारी बातें एक साथ मेरी जबान से बाहर आने के लिए धक्का-मुक्की करने लगती हैं।’

‘और इतना ही नहीं लंगोट का ढीला हुआ तो बदनामी गांव भर की अलग से।’

‘अगर वह साला औरों की तरफ सुराजी रहा होता तो एक बात थी लेकिन यहां तो एक चोर की वजह से सारी खेती, सारी इज्जत, सारी मान मर्यादा मिट्टी में मिल गई।’

‘सारी खुशी काफूर हो गई और मैं फूट-फूटकर रोने लगा।’

‘पता भी लगाया जा सकता है और भंडा भी फूट सकता है लिहाजा उन्होंने शहर जाने का फैसला किया।’

‘अब उनका चोला मगन था।’

‘भूख तो उन्हें भी थी लेकिन पंडी जी की तरह उनके प्राण नहीं निकल रहे थे।’

'बनियाराम की सिट्टी-पिट्टी गुम। सारी हेकड़ी अन्दर घुस गई।'

'सारी व्यवस्था उलट-पुलट हो जाती और आने वाले छह महीने के लिए मेरा दिवाला निकल जाता।'

'निहायत ही संगीन और गोपनीय एक और मामला है जिसे मैं अपने सीने में छुपाए हूं।'

'बस इतनी सी इनकी दुनिया है और इस दुनिया में थोड़े दिनों के लिए हम हैं और ये हमें हाथों-हाथों लेने के लिए बेताब हैं।'

'मेरे बच्चे आंखें फाड़-फाड़ कर उस डाइनिंग हॉल को देख रहे हैं जिसके तीन तरफ कमरे हैं ड्राइंग रूम और गेस्ट रूम के सिवा।'

'वैसे तो भाई साहब, जिन्हें, हमारे रिश्ते का पता है, वे सभी मुझसे आपकी तारीफ करते हैं, लेकिन आपकी किताबें मेरे पल्ले नहीं पड़तीं।'

'मुझे काटो तो खून नहीं। थोड़ी देर खामोश रहा, कुछ कहते नहीं बना।'

'मेरी सक्ति और ईमानदारी का डंका पिट चुका है।'

'अपने से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारेगा!'

'फिर भी आप लोगों का मुंह टेढ़ा ही है !'

'इसको क्या कहेंगे? इसको कहेंगे – आम के आम गुठलियों के दाम! हां, मुहावरे में यही कहेंगे!'

'नामी-गिरामी वकील बड़े भाई मुझ पर जान छिड़कते थे।'

'रेशमा मेरी क्लासमेट थी, हॉस्टलर थी, सड़क हो या लाइब्रेरी हो या कैंटीन अकेली दीखती थी हमेशा कोई फब्तियाँ कसे या सीटी मारे उसके कानों पर जूं नहीं रेंगती थी।'

'जब तीन पेग चढ़ा चुके और थोड़ी तरंग में आए तो आवाज दी पिताजी को।'

'किसी की समझ में कुछ आए, इसके पहले ही वे मोटरसाइकिल से नौ दो ग्यारह।'

'दरअसल देह की समझ ने दिमाग की खिड़कियां खोल दीं।'

'उसकी ऐसी हालत थी, जैसे उसके भाग्य का निपटारा होने वाला हो।'

'मां, तुम जाओ यहां से। देखो दिमाग मत चाटो।'

'इतना तो है ही कि अबकी फिर लड़की हुई तो कोई घास नहीं डालेगा।'

'मैंने दूसरी बच्ची के समय ही कहा था कि अब मेरी जिंदगी नर्क मत करो।'

'लोगों ने बहुत कहा किंतु उन्होंने इस कान से सुना और उससे निकाल दिया।'

'तो क्या चाहते हो? साल भर पढ़ते-पढ़ते तो सूखकर कांटा हो गए, छुट्टी में भी पढ़ें!'

'अगर कोई राय बताओ तो कानून चोदने लगता है!'

'यह फायदा-नुकसान की बात ही नहीं है, तुम्हीं लोगों की भलाई के लिए कही जा रही है – जाना हो जाओ, चाहे अपनी गांड मराओ!'

'इतनी जलन इसीलिए हो रही है कि लोचन बाजी मार ले गया और हम टापते रह गए।'

'संपूर्ण शरीर की नसें तड़फड़ाकर तार-तार होने लगती हैं।'

इसके अलावा आपके कथा संसार में ऐसे प्रसंग भी आए हैं जिनमें एक क्रम में अनेकानेक मुहावरों का प्रयोग हुआ है। इस संदर्भ में उनकी कहानी 'माननीय होम मिनिस्टर के नाम' को लिया जा सकता है। यथा – "ऐसे-ऐसे पचासों कानूनगो मेरे बाएँ-दाएँ झूलते रहते हैं। मेरी मर्जी पर हैं ये लोग। जब चाहूँ तब ऐसे-चिटकी बजाकर हमेशा के लिए छुट्टी कर दूं। बस एक टेलीफोन की जरूरत है...तो समझा कानूनगो साहब ! आपको करना पड़ेगा। झख मारकर करना पड़ेगा। बहुत सहलाया हमने। सैकड़ों रुपए मक्खन लगाने में चले गए। मैं जब तक नहीं बोलता, तभी तक नहीं बोलता। भैया, बाबू, सरकार, हुजूर कहते-कहते जबान घिस गई।

...'हाँ-हाँ, ससुर नेताजी तो बिना काम-धन्धे के हैं। इनके न खेत हैं, न बाल-बच्चे हैं। पट्टी पढ़ाते हो हमें ? पंडत, मैं तो इन सालों के चक्कर में ऐसा फँसा हूँ कि दुर्गति हो गई।

'मैं आपका ताबेदार हूँ। और चुप लगा गया तो शेर हो गया है। बताता हूँ अबकी हरामखोर को! कल जब दो सौ आदमियों का जुलूस लेकर पहुँचूँगा, धरना दूंगा, अनशन करूँगा तब पता चलेगा। आप भी सुन रहे हैं कानूनगो साब !...अरे, तुम लोग खड़े-खड़े मुँह क्या ताक रहे हो ? ऐं, क्या मुँह ताकते हो ?'

मौर्या सिर उठाता है। उसका चेहरा गुस्से में खिंचता है और काला पड़ जाता है, 'ऊ कानूनगो हैं और ई क्या हैं, चूतिया हैं ? ये भी तो कानूनगो हैं। अभी-अभी चले आ रहे हो और रोब झाड़ रहे हो ? इतने ही काबिल होते तो नेताजी को तहसील की धूल नहीं फाँकनी पड़ती। समझा ? अब सुनो, तुम्हारे हलके के कानूनगो यह सामने बैठे हैं। अब इन्हीं के यहाँ तुम लोगों का बयान भी होगा और कागद भी लिखा जाएगा।'

'अब कब कागद लिखा जाएगा, तीन तो बज रहे हैं !'

मौर्या की पलकें उठती हैं, 'उल्लू हो क्या? पहले सलाम तो करो सरकार को!' कास्तकार उसी तरह खड़े रहते हैं - जड़ और चुप। फिर उनमें से एक जबान खोलता है, 'देखिए, नेताजी, आप बीस दिन से एक-न-एक साहब को सलाम करवा रहे हैं और हर सलाम में सौ-पचास डूब रहा है।...ऐसे आप कहते हैं तो सलाम हुजूर !'

'यह क्या बत्तमीजी है !' कानूनगो बड़बड़ाता है।

'बत्तमीजी नहीं साहब !' दूसरा झुंझलाकर बोलता है, 'दौड़ते-दौड़ते हम तंग आ चुके हैं। आप तो आज आए हैं, इसके पहले यही मौर्या साहब कभी इस कानूनगो के यहाँ कागद लिखवाते थे, कभी उस कानूनगो के यहाँ ।...हद है यह!'

मौर्या फटी आँखों से उनकी तरफ ताकता है।"[20] इस प्रकार प्रस्तुत कृति में मौर्या नाम के पात्र के मुख से आयीं यह बातें मुहावरों से भरी हुई हैं।

लेखक ने अपने उपन्यास साहित्य में भी मुहावरों का यथा योग्य प्रयोग किया है। उपन्यासों में प्रयुक्त मुहावरेदार भाषा के कुछ उदाहरण देखिए –

'फिर अचानक उनका चेहरा पत्थर हो जाता है।'

'मैं तुम्हें एक मिनट रोककर अपने पहुंचने का ठिकाना पूछता हूं और तुम कन्नी काट जाना चाहते हो...'

'यह क्या कि एक आदमी खेत अगोरने की नीयत से खड़ा हो और आप उसमें मुंह मारे रहे हों।'

'लेकिन साहब मेरे ज्ञान की बधिया बैठा दी मुहल्ले के आदिवासियों ने।'

'जब अस्सी के सभी नेता वी.पी. को गच्चा दे गए थे, अकेले राय साहब थे जो 'रजवा' की डूबती नैया का डांडा संभाले हुए थे!'

'उसमें भी अगर लिख-पढ़ गया तो गया काम से ! और लिख-पढ़कर भी कहीं लेखक-कवि हो गया तो कौड़ी का तीन समझिए!'

'देखो, विचार करो ठंडे दिमाग से, जब अपनी गांड में खूंटा पड़ा हो तो कोसिस करनी चाहिए कि अपने में से निकाल कर दूसरे में डाल दें।'

'अगर तुलासिया की औरत के साथ भी यही हुआ तो आज उसे ढंकने-तोपने की क्यों कोशिश कर रहे हो? सच-सच कहने में क्यों फट रही है?'

'वे गालियों के मामले में ही माइक टायसन नहीं थे, इसलिए भी थे कि मन्दिर-मस्जिद के मुद्दे पर भाजपाई राधेश्याम के कान चबा गए थे।'

'अरे, तो सरवा बोलता भी खूब है न। और बोलता क्या है दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है...'

'बीच-बीच में उलाहने सुनाई पड़ते थे सन्तों के – कि बन्धुवर, जाने कब से कहां-कहां मराते घूम रहे हो, कभी इधर भी आओगे ?'

'इससे पहले कि घाट के विदेशी और चौराहे के 'स्वदेशी' देसी मुहल्ले की खाट खड़ी कर दें – आओ और देखो कि किस कदर 'गँडऊ गदर' मचा रहे हैं दड़बे के गदरहे।'

'बहुत विद्वत्ता मत पादो हियां! कविता का आनंद लेना हो, ल्यौ; नहीं फूटो हियां से!'

'वे कल तक निठल्ले थे – इंटर-बी.ए. करके पिछले चार-पांच सालों से चौराहे पर टिल्लो मार रहे थे।'

'भगवान धरती फोड़कर प्रगट भए हैं, अब सरकार चाहे भी तो झांंट नहीं उखाड़ सकती!'

'किधर से पढेंगे पेज को? ऊपर से, नीचे से, बाएं से, दाएं से, चारों में से किसी कोने से पढ़ कर दिखा दो तो पेशाब से मूछें मुडवा दें।'

'और एक इसी अस्सी का है कसिया चूतिया, उसे भगवान को भी दे दो, तो झंडू बना के रख देता है।'

'चाहे कोई बात करो, ये कम्युनिस्टवे भोंसड़ी के अपनी फिलासफी पेलने से बाज नहीं आते।'

'बाबूसाहबों को जब खुदै नहीं पोसा रहा था और दांत निपोरने लगे थे तो अपने पुरोहितों के लिए क्या करते।'

'जाने कहाँ-कहाँ से फाँस लाता है नई-नई रंडियों को लौंडा का नाती !' पड़ाइन बुदबुदाई – 'चुपके से खिसको, नहीं मुहैं झौंस देंगे किसी दिन !'

'वे जब एक अंगरेज को रखना चाहते थे तो क्यों आसमान सिर पर उठाया था तुमने?'

'बैठे-बैठे मक्खियां ही मार रहे थे आप।'

'जिसे जीना होगा, झक मार कर मुंह मांगे दाम पर खरीदेगा, वरना मरे इनके बगैर।'

'उसकी घिग्घी बंध गई।'

'गुरु ठहाकों के बीच 'स्पीड' के खिलाफ जेहाद छेड़े ही हुए थे कि एक दिन चौराहे पर एक नया धमाका।'

'हम से बनेगा तो जरूर करेंगे, बाकी रही अपनी बात तो हम कुत्ते से मराएं किसी के बाप का क्या ?'

'जिन्हें ठीक से गांड धोने का भी सहूर नहीं वह अपनी और दूसरों की 'हैसियत' देखने लगे हैं।'

'वे घर के किसी कोने में बुक्की मारे पड़े थे और अपनी किस्मत को झंक रहे थे।'

'काशी का अस्सी में बनारस के अस्सी चौराहे पर बैठकबाज जिस ज़बान में बोलते हैं उसके मुहावरों का लहजा कुछ अलग किस्म का है। अपनी गांड में खूंटा पड़ा हो, क्यों फट रही है, कहां-कहां मराते घूम रहे हो, विद्वत्ता मत पादो हियां, झांंट नहीं उखाड़ सकती, पेशाब से मूछें मुडवा दें, झंडू बना के रख देता, सब की गांड में पलीता लगा है, कुत्ते से मराएं किसी के बाप का क्या?, ठीक से गांड धोने का भी सहूर नहीं आदि वाक्यों में लेखक अस्सी की जनता द्वारा बोले जाने वाले मुहावरों का प्रयोग करते हैं, जिसमें तथाकथित अभद्र कहीं जाने वाली वाणी का प्रयोग होता है। लेकिन कहना पड़ेगा कि इन मुहावरों के कारण लेखक की भाषा में एक प्रकार की स्वाभाविकता और जिंदादिली आयी है। मुहावरों के कुछ और प्रयोग द्रष्टव्य हैं–

'वे यह सारा कुछ अपनी आंखों में बसा लेना चाहते हैं।'

'आज जब मृत्यु बिल्ली की तरह दबे पाँव कमरे में आ रही है तो बाहर जिन्दगी बुलाती हुई सुनाई पड़ रही है?'

'सारी साधें धरी रह गई थीं।'

'गांव में सोता पड़ चुका था!'

'सिवान गुलजार हो गया था।'

'माथा पीटते हुए फिर बैठ गए रघुनाथ।'

'रघुनाथ ने दांत पीसते हुए वहीं से कहा!'

'दोनों के चेहरे फक्क। काटो तो खून नहीं।'

'अशोक विहार में इतने दिनों से चैन की बंशी बजा रहे हैं और खटिया तोड़ रहे हैं – उसी के चलते!'

'जिसे हिंदुओं ने दिन दहाड़े फूंक दिया था!'

'इतना सुनते ही यादव बेचैन हो उठते और फटी आंखों से एक-दूसरे का मुंह देखने लगते।'

'उन्होंने गोपाल की टूटी फूटी बातों से जो निचोड़ निकाला और उससे जो सिलसिला बनाया वह रोंगटे खड़ा करने वाला ही नहीं दिल दहला देने वाला भी था।'

'नमक-मिर्च लगी हुई इस कथा को बलराम ने रस लेते हुए ऐसे सुनाया कि कृष्ण भी हंसते-हंसते लोट-पोट हो गए।'

'सुना कि युधिष्ठिर मुंह फुलाकर बिना कुछ कहे महल से चल पड़े।'

'क्या समझते हो, मैं हिमालय धूनी रमाने के लिए गया था?'

उपर्युक्त मुहावरों के प्रयोगों से निश्चित ही भाषिक सुंदरता में वृद्धि हुई है । कहीं भी इन मुहावरों के कारण भाषा अस्वाभाविक या कृत्रिम नहीं लगती, बल्कि मुहावरों के सहज एवं स्वाभाविक प्रयोगों के कारण आपकी भाषा इतनी मनोमुग्धकारी और चित्ताकर्षक बनी है ।

इसके साथ-साथ लेखक ने कहावतों का भी यथासंभव प्रयोग किया है। इस संदर्भ में निम्नलिखित वाक्यों पर गौर कीजिए –

'और इन दोनों जगहों में नहीं हुआ तो फिर अपने काम पर होऊंगा यानी 'कनक-कनक ते सौ गुनी' के दो कनकों में कौन सा कनक धतूर है – यह समझाने पर।'

'वे लोगों की नजर में पागल भले हो लेकिन उन्होंने महसूस किया था कि 'सांच की आंच बे-अंदाज कड़ी होती है।'

'जाके फटी न पांव बिवाई सो का जाने पीर पराई। सो, उसने भी तो लड़कियों की शादियां की होंगी।'

'उन्हें पत्नी की बुद्धि पर तरस आया और सोचा समझदार के लिए इशारा ही काफी होता है लेकिन...'

'मारे मेहर, पादे-पड़ोसन वाला हाल हो रहा था सब का।'

'लात से तो भूत भी भागता है साहब।'

'जिस समय यह लोकवाणी हुई कि 'पुरवा बयार और रांड का रोना असुभ होता है' उस समय चलते-चलते मेरे पैर अस्सी चौराहे की सरहद छू रहे थे।'

5.1.4 वाक्य विन्यास

विवेच्य रचनाकार के साहित्यिक कृतियों में वाक्य-विन्यास की भी अनेकानेक छटाएं हैं । वे जिस प्रकार शब्द चयन के प्रति सचेत हैं उसी प्रकार वाक्य-नियोजन के प्रति भी अत्यन्त सतर्क हैं। शायद पात्रानुकूल वाक्य नियोजन के प्रति लेखक कुछ ज्यादा ही सतर्क है । आपके कतिपय अनुच्छेदों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि उनके कथा वाङ्मय में छोटे-छोटे वाक्य-विन्यासों का सार्थक प्रयोग हुआ है। रचनाकार लघु वाक्यों को बुनने की कला में माहिर हैं। लम्बे-लम्बे वाक्य-विन्यास व अनुच्छेद उनके यहां कम ही देखने को मिलते हैं। ऐसे बहुत कम अनुच्छेद होंगे जिनकी लम्बाई दस-बाहर पंक्तियों से अधिक हुई हों। लेकिन ऐसे अनुच्छेद ढेरों मिलते हैं जिनमें केवल दो-तीन ही शब्द हैं, यहाँ तक कि केवल एक शब्दों वाले वाक्यांशों अथवा शब्दांशों का प्रयोग भी हुआ है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित अनुच्छेद देखे जा सकते हैं। यथा – "पत्नी को कल दोपहर गाँव जाना है। उनके दादा आए हैं। वे

एकदम नीचे सोए होंगे। घर के और लोग भी खा चुके होंगे। पत्नी खा रही होंगी। वे देर कर रही हैं। यह मुझे पसन्द नहीं।

पत्नी छत पर दिखती है। हवा का झोंका आता है। आँचल हिलता है। एक गुलाबी रंग वातावरण में गूंज जाता है। मैं बोलता नहीं हूँ। हाथ उठता है। सिर झुकता है-एक ख़ास अन्दाज़ में। जिसका अर्थ प्रणाम नहीं, आदाब है।

पत्नी के चेहरे पर मुस्कान है। एक उल्लास। आज उन्होंने दो चोटियाँ की हैं। दो चोटियाँ मुझे प्रिय हैं। एक चोटी गर्दन के दाएँ से निकली है। और छाती पर आकर निश्चिन्त हो गई हैं। केवल रिबन है जो हवाओं के संग है।"[21]

"राघो ने फिर मुँह पर कम्बल खींच लिया। करवट बदली। पुआल, जिस पर वे सोए थे और हम बैठे थे, खुरखुरा उठा। जाड़ा अधिक था। हवा तेज़ थी। लोग सो चले थे। फिर भी राघो की दालान में लालटेन जल रही थी। हम वैसे ही बैठे रहे।

राघो हमारे साथ पढ़े-लिखे; दस में चार बार फेल हुए, तो भाग गए। उन्हीं दिनों भर्ती खुली थी। तन्दुरुस्त थे ही, चुन लिए गए। तब से मलेटरी में सिपाही हैं। साल में एक बार छुट्टी होती है, और छुटटी होती है, तो सीधे घर आते हैं।"[22] यह उदाहरण 'आखिरी रात' और 'संकट' इन दो कहानियों से लिए गए हैं। यह आपके लेखन की आरंभिक दौर की कहानियां हैं। इनमें छोटे-छोटे वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है। समूची रचना लघु वाक्यों से भरी पड़ी है। प्रस्तुत कहानी में शायद ही कोई लंबा वाक्य लिखा गया हो। नमूने के लिए पेश है यह अनुच्छेद – "एक दिन अचानक देखा-उसने सहन छोड़ दी है। दूसरी मंजिल के आगे एक गैलरी थी। वह उसमें खेलने लगी है। 'खैर...' मैंने सोचा । कोई बात न थी। फाइल ली। कॉलेज की ओर मुड़ गया। सहसा किसी दिन वह छत पर दिखी। तीसरी मंजिल । वह वहाँ खेल भी नहीं रही, टहल रही है। हल्के-हल्के। चुपके-चुपके जिस ओर देखती है, देखती रहती है। ढेरों बाल मुँह पर झूलते

रहते हैं। वह सिर को झटकती है। बड़ी लापरवाही से। एक अन्दाज में। सारे बाल उछलते हैं। पीछे आते हैं। लेकिन आश्चर्य है, मुँह पर लटके बाल ज्यों के त्यों हैं। फिर वह दूसरी ओर चल देती है।

'कोई बात नहीं।' मैंने सोचा और उसके परे देखा। आसमान नीला है। साफ है। उसके काफी नीचे शून्य में पतंगें झूल रही हैं। काँप रही हैं। एक रोज मैं उधर से गुजरा। वह नीचे दरवाजे के पास खड़ी मिली। उसने मुझे देखा। आँखें झुकाईं। जरा सा मुस्कुराई। मैंने ध्यान दिया। अब वह हँसने और मुस्कुराने में अन्तर करने लगी है। बाबू उसके घर जाते हैं तो हँसती है।"[23] यह उदाहरण 'बैलून' से लिया गया है। इसमें भी छोटे-छोटे वाक्य-प्रयोग हैं। एक और उदाहरण देखिए – "आज विश्वविद्यालय में कन्वोकेशन है। दो बजे। शहर में चहल-पहल है। लोग इधर से उधर जा रहे हैं। उधर से इधर आ रहे हैं। लड़के हैं। लड़कियाँ हैं। चारों ओर एक जल्दबाजी है। इनको सर्टिफिकेट लेनी है। उनको गाउन लाना है। इन्हें ऊँची एड़ी का सैंडल पहनना है। उन्हें खाँसना है। सब व्यस्त हैं। किन्तु वर्मा जी स्वयं को बेकार महसूस कर रहे हैं। ऐसा नहीं कि वे खाँस नहीं सके हैं। वे अब तक कई बार चौमुहानी पर गए हैं। खाँस भी आए हैं। किन्तु वे इन दिनों अनुभव करने लगे हैं कि जिन्दगी खाँसी नहीं है।

'कहीं भी वह प्रेम-वह जीवन नहीं है।' वर्मा जी ने निराशा में सिर हिलाया। मैंने हामी भरी।

इस मैदान के उस किनारे एक पेड़ है। उसके पास दो-तीन लड़के हैं! वे वर्मा जी को देख रहे हैं। आपस में कुछ घुसुर-फुसुर भी कर रहे हैं। यहाँ प्रायः दिन-भर लड़के खेलते हैं। वर्मा जी अक्सर बाँस की कुर्सी लिये आते हैं। अखबार लेकर बैठ जाते हैं। पढ़ते समय बीच में ऊँघ जाते हैं। कोई एक आता है, चुपके से अखबार लेकर खिसक जाता है। और इस तरह ये घंटों परेशान होते हैं।"[24]

लघु वाक्यों के कुछ और उदाहरण देखिए –

'नक्शा खौल रहा है।'

'मैं खड़ा हूं और देख रहा हूं।'

'दृश्य बदलता है।'

'जाड़ा आ रहा है।'

'अब बताओ साहब, मैं ज्वान का क्या करूं?'

'शहर में कर्फ्यू लगा है।'

'वे बीड़ी सुलगाते हैं।'

'सारा शहर अफवाहों में खुश है।'

'लड़ाई चल रही है।'

'लोग खुश हैं।'

'अब वह तिपहिया मनुष्य थे।'

'वे उठ बैठे।'

'मनु ने श्रद्धा को देखा। श्रद्धा ने मनु को देखा।'

'मगर न मौसम ठीक हुआ, न छब्बू लौटे!'

'क्या हो गया है गांव को?'

'लीजिए यह नई मुसीबत!'

'बूढ़ों, अपंगों और विकलांगों का यह विहार!'

'शीला देखती रही।'

'समय ही समय।'

'काटे न कटे।'

'लेकिन कौन देगा पानी।'

'छत।'

'सुशांत मेरा भाई। चार साल छोटा।'

'वे गए।'

'मैं विस्मय में थी।'

'हर्षुल क्या आया कि घर में बहार आ गई। मम्मी खुश। पापा खुश।'

'मैं अकेली अपने बेडरूम में।'

'वह चीज थी – मुसकान।'

'अब इसका क्या करें कृष्ण।'

'कृष्णा हंसने लगे।'

'कृष्णा उद्विग्न थे।'

'शाम ढल रही थी।'

'और रुक्मिणी?'

'हंसी।'

'वे बेबस थे – लाचार।'

इस प्रकार भाव अथवा विचारों में थोड़े से परिवर्तन के साथ वाक्यांशों में भी बदलाव आ जाता है। उनकी लेखन शैली प्रवाहमयता के कारण लघु वाक्यों का प्रयोग लेखक ने किया है। इस प्रकार क्रम में भी छोटे वाक्यों वाले अनुच्छेद दृष्टिगत होते हैं। काशीनाथ सिंह के वाक्यांश अपने लघुत्तम रूप में कवि बिहारी के दोहों के समान चित्ताकर्षक हैं, जो 'देखन में छोटे लागे पर घाव करें गंभीर' वाली मुद्रा-शैली अपनाते हैं। छोटे और सार्थक भाव-बोध वाले वाक्य

प्रयोग पाठकों के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालते हैं। इन लघु वाक्यों के कारणवश लेखक की भाषा-शैली में रोचकता, सौष्ठवता तथा मार्मिकता की निर्मिति हुई है।

सारांशतः भाषा ही वह महत्त्वपूर्ण घटक है जिसके कारण रचनाकार का साहित्य इतना चित्ताकर्षक जान पड़ता है। भाषा के विविध सार्थक प्रयोगों के कारण ही उनकी रचनाएं इतनी रोचक तथा पठनीय हुई हैं। इन रचनाओं ने लेखक को वह अवसर दिया है जिसमें वे भाषा की महीन कारीगरी दिखा सके ।

5.2 शैली वैविध्य

प्रत्येक समर्थ रचनाकार अपनी रचनात्मकता को संप्रेषित करने हेतु निजी शैली विकसित करता है, जिस के द्वारा उसमें कृतित्व, विचार एवं सौन्दर्यबोधी प्रवृत्ति का आभास पाया जाता है। प्रायः शैली को 'स्टाईल' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। शैली ही रचनाकार के कृतित्व-विशेष की परिचायक होती है। शैली विषयवस्तु एवं अनुभूति को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषय वस्तु की अभिव्यक्ति को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। वैसे देखा जाए तो कहने योग्य बातें लगभग सभी के पास होती हैं किन्तु विरले ही ऐसे होते हैं जो अपनी बातों का जादू श्रोताओं पर डाल सकते हैं। दूसरी बात यह है कि शैली ही वह वस्तु है जो एक व्यक्ति को दूसरे से अलग करने में समर्थ है। साहित्यकार अपनी बात अपने ढंग से पाठकों के सामने रखता है। लेखक का यह ढंग ही शैली का नाम धारण करता है ।

शिल्प-शैली आवरण की तरह होती है जो कलाकार के आत्मा के मुख को ढकती है। वस्तुतः विभिन्न प्रकार की शिल्प-शैलियाँ ही समुच्चय रूप में साहित्य रूपी सघन वन की सघनता बनाती हैं। आंतरिक समृद्धि को बाह्य अभिव्यंजना प्रदान करने में शैलियाँ ही सहायक होती

हैं। लेकिन यह शिल्प शैली सम्बन्धी अभिव्यंजना ऐसी नहीं होनी चाहिए कि सत्य ओझल हो जाये । "विभिन्न शैलियाँ ओस-बिन्दुओं की तरह होती हैं, जो आत्मा के सूर्य से प्रकाशित होकर असंख्य रंगों में झलकती हैं क्योंकि वह सूर्य उन्हें निरन्तर असंख्य व्यक्तियों और वस्तुओं में बाँटता जाता है। जबकि मनुष्य प्रकृति के असीम वैभव और उल्लासपूर्ण विविधताओं की प्रशंसा करता है, तब उसे इतना क्यों बाँधा जाये।"[25] कहना न होगा कि विवेच्य कथा-लेखक के शिल्प-शैली में सत्य का आभास पाया जाता है और यथार्थगत विवेचन भी । कथा शैली को जो कलात्मकता एवं वैचारिक तीक्ष्णता उन्होंने प्रदान की है वह पूर्ववर्ती लेखकों में कम ही पायी जाती है।

5.2.1 वर्णनात्मकता

इस शैली के अंतर्गत लेखक व्यक्तियों, भावनाओं, अनुभूतियों, स्थितियों, का वर्णन करता है। इसमें विषय के साथ-साथ वह पाठकों के मन मस्तिष्क तक पहुँचने की कोशिश करता है। साहित्यकार अपनी अनुभूतियों को विशेष ढंग से और सही सन्देश के साथ प्रस्तुत करता है।

आपने अपनी रचनाओं में वर्णनात्मकता का प्रयोग यथास्थान किया है। उनके कथा कृतियों में ऐसे अनेक स्थान हैं, जहां पर विषय-वस्तु का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस संदर्भ में उनकी 'गरीबी में आटा गीला' को देखा जा सकता है। प्रस्तुत कहानी में वे ग्रामीण जीवन का वर्णन किस प्रकार करते हैं देखिए – "दूर-बहुत दूर पूरब हेतमपुर के सिवान में, जहाँ दो पेड़ खड़े थे, उनके बीच से आनेवाले छौरे पर शुरू में एक चमकता हुआ काला धब्बा दिखाई पड़ा जो धीरे-धीरे दो हिस्सों में बँट गया।

और दोनों हिस्से कभी हिलते, कभी ऊपर-नीचे होते, कभी अगल-बगल चलते और कभी एक-दूसरे से जुड़ते उस रास्ते पर चले आ रहे थे जो आगे आकर शहीदगाँव भी जाता था और जीयनपुर भी।

बैसाख का महीना अभी खत्म नहीं हुआ था। सारे खेत कट चुके थे। अगर आँखें उठाओ तो सामने न कोई पेड़, न पालो-निचाट मैदान था और उस पर खड़ी दुपहरिया नाच रही थी और जहाँ-तहाँ बवंडर उठ रहे थे।

खलिहान काफी कुछ उठ चुके थे और ये बैठकी के दिन थे। खा-पीकर सारा ठकुरान दोपहर बाद लोचन के ओसारे में जुटता था और हा-हा, हू-हू करता था। लेकिन भीतर-ही-भीतर सारे लोग महसूस करते थे कि चाहे जो करो, अब इसकी रौनक नहीं वापस आने की। इन घरानों के जवान या तो नौकरी कर रहे हैं या इसकी टोह में बाहर निकल गए हैं। जो थोड़े-से पढ़नेवाले रह गए हैं और जिन्होंने शहर का मुँह देख लिया है, वे किसी-न-किसी बहाने उधर ही घूमना चाहते हैं। ऐसा नहीं कि ठाकुरों में कोई आपसी मनमुटाव नहीं; है और गहरा है, लेकिन पंचायत के पिछले चुनाव में अहीरों और चमारों के गँठजोड़ ने उन्हें समय-समय पर एक जगह दिखने के लिए मजबूर कर दिया था।

ओसारे के उस किनारे जहाँ चाराकटाई की मशीन थी, दो पलंग घेरकर कुछ लौंडे बैठे थे और ताश खेल रहे थे। आज से उनकी छुट्टियाँ शुरू हुई थी और वे पूरी मस्ती में थे।"[26]

बनारस नगर में गंगा नदी के तट पर एक इलाका है अस्सी घाट, इसे केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास 'काशी का अस्सी' है। इस अस्सी घाट का वर्णन करते हुए उपन्यासकार ने लिखा है – "ऐसे तो घाट ही घाट हैं नगर में, इन्हीं में से कोई एक 'राजाघाट' भी है लेकिन सच मानिए तो घाटों का राजा एक ही है - अस्सीघाट ! यहाँ से नगर या तो शुरू होता है या खत्म होता है। क्या ही चौड़ा और क्या ही चौरस! हर साल गंगा पीछे खिसकती जाती है - इससे

कहते हुए कि और आगे आ, और आगे आ। देखो तो सीढ़ियों के पहाड़ भी हैं, पठार भी हैं और मैदान भी ! चाहे जितना टहलो और चाहे जितना बैठो! बैठने के लिए सीढ़ियाँ भी हैं, पत्थर के लम्बे-चौड़े चौतरे भी हैं, लकड़ी के तख्ते और पटरे भी हैं, मिट्टी के ढूह भी हैं और किनारे बँधी छोटी-बड़ी सैकड़ों नौकाएँ भी!

एक पीपल का पेड़ भी है घाट पर ! काफी बुजुर्ग ! इसे बाढ़ के दिनों में देखिए तो मजा आ जाए! गजब का तालमेल है इसका लहरों के साथ ! लहरें जब उछलती या खेलती हैं तो यह अपने आप पत्तों से तालियाँ पीटता है, जब नाचती हैं तो टहनियों से बैंजो बजाता है और जब चुप रहती हैं तो खड़ा-खड़ा गुनगुनाता रहता है। लहरें जब उसे छूने के लिए लपकती हैं तो हाथ बढ़ाकर उन्हें ऊपर खींच लेता है। खाली वक्तों में कभी-कभी कनखी देखता है - बाएँ तो राजघाट का पुल; दाएँ तो रामनगर का किला; सामने तो रेत का मैदान और पार का कछार !

रागों, रंगों और रेखाओं और चिड़ियों की चह-चह का अद्‌भुत कोलाज है यह घाट । सुबह-शाम यहाँ पेंसिल, ब्रश और कैनवास लिये चित्रकार भी बैठे मिलेंगे, कैमरा लटकाए छायाकार भी, रियाज मारते गायक-वादक भी, पुजैया के गीत गातीं औरतें भी, धनी रमाए जोगी भी ! बाकी तो मल्लाह हैं, अखाड़िए पहलवान हैं, साधू-संन्यासी हैं, कीनियाँ हैं, भिखमंगे हैं..."[27]

आपके आख्यायिकाओं में प्रकृति का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है। प्राकृतिक दृश्यों का वे एकदम सटीक भाषा में वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ – "और पहाड़ों को पहले किताब के पन्नों पर देखा था – टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ भला पहाड़ हो सकती हैं? फिर कुछ दिनों बाद उन महान, विशाल और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के करीब जाने का मौका मिला और मैंने पहाड़ों को उनकी समूची शक्ल में देखा - हर रंग में, शरारत में, हर शोखी और धूर्तता में। हाँ, बिल्कुल धूर्तता में। पहाड़ बड़े ही धूर्त होते हैं - बड़े धोखेबाज़। वे तुम्हें धोखा देने में रस लेते हैं। उन्हें देखो - वे एकदम

तुम्हारी आँखों के आगे हैं, सिर्फ चार कदम। मगर चलो, चलते चले जाओ और वे पीछे हटते चले जाएंगे। ऐसे ही वापस लौटो, वे तुम्हारे पीछे-पीछे हो लेंगे।

तो मैंने पहली बार डलहौजी में पहाड़ देखा। यों भी कह सकते हो कि पहाड़ में डलहौजी देखा। बचपन में कोई एक कविता पढ़ी थी - डैफोडिल्स। दिमाग में लाल-लाल फूलों की झूमती हुई क्यारियों का खाका था और डलहौजी अचानक ही 'डैफोडिल्स' के करीब चला गया था। सो, सागर की सतह से 6,678 फुट की ऊँचाई। बेहद खूबसूरत और एकदम उठे-उठे तिकोने पहाड़। पहाड़ों के चारों ओर साफ-सुथरी चक्करदार सड़कें। कहीं से चलो, कहीं भी जाओ, घूमकर वहीं आओगे जहाँ से चले थे। आसमान में पहाड़ों के सिर पर बैठे हुए बादल। देखते-देखते वे तुम्हारे कमरों के अन्दर भी आ जाएँगे और तुम्हारे कपड़ों और शरीर को गीलाकर चलता बनेंगे। वे सड़क पर तुम्हारे संग हो लेंगे, घेर लेंगे, फिर तुम्हें छोड़ देंगे।"[28] प्रस्तुत रचना में लेखक पहाड़ों का वर्णन करता है। यह वर्णन कोरम कोर पहाड़ियों का आंखों से दिखाई देने वाला सुंदरता का वर्णन न होकर उनके स्वभाव को भी यहां दर्शाया गया है। एक तरह से वे पहाड़ों का मानवीकरण कर देते हैं जैसे कोई कवि अपनी कविता में करता है।

5.2.2 आत्मकथात्मकता

प्रथम पुरुष में अपनी बात कहने की पद्धति को आत्मकथात्मकता के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके अंतर्गत रचनाकार 'मैं' के धरातल पर कथानक का ताना-बाना बुनता है। कहानी तथा उपन्यास में आया पात्र समूची कथा में 'मैं' के रूप में उपस्थित रहता है। आधुनिक कथा-साहित्य में बहुतेरे रचनाकारों ने आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है। हिंदी कथा वाङ्मय में इस तरह की विधि में लेखन की सुदीर्घ परंपरा रही है।

विवेच्य कथाकार ने अपनी कहानियों में आत्मकथ्य शैली का प्रयोग बहुलता से किया है। आपकी आखिरी रात, संकट, अपने घर का देश, बैलून, एक बूढ़े की कहानी, अपने लोग, दलदल, आदमी का आदमी, सुबह का डर, मुसइ चा, अधूरा आदमी, सुधीर घोषाल, विलेन, मंगलगाथा, कविता की नई तारीख, पायल पुरोहित, बालकांड, जोतसी ने कहा था, एक हैं वर्मा जी, तलाश, हवेली, बीमारी, कोंपलें, मेरा भी हाथ है, समस्या आदि कहानियाँ तथा अपना मोर्चा, महुआचरित उपन्यास इस रूप के अंतर्गत आते हैं। आपकी 'मैं' शैली में लिखी गई ज्यादातर कहानियाँ वस्तु और शिल्प की दृष्टि से सशक्त बन पड़ी हैं।

आपकी कहानियों में आया कथावाचक समाज के प्रतिनिधि पात्र के रूप में नजर आता है। उनकी कृति 'आदमी का आदमी' का एक उदाहरण देखिए – "मेरे साथ कठिनाई थी कि उसे थोड़ा-बहुत जानते हुए मैं औरों की तरह उसका मज़ाक नहीं उड़ा सकता। मैंने एक बार फिर कोशिश की और लोगों के सामने उसकी स्थिति साफ़ की, लेकिन सब विवश थे। वे कहते कि यह कैसे हो सकता है कि उसकी पीठ पर घोड़ा या पेट पर दीपक या जाँघों पर सूर्य हो और उनका कहीं कुछ न हो। आखिर प्रचार तो करना ही है।

और गालियाँ देते-देते उसकी आवाज़ कुछ ऐसी बुलन्द हो गई थी कि हर दल अपने जुलूस में उसका उपयोग करना न भूलता।

चुनाव के ख़त्म होने के बाद मेरे पास निमन्त्रण आया, जिससे मालूम हुआ कि उसने चौराहे की सबसे बड़ी दुकान के बगल में परचून की एक दुकान खोल ली है। उसकी इस हरकत से सबसे अधिक शिकायत उस बड़ी दुकान के मालिक की थी, जो दुकान उसके हवाले करके दोपहर में खाना खाने घर जाता था।"[29] गौरतलब है कि लेखक का कथा वस्तु को प्रस्तुत करने का अपना विशिष्ट अंदाज है। वे अपनी बात को कथावाचक के रूप में बतकही के अंदाज में प्रकट करते हैं। उनकी रचनाओं से गुजरते हुए पाठक को लगता है मानों लेखक अपनी पुरानी

यादों को जैसे खंगाल रहा है। उदाहरण के लिए 'मंगलगाथा' को लिया जा सकता है। "बहरहाल, मैं उन दिनों और उस गाँव के बारे में तुम्हें सुना रहा हूँ जहाँ मेरा बपचन गुजरा है और वे दिन और वे लोग और वे सारे के सारे खेल-तमाशे तुम्हारे लिए ही नहीं, मेरे लिए भी सपना हो चुके हैं। मेरी जिन्दगी के सबसे अच्छे दिन-जिन्हें कोई भी मुझे लौटा नहीं सकता। जिन्हें चाहकर भी अब मैं हासिल नहीं कर सकता – अपनी सारी खुशी, सारी कमाई और सारे ज्ञान के बदले। मैं आज भी गाँव जाता हूँ लेकिन अब न वह गाँव है और न वे लोग। मेरे बेटो, मैं तुम्हें सारे सुख और सारी सुविधाएं मुहैया कर सकता हूँ लेकिन उसे कहाँ से दूं जो खुद मेरे ही पाँवों के नीचे से तीस साल पहले खिसक चुका है।"[30]

आपके प्रस्तुतिकरण की यह विशेषता है कि कई कहानियों में कथावाचक मुख्य पात्र के रूप में न आकर केवल एक प्रत्यक्षदर्शी के रूप में आया है। उनकी 'मुसइ चा' में कथावाचक एक चश्मदीद के रूप में उपस्थित है और वह हमें मुसइ चा नामक व्यक्ति के जिंदगी से रूबरू कराता है। यथा – "जब कभी गाँव से कोई आता या मैं खुद जाता तो इधर-उधर की बातें होती। एक-आध बार मुसइ चा का नाम भी आया। लोगों ने कलकले से आए बुलू गौड़ का हवाला देते हुए बताया कि तपेदिक से उसकी मौत हो गई। उनका ख्याल था कि बुनियादी तौर पर वह बुरा आदमी न था। धीरे-धीरे मैंने भी मान लिया कि चलो, वह बुरा आदमी नहीं था और मेरे इस मान लेने के बाद कहानी यहीं खत्म हो जाती है।

कायदे से यही होना चाहिए लेकिन मैं कुछ और जोड़ने के लिए लाचार हूँ। मुझे विश्वास है, आप इसे मेरी जबर्दस्ती न मानेंगे। एक बात बताइए पाठक भाई! किसी की जिन्दगी को खत्म करना या जारी रखना हमारे-आपके बस की बात तो नहीं है, न।"[31] इस प्रकार रचनाकार इन संवादों के माध्यम से पाठक को सहज रूप से जोड़ने में अधिक सफल हुआ है। इन प्रसंगों में वह किसी सूत्रधार की भूमिका में तटस्थ होकर कथानक की सृष्टि करता है।

आत्मकथात्मक शैली की एक खूबी यह है कि इसका प्रयोग करते हुए जिन घटनाओं-प्रसंगों का वर्णन लेखक करता है वे घटनाएं वास्तविक होने का आभास दिलाती हैं। ऐसा लगता है मानो लेखक खुद की जिंदगी की वास्तविकताओं को रचना में अभिव्यक्त कर रहा है। इसे आत्मकथात्मकता की विशेषता मानी जाएगी कि पाठक इन कला कृतियों को पढ़ते समय रचनाकार को अपने ज्यादा करीब पाता है और इस कारण वह उस रचना से गहराई से जुड़ भी जाता है। हिंदी के प्रख्यात साहित्यकार अज्ञेय द्वारा रचित 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए उपन्यास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस तरह का प्रयोग काशीनाथ जी ने अपने उपन्यास 'अपना मोर्चा' में किया है। यथा – "और आप भी तो नहीं पूछते कि मैं हाँफ क्यों रहा हूँ ? इस उम्र में ही मेरे सिर के सारे बाल सफेद क्यों हो रहे हैं ? मेरी हथेलियों की पीठ की सारी नसें उभर क्यों आई हैं ? दूसरे साथी अध्यापकों की तरह मेरे भी गाल फूले हुए क्यों नहीं हैं ? अच्छी रकम पाने के बावजूद मैं तीन साल से दो पैंट और बुश्शर्ट ही क्यों पहने चल रहा हूँ ? जिस समय मेरा बेटा निमोनिया से अस्पताल में छटपटा रहा होता है, मैं आपके आगे एक पेशेवर वेश्या की तरह क्यों मुस्कुराता रहता हूँ?

बेहतर हो, आप यह सब न पूछे क्योंकि आपके दिमाग में सम्मान का दूसरा ही नक्शा है और इन्हें जान लेने के बाद वह तहस-नहस हो जाएगा और इसलिए भी कि मैं साइकिल से आता हूँ और मैंने अपने पीछे आपकी फब्तियाँ सुनी हैं। मैं सड़क से अपने लिए कोयला ले जाता हूँ और जिसने मुझे कोयला ढोते हुए देखा है, उसे मैंने खुद पर मुस्कुराते या दूसरों को सुनाकर 'टांट' कसते पाया है। मैं दुकान से सब्जी या राशन लेता हूँ और आप मुझे एक चालू हूँ नमस्ते तक करना बन्द कर देते हैं। मेरी अच्छी-से-अच्छी और सही-से-सही बात तक का आप पर कोई असर नहीं पड़ता क्योंकि आप मुझे कोयले या बोरे या झोले के साथ और अपने जैसा देख चुके होते हैं।

मैं कहता कि यारो ! आदमी की मेहनत का सम्मान करो ! अपना काम अपने हाथ से करो। अपने काम के लिए दूसरे आदमी का हाथ या पीठ या कन्धा खरीदना आदमीयत का अपमान करना है। ऐसा नहीं कि इस धरती पर कुछ लोग दूसरे अंगों से हीन सिर्फ चूतड़ और पेट के साथ ही पैदा हुए हों। और अगर ऐसा नहीं तो उन्हें आदमीयत पर थूकने का कोई हक नहीं है। मैं कहता हूँ और आप मुस्कुराते हैं। समझते हैं कि यह आदमी बाजार की अपनी शर्म को कक्षा में ढंकना चाह रहा है।"[32] कहना न होगा कि आपने कथा संसार में आत्मकथा शैली का अपेक्षाकृत अन्य शैलियों के मुकाबले अधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया है।

5.2.3 हास्य-व्यंग्य

काशीनाथ जी ने अपनी साहित्यिक रचनाओं में व्यंग्य का उचित मात्रा में प्रयोग किया है। उनकी ऐसी अनेक कहानियां एवं उपन्यास हैं जिनमें व्यंग्य की पैनी धार देखी जा सकती है। सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक विषमताओं एवं विडंबनाओं पर उन्होंने तीखे व्यंग्य किए हैं। आपकी 'लाल किले के बाज' कहानी में व्यंग्यात्मकता देखने को मिलती है। इस रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है – "ऐसे भी बीवी तो क्या, किसी भी चीज से जादू को कोई मतलब नहीं था। विवाह से पहले उनसे पूछा गया था कि लड़के की कोई माँग ? उन्होंने इनकार में सिर हिला दिया था और कहा था कि यूँ तो मैं विवाह ही नहीं चाहता लेकिन यदि हो ही रहा है तो सिर्फ यही चाहता हूँ कि सबकुछ बिना तड़क-भड़क और सादगी के हो। और हुआ भी वही। बरातियों ने जो खिलाया, इन्होंने खाया, उन्होंने जैसा स्वागत और विदाई की इन्होंने स्वीकार कर लिया। न किसी तरह की हैं-हैं, न खच-खच।

इन्होंने आसपास के लोगों को बता दिया कि आदर्श विवाह क्या होता है ? इसका एक नमूना तो पेश कर ही दिया। इसमें शक ही नहीं कि इस इलाके में यह अकेली शादी थी जिसमें किसी भी तरह का तिलक नहीं चढ़ा।

लेकिन जब विदाई के समय एक बुलेट मोटरबाइक, फ्रिज, सोफा, टेपरिकॉर्डर, रेडियो ट्रांजिस्टर और भी दो ट्रक नजर आने लगे तो जादू को थोड़ा खटका। वे पिता से तो बात न करते थे लेकिन हिम्मत करके चाचा से पूछ बैठे, 'चाचाजी, यह सब क्या है ? कम से कम आप तो मुझे जानते थे ?' चाचा ने उन्हें झिड़क दिया, 'आप अपना काम देखिए ? आपसे इन सारी चीज़ों से मतलब ?'

लोग पहले से जानते थे कि इस विवाह को लेकर जादू और घर के लोगों के बीच गहरा मतभेद चल रहा है। चाचा भतीजे के इस संवाद ने इसे और पुष्ट कर दिया। लेकिन जब-जब जादू की नजर ट्रक पर खड़ी मोटरबाइक पर जाती उन्हें सकून मिलता – 'हाँ' यह एक चीज़ काम की हो सकती है – मेरे भी और साथियों के भी।"[33]

इस रचना कृति में जादू नामक पात्र है जो क्रांतिकारिता का नकली भाव ओढ़े हुए है। वह क्रांतिकारी होने का दावा करता है लेकिन उसकी असलियत कुछ और है। जादू जिंदगी में सभी सुख-सुविधाएं पाना चाहता है, भौतिक चीजों के प्रति उसे गहरा आकर्षण है। लेकिन लोगों की नजरों में अपने आप को बहुत बड़ा इन्कलाबी दिखाना चाहता है। कहानीकार व्यंग्यात्मक लहजे में इस क्रांतिकारिता की नकली पोल खोल देते हैं। उनके अन्य रचनाओं में आए व्यंग्यात्मकता के कुछ और नमूने पेश हैं – "लेकिन साहब, तारीफ कीजिए शौक साहब की, पीक की तरह उनकी नजर भी अचूक थी। आप दो-चार दिन तो क्या, महीनों तक उस गली में टहला कीजिए वे आप पर नहीं थुकेंगे सो नहीं थुकेंगे। वे उस आदमी को उसकी चाल से पहचान लेते हैं – ऐसी काबिलियत किस शख्स में है ? कौन गालियाँ देते-देते रो सकता है? यही नहीं, कोई लाख अनजान बनकर खिड़की को अनदेखा करते हुए नीचे से गुजरने की कोशिश करे, वे समझ जाते कि अभी कितने रोज या हफ्ते या महीने पहले यह कमबख्त सुअर अपने पर थुकवा चुका है?"[34] गौरतलब है कि समाज में शौक साहब जैसे सामंतवादी

मानसिकता से ग्रस्त लोग हैं जिनमें अपने श्रेष्ठ होने का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। वे स्वयं को दूसरों के मुकाबले बहुत ऊंचे दर्जे का मानते हैं और सामान्य जनता को अपने जूती के बराबर समझते हैं। भारतवर्ष में आज भी सामंतवादी संस्कार मौजूद हैं। इसका मानसिकता का वे कड़ा विरोध करते हैं और 'सदी का सबसे बड़ा आदमी' के माध्यम से इस सोच को व्यंग्यात्मकता में अभिव्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार 'मंगलगाथा' में लेखक झूठे-पाखंडी किस्म के नेताओं पर तीखे व्यंग्य करते हैं। इस रचना कृति में चित्रित सिमंगल नामक शख्स देश की मुक्ति से पहले चोरी-चकारी तथा आस पास के घरों में सेंधमारी करता था। इस वजह से वह कई बार जेल भी जा चुका था। आजादी के बाद अचानक से उसकी किस्मत ने पलटी खायी और वह स्वाधीनता सेनानी कहलाने लगा। लेकिन उसकी मूल वृत्ति एक लुटेरे की ही है, उसने आजादी के उपरांत भी सामान्य जनता को लूटने का काम जारी रखा। वह औरों को दिखाने के लिए गांधीवादी बना हुआ है लेकिन असलियत में वह एक स्वार्थी-पाखंडी व्यक्ति है, जिसकी पोल लेखक इस तरह खोलते हैं – "तो मेरे बेटो, अगली गर्मी की छुट्टी में गाँव जाना तो पहले की तरह 'शिवपुरम्' घूमकर मत लौट आना, बाबा से ज़िद करके वह झोंपड़ी और नीम के पेड़ ज़रूर देखना जहाँ मन्त्रीजी रहते हैं और तपस्वी का-सा जीवन बिताते हैं। राजा जनक की तरह उनके पास सबकुछ है लेकिन वे निर्लिप्त हैं, विदेह हैं। मगर जानते ही हो, कुटिल-खल-कामी चुगलखोर और लगाने-बुझानेवाले कहाँ नहीं होते ? और तो और, अभी हाल में उनके खिलाफ शिकायत हुई कि अपने ज़माने के जितने चोर-चाईं, डकैत, ठग, गुंडे, बदमाश थे सबको वर्माजी ने 'पोलिटिकल सफ़रर' और 'फ्रीडम फाइटर' करार देकर पेंशन दिलवा रखी है और हर एक से कमीशन के बतौर आधी पेंशन लेते रहते हैं। इस पर भी जाँच कमेटी बैठी थी। वैसे इसके पहले भी उन पर जाने कितनी जाँच

कमेटियाँ बैठ चुकी हैं, जाने कितने आरोप लगाए गए हैं लेकिन सब बेकार ! उन्हें बदनाम करने की बहुत सारी कोशिशें हुई हैं लेकिन हर बार यह सिद्ध होता गया कि वे बेदाग हैं। रामराज्य ने उनकी इच्छा के ख़िलाफ़ उनकी संगमरमर की एक आदमकद मूर्ति बनवाकर रख ली है-लोगों से चन्दे माँग-माँगकर जो उनकी अस्सीवीं वर्षगाँठ पर 'शिवपुरम्' के प्रवेश-द्वार पर स्थापित की जाएगी। मन्त्रीजी गुस्सा होते हैं, अपने लड़के को डाँटते-फटकारते हैं कि यह दिन देखने से पहले ही वे इस दुनिया से विदा हो जाना चाहेंगे !"[35] कहानीकार इस रचना में व्यंग्यपूर्ण लहजे में बताता है कि कैसे आजादी के उपरांत देश का नेतृत्व स्वार्थांध, ढोंगी, आडम्बरी तथा अयोग्य लोगों के पास जाने लगा था। इस प्रकार आपके लेखन में व्यंग्यात्मकता का सटिक प्रयोग देखने को मिलता है।

आपके लेखन में व्यंग्य के साथ-साथ हास्य की निर्मिति भी अनेक स्थानों पर हुई है। अगर हम उनके लेखन कर्म को ध्यान से देखें तो यह बात समझ में आती है कि अपने लेखकीय यात्रा के आरंभिक दौर में वे एक गंभीर कहानीकार के रूप में पाठकों के समक्ष अवतरित होते हैं। उनकी शुरुआती कहानियों में तथा उनका पहला उपन्यास 'अपना मोर्चा' में वे एक संजीदा कथाकार के रूप सामाजिक सरोकारों से टकराते हैं। उनके प्रारंभिक दौर में शायद ही ऐसी कोई कहानी होगी जिसमें हास्य की सृष्टि हुई हो। लेकिन अपनी साहित्यिक यात्रा के उत्तरार्ध में वे हास्य-व्यंग्य का बखूबी प्रयोग करते हैं। उनकी लंबी कहानी 'कविता की नई तारीख' के प्रकाशन के बाद आपके लेखन क्षमता का दूसरा रूप दृष्टिगोचर होता है। इस रचना में उनके लेखन का नया अंदाज सामने आया है। इस आख्यान में उनका खिलंदड़ापन तथा मस्तमौला अंदाज देखा जा सकता है। समूची रचना में ऐसे अनेक स्थल हैं जहां पर वे हास्य निर्माण करते हैं। यथा– "मैंने कुछ नहीं कहा, लेकिन गर्व से पत्नी की ओर देखा। इसके पहले भी उन्हें देखता था लेकिन इतने आप्यायित नेत्रों से नहीं। मगर क्या कहिए की पत्नी दोनों बच्चों को देख रही

थी जो आमलेट का भारी से भारी हिस्सा अपने छोटे से मुंह में ठूंस रहे थे। उनके हाथ में एक-एक सेब पड़ा हुआ था और निगाहें कभी केले पर, कभी लंगड़ा आम पर और कभी टोस्ट पर दौड़ लगा रही थी। बड़े लड़के गुड्डू ने तो मुंह में इतना अंडा ठूंस लिया था कि जबड़े तक नहीं चल पा रहे थे। पत्नी शर्म से कभी मुझे देख रही थी कभी उन्हें।"[36] इसमें लेखक अपने साढू के घर गया है और सुबह जब नाश्ता शुरू करते हैं तब वह अपने बच्चों की अवस्था का चित्रण कर रहा है। इस प्रसंग में एक प्रकार के हास्य की सृष्टि हुई है।

कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद लेखक संस्मरण लेखन की दिशा में अग्रसर हुए थे। उनका पहला संस्मरण 'गरीबी गरीबीली वह' सन् 1988 में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद उन्होंने जैसे संस्मरणों की झड़ी सी लगा दी। इसी दरम्यान उन्होंने बनारस के एक मोहल्ले अस्सी में रहने वाले लोगों के जीवन पर यादगार संस्मरण लिखा 'देख तमाशा लकड़ी का'। यह उनकी पुस्तक 'याद हो कि न याद हो' में संकलित है। इस रचना में संभवतः पहली बार आपके लेखन का एक अलग शैली रूप पाठकों के समक्ष आता है। प्रस्तुत रचना में वे गजब के हास्य-विनोद का सृजन करते हैं। 'देख तमाशा लकड़ी का' के सफलता के बाद अस्सी वासियों को लेकर उनकी लेखनी का सिलसिला चल पड़ता है। इन्हीं रचनाओं को एकत्रित कर 'काशी का अस्सी' उपन्यास प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास रचनाकार के लेखन का एक महत्वपूर्ण मोड़ है। अस्सी की सामान्य जनता को आधार बनाकर लिखे गए इस कला कृति को काशीनाथ सिंह की हास्य-विनोदप्रियता का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। शुरुआत से लेकर अंत तक यह रचना अत्यन्त रोचक तथा मजेदार बन पड़ा है । अगर हम कहें कि प्रस्तुत औपन्यासिक कृति के प्रत्येक अनुच्छेद, वाक्य, यहाँ तक कि शब्द-शब्द में हास्य-व्यंग्य का सृजन हुआ है तो संभवतः हमारा यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं माना जायेगा। काशीनाथ जी की लेखनी का यह कमाल है कि उन्होंने अपनी कलम को हास्य एवं व्यंग्य की रंगारंग

स्याही में डुबोकर इस उपन्यास को रोचक एवं चित्ताकर्षक बना दिया है। लेखक का वाग्वैदग्ध्य यहां अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है, शब्द संकेतों एवं वाक्य-व्यंजनाओं का अभिव्यक्ति-सामर्थ्य पाठक को मनोमुग्ध करता है। एक नजर डा. गया सिंह पर लेखक की निम्नलिखित टिप्पणी देखिए – "हरिश्चंद्र महाविद्यालय के अध्यापक डॉ. गया सिंह ने 'विद्वान' कहलाने के लिए अथक संघर्ष किया है। एक ओर विद्वानों की संगत, दूसरी ओर ऐसे लोगों से मारपीट जो उन्हें गुंडा, लठ, झगड़ालू, मुकदमेबाज और जाने क्या-क्या कहते थे। अपने को 'विद्वान' साबित करने के लिए उन्होंने कई लोगों से कई मुकदमे भी लड़े। अनाड़ी लोग उन्हें कानपुर के 'धरतीपकड़' घोड़ावाले के टक्कर का व्यक्तित्व मानते हैं। ये चुनाव तो नहीं लड़े लेकिन हिन्दू विश्वविद्यालय के एक विभाग में निकलने वाला ऐसा कोई पद नहीं जिसके लिए इंटरव्यू न दिया हो ! अगर ये छंटे तो अपनी विद्वता के आतंक और दबदबे के कारण ! मूर्खता के कारण दूसरे छंटे !"[37]

इस प्रकार यह रचना लेखक के वाग्वैदग्ध्य की क्षमता से परिचित कराती है। एक विलक्षण 'वीट' का निर्माण समूचे उपन्यास में दिखाई पड़ता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं – "यह भाषण किसके श्रीमुख से फूटा था – ठीक-ठाक पता नहीं चल रहा था, क्योंकि उसे सुननेवाले – यदि रहे हों तो अपने-अपने कार्यालयों में जा चुके थे और शाम ढले तक लौटे न थे। यों प्रतिभा और प्रवाह के कारण शक की सुई डॉ. गया सिंह की ओर जा रही थी।

जिस प्रकार सबको मालूम है कि सत्यनारायण की कथा का माहात्म्य क्या है और किसी को मालूम नहीं कि वह कथा क्या है, उसी प्रकार सबको पता है कि डॉ. गया सिंह क्या हैं, वे क्या कहते हैं, इसमें किसी की दिलचस्पी नहीं। लेकिन ऐसा उनके शत्रुओं का मानना है, ज्यादातर यही मानते हैं कि मुँह उनका होता है, बोलती सरस्वती हैं। उनके शत्रु तो उन्हें क्या-क्या नहीं कहते हैं? कहते हैं कि वे अस्सी के सामान्य जन-जीवन में एक 'दुर्घटना' हैं, प्राकृतिक आपदा हैं

जैसे कि बवंडर, जैसे कि आँधी, जैसे कि तूफान, जैसे कि पाला, लेकिन यह सभी स्वीकार करते हैं कि डॉ.गया सिंह न हों तो क्या अस्सी और क्या काशी !"[38]

उपर्युक्त उदाहरणों में जो व्यंजना-शक्ति अन्तर्निहित हैं वह लेखक के हास्य-व्यंग्य शैली का उत्कृष्ठ नमूना है।

5.2.4 काव्यात्मकता

आपने उपन्यासों एवं कहानियों में काव्यात्मक अभिव्यक्ति का उचित रूप में प्रयोग किया है। उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में काव्य का सार्थक प्रस्तुतिकरण देखने को मिलता है। लोक व्यवहार में प्रचलित काव्य प्रयोगों का वे सटीक उपयोग करते हैं। इन प्रयोगों के कारण उनकी रचनाओं में जीवंतता एवं मार्मिकता आ जाती है। लोक रंग में रंगे काव्य-प्रयोगों के कारण उनका साहित्य और अधिक पठनीय हो गया है। लेखक को आम आदमी के भाषिक संस्कारों की बारीक समझ है। जन साधारण में प्रचलित भाषा में वे अपना कवित्व रचते हैं और उनका सही जगह पर सार्थक प्रयोग करते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

"आदमी महान है
महान है लोहा और
पेड़ भी महान है
लेकिन जब पेड़ हाथ मिलाता है
आदमी से
पेड़ के खिलाफ
लोहा लोहे के खिलाफ
आदमी आदमी के खिलाफ
सबके सब कटते हैं

जंगल पेड़ों से पटते हैं

लम्बी तानते हैं श्रीमान

चैन की साँस लेते हैं

और

अपने लोहे के जहाज़

धरती के पेट पर खेते हैं...।

लेकिन जब आदमी या लोहा या पेड़ अपनी जगह जमकर

खड़ा होता है तो फूले हुए गुबारे की तरह श्रीमान् का कलेजा

फट...फट... "[39]

"आओ आओ जी

सोहर गाओ जी

मोरे घराने में लल्ला भया!

गोतिन आओ

दयादिन आओ

लल्ला के गुन सब मिल गाओ!

आओ आओ जी

गाओ गाओ जी

मोरे घराने में लल्ला भया!"[40]

“चूँटी क मार चूँटा

गाँड गुह करिया

ठूंठ पकड़िया

लुंज भैंसा

बानर पदना

राजा टेडुकाह

रानी कुबराह

सभगा उतान।”[41]

“कुआँ तो बेंच डाला,

पानी नहीं दिया है,

पानी का दाम तुमसे

हमने नहीं लिया है।

कुआँ को बेंच डाला

इसमें मलाल क्या है ?

पानी न जाने देगा

तेरी मजाल क्या है ?”[42]

‘काशी का अस्सी’ में लेखक ने काव्यात्मक शैली का विशेष उपयोग किया है। यथा – “गुरु ने पठाया चेला, लाना झोली भर के। पहली भिक्षा अन्न की लाना,

गाँव-नगर के पास न जाना,

हिन्दू-तुर्की छोड़ के लाना,

लाना झोली भर के। गुरु ने पठाया चेला...

दूसरी भिक्षा मांस की लाना,

जीव-जन्तु के पास न जाना,

जिन्दा-मुर्दा छोड़ के लाना,

लाना हाँड़ी भर के। गुरु ने पठाया चेला...

तिसरी भिक्षा लकड़ी लाना,

जंगल-झाड़ के पास न जाना,

सूखी-गीली छोड़ के लाना,

लाना गट्ठर-भर के। गुरु ने पठाया चेला...

चौथी भिक्षा जल की लाना,

कुएँ-बावली पास न जाना,

ताल तलैया छोड़ के लाना,

लाना तुमड़ी भर के। गुरु ने पठाया चेला...

कहत कबीर सुनो भाई साधो

यह पद है निरबाना,

जो यह पद का अर्थ लगावै,

सो है चतुर सुजाना। गुरु ने पठाया चेला..."[43]

"कवन देस का राजा अच्छा,

कवन देस की रानी?

अरे, कवन देस का राजा अच्छा,

कवन देस की रानी ?

कवन देस का कपड़ा अच्छा,

कवन देस का पानी ?

जोगीड़ा सारा रा, जोगीड़ा सा रा रा रा...

कानपूर का कपड़ा अच्छा

राजघाट का पानी।

अरे, रामनगर का राजा अच्छा

इटलीगढ़ की रानी :

जोगीड़ा सारा रा रा..."[44]

"बिलैया मारे मटकी

हे साधू बाबा, बिलैया मारे मटकी।

ब्रह्मा के खाएसि, विष्णु चबाएसि

शिवजी के धरिके हिमाले पे पटकी विलैया मारे मटकी।

हे साधू बाबा विलैया मारे मटकी।"[45]

"बाहर का पानी गन्दा, बोतल का पानी साफ

बाहर की हवा मैली, डिब्बे की हवा साफ

बाहर की धूप पस्त, अन्दर की मस्त

बाहर की ठण्ड अंडबंड, भीतर की चाकचौबन्द

नदी की गंगा जहर, बोतल की पेप्सी लहर।"[46]

“देखो हीरा गया है सठियाय

हे बाबू लोगो।

उसकी अक्किल गई है चकराय

हे बाबू लोगो।

उसकी घोड़ी गई है गरमाय

हे बाबू लोगो।

उसकी भगई गई है सरकाय

हे बाबू लोगो।

उसकी टोपी गई है उधिराय

हे बाबू लोगो।”[47]

“रामजी भइया कुर्सी से आए

कुर्सी से आए देखो कुर्सी से आए,

आए कि धाए देखो धाए हुए आए,

बीस रुपइया बड़े प्रेम से थमाए,

गाजीपूर क ललनवाँ,

ई त अस्सी क परनवाँ,

इनको बारम्बार प्रणाम।”[48]

“वह ! वह ! रे मौज फकीरा की

देनेवाला मौला है।

फिकर छोड़कर जिकर किया कर

अजब रंगीला मौला है

जब तुम रहा उदर के भीतर

वहाँ खर्च किन तौला है ?

किनाराम अलमस्त दीवाना

देनेवाला मौला है।

वह ! वह ! रे मौज फकीरा की।"[49]

"गावत-गावत बिरहा हो गयल बिहनवा

हो कहनवाँ हीरालाल क सुना।

अस्सी से टक्कर का लेही अब जपनवा कहनवाँ हीरालाल क सुना।

टी.वी. फ्रिज औ कार तो घर-घर

एसी सीडी प्लेयर।

मम्मी डैडी खेत अगोरै

दुबई घूमै मेहर।

चरस हेरोइन बबुआ फूकै

बबुई गायँ मल्हार।

बिजली पानी गायब घर-घर

का होइहैं तोहार।

हो कहनवाँ हीरालाल क सुना

रोवै हीरा जार बेजार,

कइसन बहल बा बयार,

भइया तोहरे दुआर,

कवने देस क हुँडार

बाय खड़ा मुँह फार

हीरालाल क सुना।

कहवाँ गइलैं मोर अस्सी क ललनवाँ

हो कहनवाँ हीरालाल क सुना।"[50]

"एक दिन जाना होगा जरूर।

लछिमन राम अमर जो होते, होते हाल हजूर।

कुम्भकरन रावन बड़ जोधा, कहत हते हम सूर ।

अर्जुन सा छत्री नहिं जग में, करन दान भरपूर।

भीम जुधिष्ठिर पाँचो पांडो मिल गए माटी धूर।

धरती पवन अकासो जइहैं जइहैं चन्दा सूर।

कहत कबीर भजन कब करिहौ ठाढ़ा काल हजूर ।

एक दिन जाना होगा जरूर।"[51]

उपर्युक्त पंक्तियों में रचनाकार आधुनिक युग में पसर रही कुप्रवृत्तियों पर अपने अनोखे अंदाज में व्यंग्य कसता है। वह आम जनता में बोली जाने वाली जनवाणी में अपनी बात कहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए वे लोक-जीवन में प्रचलित जन भाषा का उपयोग करते हैं। उनकी यह काव्य पंक्तियां लोकरंग में रंगी हुई प्रतीत होती हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है कि आप एक ऐसे लेखक हैं जो समाज से दूरी रखते हुए समाज का तटस्थ रूप में अवलोकन करने वाले लेखक नहीं हैं बल्कि वे सामाजिक जीवन में घुसकर उसका हिस्सा बनकर लोक व्यवहार का अनुभव लेते हैं और उसे अपनी रचनाओं में आत्मसात

कर लेते हैं। यही वजह है कि उनके कथा-वाङ्मय में जब वे काव्यात्मक रूपकों का प्रयोग करते हैं तब उनमें उस जीवनशैली के बारीक रेशों को हम देख सकते हैं। इस मामले में वे प्रेमचंद, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कंडेय की परंपरा के लेखक हैं।

5.2.5 किस्सागोई

प्राचीन काल में मनुष्य के अनुभव तथा ज्ञान की परंपराओं को अगली पीढ़ी तक संरक्षित रखने के लिए मौखिक कला का सूत्रपात हुआ। मानवीय इतिहास, लोक परंपरा, सांस्कृतिक प्रतीकों एवं मिथकों को जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए किस्से कहानियों का उपयोग किया जाता था। मनुष्य सभ्यता के विकास में अपने अनुभवों को बार-बार सुनाने के कारण उसमें कल्पना का भी मिश्रण होता गया। किस्से-कहानियां कहना-सुनना मनुष्य का स्वाभाविक गुणधर्म है।

किस्सागोईता का आरंभ मुख्यतया लोकरंजन के लिए हुआ है। किस्से-कहानी में अंतर्निहित मूल्य उसके बाद का स्थान रखते हैं। इसलिए इसमें रोचकता का विशेष महत्त्व है। इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल मनोरंजन ही इस रीति का अभीष्ट होता है। इसका सामान्य अर्थ कहानी कहने से है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से देखें तो अच्छी किस्सागोई से अभिप्राय किस्सा और दृष्टि को जोड़ने वाले तत्त्व से है जिसके कारण रचना में व्यापकता आती है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचंद एक बड़े कथाकार हैं क्योंकि उनके पहले ये दोनों तत्त्व अधिकतर अलग-अलग होते थे। यह रसात्मक रूप में कहन की कला है जिससे हम सभी का कभी न कभी वास्ता पड़ता है। इसको लेकर बचपन से शुरू हुआ सम्मोहन आजीवन चलता रहता है। यही कारण है कि किस्सागोई की कला का विकास हुआ।

विवेच्य कथाकार के साहित्य में कथ्य-प्रस्तुति का उनका अपना अंदाजेबयां है। आपने किस्सागोई को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की है। वे मुख्य कथानक के इर्द-गिर्द किस्से-कहानियों को गुंफित कर बड़े कथानक का रूप देते हैं। वे किसी किस्सागो की तरह अपनी कल्पनाशक्ति से कथ्य को रोचक बनाते हैं। उदाहरण के लिए उनकी 'विलेन' नामक कहानी को लिया जा सकता है जिसमें एक बूढ़ा बच्चों को क़िस्से सुना रहा है – "अच्छा सुनो...एक था राजा और एक थी रानी। रानी बड़ी सयानी थी। एक दफे राजा शिकार खेलने निकला जंगल में-घोड़े पर सवार, हाथ में तलवार, घना जंगल, घनघोर बारिश हो रही थी, बादल गरज रहे थे, बिजली चमक रही थी। और हुआ यह कि शिकार भी नहीं मिला और रात हो गई ! कि दूऽऽर...'

'और बकासुर कहाँ छिपा था उस समय ?' उसने जिज्ञासा की।

'पहले सुनो, सुनते जाओ ! बीच में मत बोलो!...हाँ तो राजा घोड़े पर सवार। वह बेसब्र होकर सामने खड़ा हो गया-आँखें फाड़े, डरावना मुँह बनाए और कँपकँपाते हाथों की उँगलियाँ छितराए-ठीक इसी समय 'हा-हा-हा-हा (अट्टहास) नीच! कमीने (क्रोध में) तू मुझे मारेगा ? तेरी मजाल! मैं तुझे खा जाऊँगा,' कहते हुए बकासुर जंगल के बीच से निकला और राजा को कच्च्! कच्च् (चबाने की आवाज) हा हा हा हा और राजा खल्लास!'

'इसमें बकासुर कहाँ से आएगा?' मैंने डाँटा।"[52]

बौद्ध कालीन परिवेश पर लिखी गई 'बांस' कहानी का आरंभ वे इस प्रकार करते हैं – "कहानियाँ सुनने-सुनाने के लिए ही होती हैं - आज की हों या कल की। और वे कई तरह की होती हैं। कुछ कहानियाँ होती हैं जिन्हें हम सुनते हुए भी नहीं सुनते ! कुछ कहानियाँ होती हैं जो इस कान से आती हैं और उस कान से निकल जाती हैं। कुछ कहानियाँ होती हैं जो कान में आती हैं, कुछ समय के लिए अन्दर पड़ाव डालती हैं और अन्त में डेरा-डंडा उठाकर चल देती हैं। मगर कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं जो दिल और दिमाग में अपना घर बनाती हैं

और वहीं बस जाती हैं– हमेशा के लिए। ऐसी ही एक कहानी है यह ! आज से हजारों साल पहले की – उस जमाने की जब बुद्ध – जिन्हें शास्ता और तथागत भी कहा करते थे-श्रावस्ती के करीब जेतवन में विहार कर रहे थे ।

हुआ यह था कि एक आदमी काम-धाम से कहीं गया था और घर लौट रहा था। शायद अरसे बाद ! घना जंगल और बारिश का मौसम। सावन-भादों का महीना। बिजली भी कड़क रही थी और पानी भी बरस रहा था। सुनसान और भयानक जंगल। शाम ढलने से पहले ही उसे घर पहुंचना था। तेज चलते हुए उसे अहसास हुआ कि उसका कोई पीछा कर रहा है। मुड़कर देखा तो पीछे एक आदमखोर शेर ! भूखा और उसे फाड़ खाने को आतुर। वह दबे पाँव बिना आहट के उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा था। आदमी के तो होश उड़ गए। वह जान हथेली पर लेकर भागा। शेर ने भी छलाँग मारी और उसके पीछे लपका।

किस्मत का खेल देखिए कि वह दौड़ते-भागते ऐसी जगह पहुँचा जहाँ नदी थी। और नदी भी कल-कल करती हुई नहीं, दहाड़ें मारती और पछाड़ खाती हुई। बल खाती हुई भी नहीं हुई, बल्कि पेड़-पालो उखाड़ती हुई, पत्थर-चट्टान तोड़ती हुई। सारा कुछ लील जाने को तैयार बढ़ियाई जंगली-पहाड़ी नदी। बहाव इतना तेज कि हाथी भी बह जाए। अब पीछे हटे तो शेर और आगे बढ़े तो नदी। आगे-पीछे मुँह बाए मौत। किनारे खड़ा होकर सोचने में वक्त गँवाए तो जान से हाथ धोए। उसने आव देखा, न ताव; कूद पड़ा नदी में। जब मरना ही है तो यही सही।

जब उसे चेतना आई तो उसने स्वयं को नदी के दूसरे किनारे पर पड़ा पाया लस्त-पस्त मगर जीवित। उसे कुछ भी याद नहीं कि कब और कैसे वह बांस उसके हाथ लगा था जिसने उसकी प्राण रक्षा की थी।"[53] लेखक सहज-सरल मुहावरेदार भाषा प्रयोग और रवानगी से भरपूर किस्सागो के कौशल से अपने पाठकों को सम्मोहित करने में सफल रहे हैं। इसलिए रचना में

निहित संदेश को पाठक आत्मसात करते चलता है। जिसमें वे अपने अनुभव, ज्ञान तथा कल्पना के योग से कथ्य को रोचक अंदाज में प्रस्तुत करते हैं। अंतरंगता के गुण के कारण ही पाठक उन रचनाओं के प्रति अधिक लगाव रखता है जो उसके मन की बात को बातचीत के अंदाज में पेश की जाती है। अतः यह शैली पाठकों द्वारा सदैव पसंद की जाती रही है। इसमें लेखक के लिए सर्वाधिक प्रयोग करने की गुंजाइश भी निहित होती है।

“मेरे बेटो, तुम सोते वक़्त हमेशा ज़िद करते हो कि 'कोई कहानी सुनाओ', 'कोई कहानी सुनाओ' और मैं हर बार कोई न कोई बहाना बना देता था लेकिन आज मैं तुम्हें कहानी सुना रहा हूँ। है तो सच्ची बात लेकिन तुम्हें कहानी ही लगेगी क्योंकि जिन चीज़ों के बारे में मैं बताने जा रहा हूँ, उन्हें तुम नहीं जानते।”[54]

आपके कथा वाङ्मय में किस्सागोई प्रवृत्ति के कारण अर्थ स्वयं मुखर हो उठते हैं। लेखक का वर्णन इतना रसमय और जीवंत है कि पाठक उसके प्रवाह में बहते चले जाता है। लेखन के संदर्भ में यह एक विशिष्ट शैली है जिसमें कथाकार अपने पाठक के साथ संबोधन की स्थिति में होता है। जनसंस्कृति में किस्से-कहानियों का बहुत ही महत्त्व रहा है। लेखक एक ऐसे किस्सागो प्रणेता हैं जो एक सूत्र थामकर कहना प्रारंभ करते और उनकी बतकही कहानी या किस्से का रूप ले लेती है। ‘काशी का अस्सी’ में आया एक उदाहरण उद्धृत है – “हाँ तो गुरुजी! एक बात बताइए,’ माहौल जैसे ही शान्त हुआ, पांडेजी ने फिर शुरू कर दिया, ‘यह बताइए कि कभी कौरा खानेवालों ने शासन किया है, जो करेंगे ? कौरा का मतलब समझते हैं कि नहीं ? गाँव में हर घर में एक कुक्कुर होता था जो घर, दुआर, खलिहान अगोरने का काम करता था ! अब भी होता है वह। मालिक जब दोपहर या रात में खाना खाता था और हाथ-मुँह धोने के लिए चौक से उठने लगता था तो अन्तिम कौरा कुक्कुर के लिए लिये जाता था और आवाज

देता था – वह जहाँ कहीं होता था, दौड़ा हुआ आता था – वही कौरा ! इनके यहाँ प्रचारक ऐसे ही हैं। साथ में एक कुर्ता और धोती रख लेते हैं और साइकिल से घूम-घूम प्रचार करते हैं। जहाँ कहीं मीटिंग रखते हैं, उसके खाने-पीने की जिम्मेदारी उस क्षेत्र के संघी की होती है। वह हर घर में एक पोलीथिन भिजवा देता है – 'बहनजी, इसमें दो आदमियों के लिए दस पूड़ियाँ और सब्जी रख दीजिए, आकर ले जाएँगे !' जीवन-भर उसे आंटे-दाल के भाव का पता ही नहीं रहता, केवल दूसरों का कौरा खाता रहता है। ऐसे लोगों के हाथ में शासन जाएगा तो यही होगा! चिल्ला रहे हैं लोग कि आलू गायब है, नमक गायब है, प्याज नहीं मिल रही है और ये भोंसड़ी के बनियों के हाथ में ताली (मालिकाना) थमाकर मलाई काट रहे हैं।"[55] ध्यातव्य है कि रचनाकार ने किस्सागोई को समसामयिक संदर्भों के साथ जोड़ते हुए साहित्य सृजन किया है। पाठकों के साथ सीधे संवाद की स्थिति में होने के कारण उनकी रचना में स्वाभाविक प्रवाह बना रहता है। इसी किस्सागोई शैली के प्रभावी प्रस्तुति के कारण वे अपने पाठकों को बांधे रखने में सफल हुए हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि विवेच्य लेखक के प्रस्तुतीकरण का अंदाज मौलिक है। इसी मौलिकता के फलस्वरूप वे पाठकों को अपने जादुई प्रभाव में लाने में कामयाब रहे हैं। शैली का यही गुण उनकी रचनाओं को विशिष्ट सिद्ध करता है। हिंदी कथा में काशीनाथ सिंह की विशिष्ट पहचान उनकी किस्सागोई शैली के कारण भी है।

5.2.6 संवादात्मकता

आपके रचनाओं में संवादों का विशेष महत्त्व है। पात्रों के संवादों के माध्यम से लेखक व्यक्ति के मात्र स्वर से ही परिचित नहीं कराता बल्कि उनकी स्वाभाविक विशेषताओं की ओर भी संकेत करता है ।

'जरा सी बात' संवाद शैली में लिखी गई रचना है। समूची कहानी में पति और पत्नी के बीच बातचीत दिखाई पड़ती है। जैसे –

"दा को जानते हो?' पत्नी सहसा पूछती है।

'कौन से दा?'

"बड़े वाले।'

'हाँ।'

'लीला को नहीं जानते होगे?'

पति धुआँ छोड़ता है।

'दा लीला को प्यार करते थे।'

वह कुछ सोचता है।

'यह बहुत बुरी बात है!'

घाट की बत्तियाँ जल उठती हैं। वे प्रकाश में जैसे हिल जाते हैं। पत्नी कुछ देर बाद बोलती है,

'दा कहते हैं कि सब करते हैं।'

'सब करते हैं?'

'हाँ, शादी के पहले सब करते हैं।'

'तुमने भी किया है?'

पत्नी अचकचा उठती है। वह उत्तर ढूँढने लगती है।

'हाँ, मैंने किया है।' पति उसे घूरता है।

'लेकिन किसे किया है?'

पति सिगरेट झाड़ता है। धीरे-धीरे।"[56]

आपके कथा वाड़मय में पात्रों के संवाद सहज और स्वाभाविक लगते हैं। इस संदर्भ में 'वे तीन घर' कहानी का उदाहरण लिया जा सकता है। इसमें लेखक विपत नामक व्यक्ति के घर का चित्रण करते हैं। विपत जाति से दलित है। उसकी पत्नी एक अनपढ़ औरत है लेकिन वह स्वयं को अभिजात्य वर्ग की दिखाने की कोशिश करती है, इस चक्कर में वह किस प्रकार हँसी का कारण बनती है इसका वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में किया गया है। यथा – "इसी बीच भाभी पायल बजाती हुई चाय के साथ हाजिर हुई। ... उन्होंने चाय रखी और विपत के बगल में तख्त पर बैठ गईं।

'भाईसाहब,' उन्होंने परिचय की नौबत ही नहीं आने दी और शुरू कर दिया, 'सबसे अच्छा यह है कि इधर में कोई आलतू-फालतू लोग नहीं हैं।'

'आलतू-फालतू' को घसियारी टोला के सन्दर्भ में विपत ने जैसे ही समझाना शुरू किया कि भाभी ने रोक लिया, 'मतलब कि इधर बाजू में इसपटर साहब हैं और उधर बाजू में इनवर्सिटी के लीचड़ साहब। वह सामने के तीन घर छोड़ के बाकी महाल में बबुआन लोग हैं।'

'तीन घर छोड़कर क्यों, वे कौन हैं ?' मदन ने पूछा।

'ऊँह !' मदन के बेवकूफी-भरे सवाल से खीझकर, जिसकी उन्हें ज़रा भी उम्मीद नहीं थी, भाभी ने हिकारत से मुँह बनाया, 'ऊँह ! होंगे कोई चमरा-सियरा । मँय का जानूँ ?'

उनके लगातार बोलने से विपत थोड़े संकट में फँसे लग रहे थे। उन्होंने सारी बातों को न सुनते हुए भाभी से मुस्कुराकर पूछा, 'जानती हो, कौन हैं ये ?' 'हमको एकदम से उरुवा (उल्लू) समझते हो का ?' वे विपत की ओर घूम गईं, 'इन्हें नहीं जानेंगे हम। ई वही हैं न जो पारसाल पिछवाड़े लोकूसिंह के इहाँ बरतन चुराए रहे और तुम छुड़ाए रहे।'

मदन ने ऐसा जोरदार ठहाका लगाया कि लान में बेंच पर बैठा हुआ कौवा डरकर उड़ गया। विपत भी माथा पीटते हुए हँसने लगे। भाभी ने तो पहले चकपकाकर उन दोनों को बारी-बारी से देखा, फिर वे भी हँसने लगीं।

'अरे भाभी, चोर छोड़कर आपने कुछ और बनाया होता ?' अपनी आँखें पोंछते हुए मदन बोले।

भाभी ने अबकी निर्भीक दृढ़ता के साथ उन्हें ऊपर-नीचे देखा। मदन की रूह थोड़ी देर के लिए काँप गई।

'तो आप कोई दूसरे हैं क्या ?' मदन दोनों हाथ उठाकर हँसते हुए खड़े हो गए, 'बस-बस! अब हम कुछ नहीं हैं।"[57] रचनाकार वार्तालाप के माध्यम से उस चरित्र को सटीक रूप में पेश करते हैं। इस छोटे से प्रसंग में विपत की बीवी का अन्तर बाह्य व्यक्तित्व हमारे समक्ष साकार हो उठता है।

इसी प्रकार 'अपना रास्ता लो बाबा' में जब देवनाथ के चाचा इलाज कराने के लिए गांव से उसके घर आते हैं तब उनके परिवार का बर्ताव गांव से आए बाबा के प्रति बेहद रुखा-सा हो जाता है। उनके इस तरह अचानक से घर आने से शहर में रहने वाले देवनाथ और उनकी पत्नी परेशान हैं। इस संदर्भ में देवनाथ और पत्नी का संवाद देखिए – "सिर्फ चाय से नहीं चलेगा।' रसोई के दरवाजे पर खड़ा होकर देवनाथ बोले। आशा उनकी ओर मुड़ी, 'यह देहाती भुच्च है कौन जी?'

'गाँव पर हमारे घर के बगलवाले नहीं हैं सुदामा ? हमारे पट्टीदार ? उन्हीं के बाप हैं,' उन्होंने खुलासा किया।

'देऊ !' बड़ा बच्चा धीरे से बोला और ताली पीटते हुए अन्दर भागा। देवनाथ ने उसे दौड़ाने का अभिनय किया और सारे लोग एक साथ हँस पड़े। आशा गम्भीर हो गई और कुछ देर सोचती हुई खड़ी रही। वह सोच रही थी चाय के 'सिवा' की चीज के बारे में। उसे कुछ सूझ गया। वह

रसोईघर से निकलकर पीछेवाले कमरे में गई, खटर-पटर किया और तश्तरी में दो मिठाइयाँ रखकर आ गई। देवनाथ तश्तरी अपनी नाक के पास ले गए और मुँह बनाया, 'ये तो भुकुड़ियाई लग रही हैं और बहुत बदबू भी कर रही हैं। कब की हैं?'

'पिछले हफ्ते ही तो अगरवाल दे गया था। जाने कैसी भिजवाईं कि किसी ने छुआ तक नहीं। महरी ले गई सब। बस यही दो रह गई थीं उनके भाग से,' उसने तश्तरी रख दी और चाय डालने लगी।

'और कल जो शामलाल दे गया था ?'

'तुम तो खामखा एक-न-एक फुचंग लगाए रहते हो। उनके लिए तो मिठाई ही, बड़ी बात है। मिलती कहाँ होगी गाँव में ?"[58]

उपर्युक्त वाक्यों में आए 'भुच्च', 'फुचंग' 'भुकुड़ियाई' जैसे शब्द किसी शब्दकोश की उपज नहीं हैं बल्कि यह शब्द स्थानीय लोगों की आम बोलचाल की जबान में मौजूद हैं। जाहिर है कि इन विशिष्ट शब्दों के प्रयोगों के कारण इन संवादों में स्वाभाविकता आयी है।

'काशी का अस्सी' में भी संभाषण का विशेष महत्त्व है। अस्सी में पप्पू की दुकान पर बैठे लोगों के बीच चल रहे वार्तालाप को जिस रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है वह गजब की पठनीयता लिए हुए है। ऐसी नोंकझोंकपूर्ण बतकही के कारण ही यह उपन्यास हिंदी उपन्यास साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। अस्सी के लोगों के बीच चल रहे एक बातचीत को देखिए – "अशोक ने उनकी ओर इशारा करते हुए परिचय दिया – "पोएट लारिएट ऑफ अस्सी।'

'लारिएट नहीं, लाँडिएट' गया सिंह ने संशोधन किया!

अंगरेजिन ने भव्य मुद्रा देखी और मुस्कुराते हुए चरण-स्पर्श किया। 'बस-बस ! वहीं तक! आगे 'डैंजर जोन' है!'

वह भी हँसी और अशोक भी !

'सहोदर जी ! आप बनारस पर किताब लिख रही हैं। हफ्ते-भर से लगा हुआ हूँ इनके साथ?' अशोक ने कहा!

'बालक, साथ लगने से कुछ नहीं होता ! आगे लगो, चाहे पीछे लगो जैसी प्रवृत्ति हो, तब होता है!'

'बड़े मजाकिया हैं आप तो !' कहते हुए वह अशोक के बगल में उनके सामनेवाली बेंच पर बैठ गई !"[59]

5.2.7 सूक्तिपूर्ण वाक्य

आपके समूचे कथा साहित्य में ऐसे वाक्य भरे पड़े हैं जो जिंदगानी के विभिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं। ये वाक्य उनके साहित्य में किसी सूत्र वाक्य की तरह आते हैं। ऐसी जगहों पर लेखक के जीवन संबंधी दर्शन से रूबरू हुआ जा सकता है। इन वाक्यों के माध्यम से वे किसी दार्शनिक की तरह पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं और पाठक के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में ऐसे विशिष्ट वाक्य जगह-जगह मौजूद हैं। इन्हीं वाक्यों के कारण उनका लेखन और अधिक जीवंत एवं रोचक हो गया है। उदाहरण के लिए कुछ वाक्य देखे जा सकते हैं – "उन्हें मतलब सिर्फ इतने से था कि यह हत्या या दूसरी हत्याएँ जबकि हम सच्ची इंसानियत के रू-ब-रू खड़े होने का दम भरने जा रहे हैं क्यों हो रही हैं, और हो ही नहीं रही हैं – लगातार बढ़ती जा रही हैं। आदमी के खून में छिपा हुआ कौन सा सच है जो उसे सदियों से चकमा दे रहा है और सामने आने में डर रहा है ? सिद्दीकी के आँकड़े बताते हैं कि मामले आगजनी के हों या बलात्कार के, राहजनी हों या लूटपाट के, ठगी के हों या हत्या के, उन्हें गौर से देखो तो पाओगे कि गरीब गरीब से टकरा

रहा है, खाता-पीता खाते-पीतों से टकरा रहा है, जाति जाति से टकरा रही है, धर्म मजहब से टकरा रहा है, लेकिन एक भी दौलतमन्द दूसरे दौलतमन्द से नहीं टकरा रहा है।"[60]

"सब जानते हैं कि गिरता वही है जो घोड़े पर चढ़ता है। जरूरी नहीं कि हमेशा सफलता ही मिले लेकिन कोशिश करने में, दत्तचित्त होकर लगे रहने में कोई हर्ज है?"[61]

"देखो डियर ! अपनी भाषा में पिछले दिनों एक भवभूती हो गए हैं जिनका नाम अज्ञेय है। उन्होंने बड़ी तपस्या के बाद जीने का एक नुस्खा ईजाद किया कि दुख हो, परेशानी हो, चिन्ता हो, चाहे जैसी हाय-हाय हो – उसके आगे समर्पण कर दो, घुटने टेक दो ! जब तक लड़ोगे, परेशान और दुखी होते चले जाओगे; इसलिए हे प्रिये ! कुछ सोचो मत ! चारों खाने चित्त हो जाओ।"[62]

"शादी गठबंधन सरकार जैसी होनी चाहिए। जब तक तुम्हारी चले, सुनी जाती रहे सम्मान के साथ; तब तक ठीक, अनसुनी होने लगे तो किनारा कर लो। ये क्या कि लात-जूता खाते रहो फिर भी पड़े रहो।

इस तरह तो सरकार भले चले, दांपत्य नहीं चल सकता।"[63]

"सच पूछिए तो चिंता जीने का सबसे बड़ा सबब है। जब तक चिंता है तब तक जिंदगी। चिंता खतम जिंदगी खतम।"[64]

"कि पति-पत्नी नमक – पानी नहीं है कि इस तरह घुल-मिल जायँ कि न पानी पानी रहे, न नमक नमक उन दोनों की अपनी-अपनी प्राइवेसी होनी चाहिए और अपनी अपनी जिन्दगी।"[65]

"लेकिन यह सारा विवेक धरा का धरा रह गया देह ने बाजी मार ली – इस नश्वर देह ने। हम हर चीज के बँटवारे सह लेते हैं लेकिन देह का बँटवारा नहीं सहा जाता। .. ऐसा क्यों है? ऐसा क्या है देह में कि उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता लेकिन मन का सारा रिश्ता-नाता तहस-नहस हो जाता है।"[66]

“बस यह समझो कि प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी कुछ ही पलों या क्षणों के लिए ही सही, किसी न किसी का ईश्वर हुआ करता है। ऐसा एक नहीं, कई बार हो सकता है। आखिर ईश्वर है क्या? मनुष्य के श्रेष्ठतम का प्रकाश ही तो? और यह प्रकाश प्रत्येक मनुष्य के भीतर होता है। लेकिन फूटता तभी है जब किसी को कातर, बेबस, निरुपाय और प्रताड़ित देखता है।”[67]

“एक प्रश्न मेरे मन में बराबर गूंजता रहता है तब भी और अब भी कि क्या मनुष्य का मनुष्य होना ही काफी नहीं है? फिर उसे वर्णों में क्यों बांटा गया? क्यों कहा गया कि यह क्षत्रिय है, यह ब्राह्मण है, यहां वैश्य, यह शूद्र।”[68]

“मरता वही है, जो पैदा होता है। जो पैदा नहीं होता, वह मरेगा कैसे? जैसे, स्वर्ग! न वहाँ कोई पैदा होता है, न मरता है। पता नहीं, कोई जीता भी है या नहीं। वह बंजर प्रदेश है। यह मर्त्यलोक है। इसी को सृष्टि कहते हैं। जीवन यहीं है और जीवन जीने के लिए होता है। इसलिए होता है कि जिया जाएरस लेकर, मजे लेकर। इसलिए नहीं कि मरते दम तक रोते रहें, कराहते रहें, तड़पते रहें, आह-ऊह करते रहें।

तो मरने की चिन्ता से जीना स्थगित मत करो। मरना जब होगा, तब होगा। इसके पहले जितना और जैसे जी सको, जियो – मस्ती से ताकि कोई पछतावा न रहे। हाँ, दूसरे के जीने में खलल न पड़े, इतना ध्यान रहे। रही बात द्वारका के नष्ट होने की, तो बेटा होता ही इसलिए है कि बाप के किए-कराए पर पानी फेर दे, उसके बने-बनाए घरौंदे को तोड़-फोड़ दे। सम्भव है, इसके बाद जो बने, इससे बेहतर बने। और टूटेगा नहीं, तो बनेगा कहाँ से?”[69]

“अमूमन सच को विरोध ही का नहीं, तिरस्कार या बहिष्कार तक का सामना करना पड़ा है और आज की मुश्किल जिंदगी में अपने को आसानी से दूसरे के निशाने पर लाकर खड़ा कर देना नासमझी है।”[70]

“और मौजूदा व्यवस्था में चालाकी उनके हिस्से पड़ी है जो संपन्न हैं; भय, लिहाज और विनय केवल उनमें हैं, जो गरीब हैं।”[71]

“ऐसे ही आम आदमी की मुश्किलें आम आदमी की हैं, वे खुद क्यों नहीं लड़ते? दूसरों को क्या पड़ी है जो उनके लिए शहीद होने आएं?”[72]

“अगर चाहने से होता तो पिछले खाड़ी युद्ध के दिनों में अस्सी चाहता था कि अमरीका का 'व्हाइट हाउस' इस मुहल्ले का 'सुलभ शौचालय' हो जाए ताकि उसे 'दिव्य निपटान' के लिए 'बहरी अलंग' अर्थात् गंगा पार न जाना पड़े... मगर चाहने से क्या होता है ?”[73]

“धूमिल काव्य विद्रोहियों के लिए परशुराम था और उसकी जीभ फरसा!”[74]

“रामजी राय को कई चीजों से परहेज है – खड़ी बोली से, फूलमाला और माइक से, मंच और लाउडस्पीकर से : उन्हें भोजपुरी गालियों का माइक टायसन कहा जाता है।”[75]

“मुझसे बड़ा अभागा कौन होगा कि जिस कथा का आरंभ मंगलाचरण से करना चाहिए, उसकी शुरुआत श्रद्धांजलि से करनी पड़ रही है। खैर यदि विधना को यही मंजूर है तो यही सही।”[76]

“यह एक हादसा था और हादसा न हो तो जिंदगी क्या?”[77]

“उन्होंने नतीजा निकाला कि जीवन के अनुभव से जीवन बड़ा है। जब जीवन ही नहीं, तो अनुभव किसके लिए।”[78]

“पापा मेरे लिए लड़का ऐसे ढूंढ रहे हैं जैसे कोई गाय के लिए सांड ढूंढता है।”[79]

“उन्हीं से मैंने देखा कि मर्द एक बैल है जिसे मुश्तकिल खूंटा चाहिए – अपने विश्राम के लिए!”[80]

“कि शरीफ इंसान का मतलब है निरर्थक आदमी; भले आदमी का मतलब है 'कायर' आदमी। जब कोई आप को 'विद्वान' कहे तो उसका अर्थ 'मूर्ख' समझिए और जब कोई 'सम्मानित' कहे तो 'दयनीय' समझिए।”[81]

“चिंता उसकी होती है जिससे मोह होता है, प्रेम होता है; जिससे प्रेम ही नहीं, परिचय और संबंध ही नहीं, उसकी क्या चिंता? खेत भी उसे पहचानते हैं जो उनके साथ जीता मरता है। वे खेतों को क्या पहचानेंगे, खेत ही उन्हें पहचानने से इनकार कर देंगे!”[82]

“भ्रम और भरोसा यही है जिंदगी के स्त्रोत! इन्हीं स्त्रोतों से फूटती है जिंदगी और फिर बह निकलती है – कलकल-छलछल!”[83]

“कभी-कभी लगता है कि यह अलग-अलग दो सोते नहीं है। सोता एक ही है – उसे भ्रम कहिए या भरोसा। यह न हो तो जीना भी न हो।”[84]

“लेकिन यही दुनिया का और दुनिया के चलते रहने का कायदा रहा है – कि पैदा हुए हो तो जियो। जीना तुम्हारा कर्तव्य है। कर्तव्य माने क्या? विवशता। किसी ने यह नहीं पूछा खुद से कि किसके लिए जीना है! वह पैदा होने के बाद से जब तक जी रहा है, जीता रहता है! मरने के दिन तक। मरने के दिन बाप बेटे के हाथ सारा कुछ सौंप जाता है जो उसके पास रहता है कि लो संभालो अब। मैं चला!”[85]

इस प्रकार के सूक्तिपूर्ण वाक्य आपके कथा वाङ्मय में सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। यह ऐसे वाक्य है जिनसे जीवन संबंधी दर्शन को समझा जा सकता है। आपकी खूबी यह है कि इस प्रकार के वाक्य उनकी रचनाओं में सहज-स्वाभाविक रूप में अन्तर्भूत हुए हैं। रचनाओं के कथानक के क्रम में यह वाक्य इस तरह से प्रविष्ट होते हैं कि इसमें किसी तरह के नकलीपन का आभास नहीं होता। कहना न होगा कि इन विशेष प्रकार के वाक्यों ने लेखक की साहित्यिक कृतियों को और अधिक पठनीय और मनभावन बनाने में मदद की है।

5.2.8 कोष्ठकों का प्रयोग

विवेच्य कृतिकार के लेखन कर्म की एक विशिष्टता यह है कि वे अपने रचनाकर्म में अनेक जगह कोष्ठकों का यथायोग्य प्रयोग करते हैं। उनकी कहानियों और उपन्यासों में ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जहां कोष्ठकों का सटीक प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ – "सिद्दीकी को न तो इन सारे पचड़ों और पेचों से मतलब था और न ही इससे कि वाकये की वजह क्या है ? पुरानी रंजिश? (जैसाकि थाने की रपट बताती है) या 'कन्या महाविद्यालय' में पढ़नेवाली लड़की जो मुजरिम की दूर की रिश्तेदार है और घायल नेता जिसकी आबरू लूटना चाहता था ? (जैसा कि वकील बताता है) या मुनाफेवाला वह खास ठेका जिस पर दोनों ठेकेदारी करनेवाले छात्रनेता दावा कर रहे थे ? (जैसा कि नगर के लोग बताते हैं)"[86]

"लालसाएं शुरू होती हैं आसमान से और आ जाती हैं जमीन पर। और यह मांग, मांग का यह राग क्या (क्या कविता मांगों से नहीं पैदा हुई है?) बहुत पहले डोमों के ही किसी पुरखे के कंठ से फूटा होगा।"[87]

"उसके पिता उसी के शब्दों में 'कन्ट्रैक्टर' (मेरे ठेकेदार कहने पर वह नाराज़ हुआ था) हैं।"[88]

"हाय! वह जोर से बोला। मेरी समझ में न आया कि इसमें 'हाय' कहने की क्या जरूरत है? कौन सी गाज़ गिर पड़ी है उसके या मेरे सिर? (यह बाद में ध्यान आया कि 'हलो' के बाद 'हाय' मैं कहीं और भी सुन चुका हूं – शायद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के लड़के-लड़कियों के मुंह से! तो यह 'हलो' का ही बिल्कुल नया रूप है!) [89]

(कहना मुश्किल है कि बाइक साइकिल से लड़ी या साइकिल बाइक से) ऐन वक्त पर कासी गुरु ने ऐसा ब्रेक मारा कि बाइक स्टैंड स्टील!"[90]

"ऐ दुनियावालों! अगर तुम्हारे घर कोई कन्या है, कुंवारी है और सयानी हो चुकी है, हाई स्कूल पास या फेल है, चिट्ठी-पत्री लिखना सीख गई है (भले प्राणनाथ को प्राड़नाथ लिखते हुए

उसकी कुसलता चाहती हो), अपनी सहेली के घर ज्यादा आने-जाने लगी है और उसके भाई के साथ एक-आध बार पकड़ी गई है और आपको अपनी नाक की चिंता होने लगी है तो घबडाइए नहीं, इधर आइए।"[91]

'काशी का अस्सी' में अनेक जगहों पर कोष्ठकों का प्रयोग हुआ है। विशेष कर जब लेखक किसी बात में हास्य-व्यंग्य का पुट देना चाहता है तब कोष्ठक चिन्ह का प्रयोग होता है। इन कोष्ठकों के कारण समूचे उपन्यास में हास्य उत्पन्न करने में लेखक सफल हुए हैं। हिंदी वाङ्मय में शायद ही ऐसा कोई रचनाकार होगा जिसने कोष्ठक चिन्हों का इतना अचूक प्रयोग किया हो। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं – "मित्रो, अस्सी पर मेरे दो मित्र थे – हरिद्वार और रामवचन; जिनके लिए ग्लोब की राजनीति उनकी हथेली पर रखे हुए पारदर्शी आँवले की तरह थी। मैंने जबसे होश सँभाला था तबसे इन्हें चौराहे पर ही पाया था। अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि दोनों बारी-बारी अस्सी से चल बसे । (अस्सी से चले, बिहार में बसे। ईश्वर उनकी आत्मा को – जो यहीं चौराहे पर भटकती रहती है – शान्ति दे।)

'लालू ने सभी ठाकुरों में लालटेन (चुनाव चिह्न) बँटवाई थी।'

'गैर लाइसेंसी बाजों (तमंचा) का बंदोबस्त भी है।"[92]

"गाहक हिंदू होने लगे इस बीच, आलू, भिंडी, करेला, टमाटर, कोहड़ा (मोहल्ले की सबसे प्यारी सब्जी-पूरी प्रेम के कारण) कद्दू, गोभी मुसलमान हो गए।"[93]

"(इस आवाज के साथ-साथ दूसरे कोने से एक फुसफुसाहट भी हुई जिसे भला आदमी अनसुना कर जाता है। एक अपरिचित और दूसरे परिचित स्वर के बीच संवाद – 'ई कौन है बे ?' 'लेखक हैं भोंसड़ी के', 'लिखता क्या है ?' 'हमारी झाँट । जो हम बोलते हैं, वही टीप देता है।' 'अरे, वही तो नहीं देख तमाशा लकड़ीवाला ?' 'हाँ वही। देखो तो कितना शरीफ, लेकिन हरामी नम्बर एक)।"[94]

गौरतलब है कि कोष्ठक का प्रयोग कर लेखक अपने आप पर भी व्यंग्य करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि काशीनाथ जी कोष्ठकों का उचित उपयोग करने की कला में सिद्धहस्त हैं।

“सहस्त्रनाम में एक नाम और जुड़ गया इधर जबकि अखबार में गया की जगह 'गधा' छप गया था (सूचना सौजन्य: सूबेदार सिंह) तो श्री श्री एक हजार एक।”[95]

“उनके गुरु हुए प्रो. शुकदेव सिंह – घृणा के प्रचारक ठाकुर श्रीनाथ सिंह के वंशधर आलोचक। ('वंशधर' को कुछ लोग 'विषधर' भी बोलते हैं)”[96]

“लेकिन संत लोग उन्हें स्पीडब्रेकर नहीं बोलते वह इतने मामलों में इतनी बार कचहरी से 'स्टे' ला चुके हैं कि संत उन्हें स्पीडब्रेकर के बजाय 'स्टेफ्री' (जो स्टे लाने के लिए फ्री हो) कहना ज्यादा पसंद करते हैं।”[97]

“कि हमारी गुजारिश है दुनिया से कि वह हमारे विकास कार्यों में अपनी पूंजी लगाए और आगे जाने में हमारी मदद करे। (तालियां। बजाइए न तालियां। क्या बउचट की तरह बैठे हैं भाई!)”[98]

“देखते ही डॉ. गया सिंह चिल्लाए, ‘देखो, देखो। पेल दिया बनारस में दिल्ली को।’ कहाँ टैम्पो और कहाँ अस्सी की 'डेलिवरी रोड'। ('डेलिवरी रोड' क्यों कहते हैं अस्सी रोड को? सड़क के गड्ढे देखिए। जनानियों को बच्चे पैदा करने के लिए अस्पताल जाने की जरूरत नहीं। रिक्शे पर बैठ के चल दें इस रोड से। ज्यादा नहीं, एक फलांग। लेबर पेन के साथ बच्चा बाहर।) इसी रोड पर उछलता-कूदता-धचके खाता टैम्पो चला-टिर्रर्र...टनन् फुर्रर्र । ‘रामजी भइया, क्या विचार है आपका?’

रामजी राय टैम्पो की तरफ देखते ही बोले, ‘बदी न सुदी, ससुरे के इक्कीसवीं सदी।’ (यह सुनते ही रामजी राय इतने खुश हुए कि उन्होंने बुल्लू को बीस रुपए का नोट पकड़ा दिया)”[99]

"प्रेस्टीज कुकर क्यों नहीं ले आते, सस्ता भी होता है और अच्छा भी। (जो बीवी से करें प्यार वह प्रेस्टीज से कैसे करें इंकार?)"[100]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथाकार ने अपने कथा वाङ्मय में अनेक स्थानों पर कोष्ठक चिह्नों का प्रयोग किया है। कहना न होगा कि इन चिन्हों का सही और सार्थक प्रयोग करने में लेखक को महारत हासिल है। दरअसल काशीनाथ सिंह की भाषा-शैली का अपना विशिष्ट मुहावरा है, लहजा है । इसीलिए हिन्दी गद्य के विशिष्ट शैलीकारों की पंक्ति में आपकी जगह सुरक्षित हो गयी है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काशीनाथ सिंह की भाषा भावानुसरिणी भाषा है जो अपने पात्र-प्रसंग और विवेचन के अनुरूप अभिजात्य रूप धारण करती है तथा मध्यमवर्गीय संस्कार एवं निम्नवर्गीय लोक जीवन की बेलौस प्रयोगधर्मिता को दर्शाती है। वे एक शब्दसिद्ध रचनाकार हैं इसमें कोई संदेह नहीं।

संदर्भ सूची

1. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:111
2. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:274/275
3. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:305
4. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:103
5. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:235
6. काशीनाथ सिंह, कहनी संपादक: धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश: भाग 1, पृष्ठ : 463/464
7. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:168
8. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:302
9. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ:29
10. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 11
11. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 12
12. रेवती रमण, दस्तावेज - 60, जुलाई-सितंबर, 1993, पृष्ठ: 69
13. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:213
14. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 13
15. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ : 22/23
16. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ : 16/17
17. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:292
18. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:376/377
19. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:41

20. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:18

21. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ:30

22. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:26

23. काशीनाथ सिंह, कहानी उपखान, पृष्ठ:290/291

24. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:117

25. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:156/157

26. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:20

27. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:26

28. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:60

29. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:47

30. मार्क्स एंगेल्स, लिटरेचर एंड आर्ट, भारतीय संस्करण, पृष्ठ:52

31. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:83

32. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:98

33. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:94

34. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ:102

35. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:317

36. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:164

37. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:30/31

38. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:196

39. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:223

40. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:331

41. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:362

42. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:18

43. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:62

44. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:172

45. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:279

46. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:354/355

47. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:356

48. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:43/44

49. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:54

50. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:134

51. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:143

52. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:146

53. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:148

54. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:155

55. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:156/157

56. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:172

57. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:290

58. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:300

59. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:317

60. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:93

61. काशीनाउपखान, पृष्ठ:297

62. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:376

63. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:29

64. काशीनाथ सिंह, महुआचरित, पृष्ठ:80

65. काशीनाथ सिंह, महुआचरित, पृष्ठ:98

66. काशीनाथ सिंह, महुआचरित, पृष्ठ:98

67. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ:50

68. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ:66

69. काशीनाथ सिंह, उपसंहार, पृष्ठ:102

70. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:46

71. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:46

72. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृष्ठ:112

73. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:12

74. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:17

75. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:28

76. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:35

77. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:12

78. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:15

79. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:44

80. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:51

81. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:86

82. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:105

83. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:136

84. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:136

85. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ:149

86. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:235

87. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:267

88. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:290

89. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान, पृष्ठ:381

90. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:69

91. काशीनाथ सिंह, पत्ता पत्ता बूटा बूटा, पृष्ठ:131

92. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:45

93. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:49

94. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:53

95. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:55

96. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:62

97. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:95

98. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:140

99. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:147

100. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृष्ठ:150

उपसंहार

मानव की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि समाज है। जब दो या उससे भी अधिक व्यक्ति आपस में संपर्क करते हैं तथा उनके बीच संबंध स्थापित होता है तब वे एक तरह से समाज का ही निर्माण करते हैं। व्यक्तियों के एकत्रित आने मात्र से समाज की स्थापना नहीं होती अपितु उनके बीच पारस्परिक संबंधों का होना अवश्यंभावी है। आधुनिक प्रगत युग में इसका अर्थ समूचे भू-लोक से लिया जा सकता है क्योंकि नवीनतम संचार प्रौद्योगिकी के युग में मानव दुनिया के अन्य व्यक्तियों से जुड़ते जा रहा है। अभिनव संचार माध्यमों का उपयोग कर हम पृथ्वी लोक में कहीं भी संबंध स्थापित कर सकते हैं। इसलिए कहा जाता है कि समाज किसी मकड़जाल की तरह उलझा है जिससे मनुष्य अंतर्संबंधों के जरिए अपनी जरूरतों को पूर्ण करता है।

मानव समुदाय में संस्कृति का स्थान सर्वोपरि है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का हिस्सा बन कर बहुत कुछ सीखता है। प्रकृति से मानव ने विशिष्ट तत्वों को ग्रहण किया है जिसके परिणामस्वरूप वह संस्कृति को निर्मित कर सका है। उसके पास ऐसी खूबियां हैं जिनके चलते कहा जा सकता है कि पृथ्वी पर विचरण करने वाले अन्य जीवों के बनीस्पत वह श्रेष्ठ कहलाता है।

काशीनाथ सिंह की कथा कृतियों में संस्कृति और समाज के विविध आयाम दृष्टिगोचर होते हैं। अद्यतन काल में भारतीय समाज एवं संस्कृति के बदलते संदर्भों को वे अपने उपन्यासों-कहानियों में विवेचित करते हैं। विशेषकर सन् साठ के उपरांत समूचे हिंदी संसार में एक बदलाव की बयार बहने लगी थी। इन बदलावों को वे सही परिप्रेक्ष्य में खोजते हैं और उन्हें

सटिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। आपकी विगत छह दशकों से हिंदी कथा लेखन की परंपरा में सक्रिय भागीदारी निश्चित रूप में गौरवपूर्ण है। कथाकार ने अपने लेखन का आगाज़ कहानियों से किया था। उस दौर के चर्चित कहानीकारों में वे शामिल किए जाते हैं। लेखनकर्म के शुरूआती दौर में आपने 'अपना मोर्चा' नामक उपन्यास भी लिखा था। लेखनकर्म के उत्तरार्ध में उन्होंने कई अहम उपन्यासों का सृजन किया। उल्लेखनीय बात यह है कि वर्तमान समय में भी वे साहित्य सृजन में बराबर क्रियाशील हैं और साहित्यिक परिचर्चा में सम्मिलित हैं। हिंदी कथा साहित्य में आपकी सशक्त मौजूदगी देखी जा सकती है।

दरअसल संवेदनहीनता और संवादहीनता के इस कठिन समय में जहां हम रिश्तों-नातों की अहमियत को दरकिनार कर रहे हैं। आज एकाकीपन, अजनबीपन, संत्रास, घुटन, निराशा जैसी भावनाएं अपने उत्कर्ष पर हैं। शहराती आदमी अपने आप में ही सिकुड़ते जा रहा है। तेज गति से बढ़ते औद्योगिकीकरण ने आम आदमी को आत्मकेंद्रित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। ऐसे विपरीत परिस्थितियों में आपके उपन्यास-कहानियां समाज की वास्तविक तस्वीर पेश करती है। उनकी रचनाओं में सामाजिक विघटन, टूटते परिवार, उत्पीड़न, जातिगत समस्याएं आदि का यथार्थपरक चित्रण हुआ है।

आपकी कहानियों और उपन्यासों में बिखरते परिवार और संघर्षों के चित्र स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। आर्थिक बदहाली में कुटुम्बों में बिखरावपूर्ण स्थितियां उत्पन्न होती हैं और इस कारण पति-पत्नी के बीच रिश्ते में कटुता पैदा हो जाती है। आधुनिक युग में स्त्री-पुरुष के संबंधों का यह तनाव रचनाकार के कथा वाड़मय में आया है। आपकी 'अपने घर का देश', 'जरा सी बात' जैसी कहानियां पति और पत्नी के रिश्तों में आए तनाव को दर्शाती हैं।

आधुनिक युग में वृद्धों की समस्याओं में दिन-ब-दिन वृद्धि हो रही है। बुढ़ापा मानव जीवन का एक ऐसा समय होता है जब वे अक्सर एकाकीपन महसूस करते हैं। मानव जीवन में वृद्धावस्था में इस दंश को सहना काफी मुश्किल है। हमारे समाज में कई वृद्ध व्यक्ति अकेलेपन से पीड़ित हैं। बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य के फलस्वरूप बूढ़े बेमतलब के समझे जाते हैं। उनके प्रति हमारा बर्ताव बेहद अमानवीयता से भरा है। आपकी रचनाएँ वृद्धजनों की इस चुनौती को उजागर करती हैं। आपकी कतिपय कहानियों में जीवन के इस दर्द को दर्शाया गया है। 'एक लुप्त होती हुई नस्ल', 'विलेन', 'कहानी सरायमोहन की', 'रेहन पर रग्घू' जैसी रचनाएं दर्शाती है कि समाज में वृद्धजनों की दशा कितनी ख़राब है। अपने जीवन के अंत के करीब आने के बाद, रघू अकेला महसूस करते हैं। उनका नजरिया युवा पीढ़ी से अलग है। वे पारंपरिक संस्कृति और आधुनिकतावादी सोच में इतने उलझे हुए हैं कि उन्हें समझ ही नहीं आ रहा कि आगे कैसे बढ़ें।

सत्तर के दशक के बाद भारतीय राजनीति का स्तर तेजी से घटने लगा था और पूरे देश में भ्रष्टाचार अपने चरम पर था। दरअसल विवेच्य कहानीकार ने उस समय की राजनीतिक अराजकता के संदर्भ में कई कहानियाँ लिखीं हैं। यह ऐसी कृतियां हैं जिनमें हम उनकी राजनैतिक और सामाजिक मान्यताओं के बारे में जान सकते हैं। उनकी राजनीतिक कहानियों का मूल स्वर व्यंग्यात्मक है। 'तीन काल कथा', 'मिसाजातकम्' जैसी कहानियों में राजनीतिक विडंबनापूर्ण स्थिति दिखाई गई है। 'वे तीन घर' और 'मंगलगाथा' जैसी कहानियां पाखंडी नेताओं के चरित्र को उजागर करती हैं जो आजादी के बाद सत्ता में आए थे।

सामंतवाद के कारणवश भारतवर्ष की सामान्य जनता अनगिनत विपत्तियों को सहने के लिए विवश हुई थी। सामंती रवैये ने आदमी और आदमी के बीच की खाई को और अधिक चौड़ा

कर दिया था। इस दृष्टिकोण को चित्रित करने के लिए आपने 'सदी का सबसे बड़ा आदमी', 'बाइस्कोप का लल्ला' जैसी विलक्षण कहानियां लिखीं जो दर्शाती हैं कि आजादी के उपरांत भी भारतवर्ष में सामंतवाद की जड़ें मौजूद थीं। इसके अलावा 'जोतसी ने कहा था' में रेखांकित किया गया है कि कैसे सामंती रवैया व्यक्ति के तबाही का कारण बन सकता है। 'रेहन पर रग्घू' जैसा उपन्यास दर्शाता है कि आज भी भारतीय समाज में प्राचीन सामंतवादी संस्कारों के अवशेष बचे हैं।

आधुनिक युग में देश की आजादी के पश्चात् बहुत बड़ी मात्रा में शहरीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। इसीलिए अनेकानेक लोग आर्थिक बदहाली से जूझते हुए दिखाई पड़ते हैं। आपकी 'बैल', 'तलाश', 'काशी का अस्सी' आदि रचनाएं अर्थगत समस्याओं के कारण उपजी लाचारी का मार्मिक चित्रण करती हैं। लोगों में स्वार्थांधता और पैसों का लालच दिन-ब-दिन बढ़ता गया है। इसके आगे समस्त मानवीय मूल्य धराशाई हो रहे हैं। मानवीय मूल्यों के ध्वस्तीकरण को वे उसके समूचे यथार्थ के साथ अपने कथा साहित्य में रचते हैं। आपने अपनी रचनाओं में आम आदमी की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है। उनकी कहानियों में आर्थिक तंगी से जूझ रहे साधारण आदमी के संघर्ष को वाणी मिली है। 'अपने लोग', 'मौज मस्ती के दिन' तथा 'रेहन पर रग्घू' जैसी कृतियों में आम आदमी की इस विवशता को दर्शाया गया है।

वर्तमान समय में बेरोज़गारी की समस्या युवा वर्ग को भावनात्मक रूप से ग्रसित करती है। काफी बड़ी संख्या में युवक युवतियां इसकी मार झेल रही है। लेखक की 'लोग बिस्तरों पर', 'रेहन पर रग्घू', 'मुसइ चा' जैसी रचनाएं शिक्षित युवाओं में व्याप्त मोहभंग तथा क्षोभ को अभिव्यंजित करती हैं। बेकारी व्यक्ति को आत्महीन बनाती है इसका यह कलाकृतियां उत्तम उदाहरण कही जा सकती हैं।

देश में भ्रष्टाचार का बढ़ता आलेख एक जटिल सामाजिक समस्या बन गयी है। राजनीति और प्रशासन में चरित्रहीनता अपने चरम पर है। यह चिन्ता का एक प्रमुख बिंदु बना हुआ है। मौजूदा हालात में थोडे से नेता और नौकरशाह बचे हैं जो इस बीमारी से स्वयं को दूर रख सके हैं। 'कविता की नई तारीख', 'माननीय होम मिनिस्टर के नाम', 'अधूरा आदमी' आदि रचनाएं सरकारी कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार को दर्शाती हैं।

समाज की संरचना में सांस्कृतिक मूल्यों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। साहित्य की समझ के लिए सांस्कृतिक स्वरूप को समझना जरूरी है। आपकी रचनाओं में वर्तमानकालीन सांस्कृतिक जीवन के विविध आयाम सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। आजादी से पूर्व भारत़ एक कृषि आधारित प्रदेश रहा है। स्वाधीनता के उपरान्त बड़ी संख्या में गांवों से नगरों-महानगरों की ओर स्थानांतरण होने लगा था। हालाँकि देश की आज़ादी के बाद गाँवों से शहरों की ओर बड़े पैमाने पर आवाजाही हुई, लेकिन देश के अधिकांश निवासी अभी भी गाँवों में रहते हैं। उस सभ्यता की विशिष्ट जीवन शैली, प्रथाएं, आदतें, रीति-रिवाज और मान्यताएं ग्रामीणी क्षेत्रों के अंतर्गत शामिल हैं। आपकी 'स्वागत', 'गरीबी में आटा गीला' कहानियां ग्रामीण जनता की क्रान्तिकारी चेतना की गाथा है। नगरों के बनने से गाँवों का उजड़ना इन कहानियों का विषय है। नई सदी में हमारे पारंपरिक मूल्यों का ध्वंस होते जा रहा है और उनके एवज में स्थापित हो रहे नवीनतम मूल्य सामाजिक जीवन के ताने बाने को उधेड़ रहे हैं। शहराती जीवन में फैल रही अपसंस्कृति का बुरा असर स्पष्ट रूप में सर्वत्र दिखाई देता है। गांवों, नगरों और महानगरों में फैल रही अपसंस्कृति का चित्रण 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में हुआ है। ग्राम जीवन में हो रहे रूपांतरण एवं नगरीय जीवन में मानवीय मूल्यों में हो रहे विघटन को इस उपन्यास में युगीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है।

मनुष्य का प्रकृति से स्वाभाविक रिश्ता है। आपकी कृतियों में प्रकृति के साथ मनुष्य के गहरे संबंधों की व्याख्या की गई है। लेखक की 'निधन', 'सुख', 'दलदल', 'जंगलजातकम्' आदि कलाकृतियां मनुष्य और प्रकृति के आपसी संबंध को दर्शाती हैं। आधुनिक मनुष्य की विडंबना है कि वह निसर्ग को तहस नहस कर रहा है क्योंकि वह अपने क्षुद्र लोभ से अंधा है।

भारतीय समाज विभिन्न जातियों और वर्णों में विभक्त है। जाति के आधार पर बंटवारा शताब्दियों से चला आ रहा है और आज भी यह विभाजन समाज में व्याप्त है। वर्तमान स्थिति में देश में यह परेशानी का सबब बना हुआ है। रचनाकार ने समाज में जातिगत समीकरण कैसे काम करते हैं इसका यथार्थवादी अंकन किया है। उन्होंने 'चोट', 'कहानी सरायमोहन की' आदि कहानियों में जात पात के बदल रहे रूप को प्रस्तुत किया है। समूचे देश में नवीन आर्थिक ढांचे ने जातिवाद के स्वरूप को बदल दिया है। 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू' आदि उपन्यासों के जरिए हम जान सकते हैं कि पारंपारिक रूप से चली आ रही जातीयता को नई वित्त व्यवस्था ने किस कदर उखाड़ फेंका है। समाज में विद्यमान अंधविश्वास, सड़ीगली परंपराएं-मान्यताएं, दकियानूसी विचार मनुष्य के विकास में बाधक सिद्ध हुए हैं। ईश्वर संबंधी सदियों पुरानी मान्यताओं से चिपके रहने से समाज विकास के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता। 'दौलत का दुखड़ा', 'बांस' कहानी में वर्णित व्यक्ति इन समस्याओं से घिरे दिखाई पड़ते हैं।

पितृसत्तात्मकता को वरियता देने की वजह से महिला वर्ग को मानसिक एवं शारीरिक उत्पीड़न से गुजरना पड़ता है। सदियों से वह पुरुष के दमनकारी नीतियों को सह रही है। यह व्यवस्था सदैव लोकतान्त्रिक मूल्यों के विरोधी रही है। कथाकार की 'मेरा भी हाथ है', 'वर चाहिए तो

इधर आइए', 'बालकांड' आदि कहानियां पुरुष वर्चस्ववाद का खुलासा करती हैं। लेखक ने पितृसत्तात्मक संस्कृति के दोषों तथा उपस्थित क्षुद्र मानसिकता को इन रचनाओं में अभिव्यंजित किया है। 'महुआचरित' की महुआ समाज में प्रचलित संकीर्णतावादी सोच की शिकार हुई है। यह उपन्यास प्रश्न करता है कि आखिर देह के आगे हमारे समस्त रिश्ते-नाते क्यों तबाह हो जाते हैं?

आज के जटिलताओं से भरे युग में प्रेम के मायने बदल गए हैं। स्त्री-पुरुष प्रेम में असमंजस की स्थितियां उत्पन्न हुई हैं। आपकी 'बैलून', 'पहला प्यार' जैसी कृतियां किशोरावस्था में विचरण करने वाले युवक के पहले प्रेम को व्यक्त करती हैं। युवक के मन में निर्मित स्त्री के देहाकर्षण को यहां प्रस्तुत किया गया है। 'बीमारी' कहानी पती और पत्नी के प्रेम संबंधों को अभिव्यक्त करती है। 'रेहन पर रग्घू' में नए जमाने के स्वार्थी और मतलबपरस्त प्रेम का जायजा लिया गया है। इस उपन्यास में चित्रित संजय जैसे अतिमहत्वाकांक्षी युवक के लिए प्रेम का मतलब है अपना उज्ज्वल करियर। इसके लिए वह अपनी पत्नी का भी किसी सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करता है। 'महुआचरित' में भी नए युग के मतलबी प्रेम का प्रतिपादन हुआ है। उपन्यासकार ने युवा चरित्रों के जरिए इक्कीसवीं सदी में आए बदलावों को यथार्थ ढंग से अभिव्यक्त किया है।

राजनीति के गलियारे में बीसवीं सदी का अंतिम दशक अत्यंत उलटफेर करने वाला रहा है। इसमें देश में आर्थिक सुधारों को लाने हेतु भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाजे दुनियाभर के लिए खुले कर दिए गए थे। इसके बाद समग्र देश नवीन बदलावों को आत्मसात करना शुरू करता है। इसके तहत इंसान की इंसानियत का अवमूल्यन द्रुत गति से हुआ है। आपके नवीनतम

उपन्यासों में उपभोक्तावादी संस्कृति की विकृतियां तथा आदमी की जिंदगानी से गायब होते आत्मीयता, प्रेम, सौहार्द्र जैसे गुणों की व्याख्या हुई है।

मानव समुदाय की मिलीजुली संस्कृति, लोक संस्कृति कहलाती है। आपकी रचनाओं में और विशेष कर 'काशी का अस्सी' में बनारस के लोक का रंग-रूप दृष्टिगोचर होता है। भूमंडलीकरण एवं बढ़ते बाजारवादी सभ्यता के विस्तारस्वरूप हमारी शताब्दियों पुरानी लोक संस्कृति लुप्तप्राय हो रही है। इस नव युग में नवीन जीवनशैली के परिणामस्वरूप हम स्वकेंद्रित होते जा रहे हैं। वाणिज्यिक फायदे के लिए निर्मित नव विश्व योजना ने हमारी मेल-जोल वाली संस्कृति को विनष्ट कर दिया है। इस नवीन सदी में शीघ्रता से विलुप्त होती संस्कृति के स्वरूप को लेखक ने अपनी रचनाओं में वाणी दी है। इस नवीन व्यवस्था के कारण जो विकास हो रहा है वह बृहत् परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के हित में कितना है इस सवाल को भी उपन्यासकार उठाता है। तथाकथित विकास के नाम पर जिस नवसंस्कृति का उदय हुआ है इस कारण अमरीकी वर्चस्ववाद को बढ़ावा मिल रहा है। इससे देश की गरीब जनता पीस रही है। भूमंडलीकरण के प्रभाव से पश्चिमी संस्कृति और खासकर अमरीकीकरण को हम पर लादने के प्रयत्न हो रहे हैं और यह नवीन जीवन पद्धति हमारे विविधता के स्वरुप को नकारती है। 'काशी का अस्सी' जैसी कलाकृति सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का प्रतिरूप रचती है। कथा वाड़मय में मिथकों का सटिक प्रयोग लेखक की रचनात्मकता को नई ऊंचाई पर पहुंचाती है। 'उपसंहार' में मिथकीय शैली का प्रयोग कर वे वर्तमान राजनीतिक विसंगतियों का दर्शन कराते हैं। इसके अलावा भी आपके रचनाकर्म में मिथकीय चरित्रों का अचूक इस्तेमाल दृष्टिगत होता है।

समकालीन रचनाकारों में आप एक उत्कृष्ट गद्य लेखक के रूप में ख्यात हैं। हिंदी साहित्य में गद्य लेखकों में आप भाषा-शैली की दृष्टि से एक अनुपम कथाकार हैं। आपका अंदाज-ए-बयां अन्य लेखकों की तुलना में अलग विधान रचता है। लेखक की यह खासियत रही है कि वे स्वयं को दोहराते हुए नहीं दिखते। बल्कि उन्होंने विषय वस्तु एवं शिल्प विधान के स्तर पर नवीन-नवीन प्रयोग कर अपने पाठकों को चौकाया है। आपके सृजनात्मकता की खूबी है कि भाषा-शैली के विभिन्न पैटर्न आपकी रचनात्मकता के अंग बने हुए हैं।

कहना न होगा कि काशीनाथ सिंह एक प्रयोगधर्मी साहित्यकार हैं। आपकी साहित्यिक भाषा के संदर्भ में कहना पड़ेगा कि जो भाषा की कारीगरी आपके रचनाओं में दिखती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी समग्र कृतियों को पढ़कर यह कहना मुश्किल है कि यह समूचा साहित्य किसी एक लेखक की लेखनी से रचा गया है। वे ऐसे लेखकों में निःसंदेह शुमार हैं जिन्होंने हिंदी कथा लेखन को अपनी लेखनशैली से समृद्धशाली किया है। रचनात्मकता की उत्कृष्टता और मानवीय सरोकारों को दर्शाने वाला आपका कथा साहित्य हिंदी साहित्य की अपूर्व निधि कही जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ सूची

1. काशीनाथ सिंह, लोग बिस्तरों पर (1968), अभिव्यक्ति प्रकाशन, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद।
2. काशीनाथ सिंह, सुबह का डर (1975), रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद।
3. काशीनाथ सिंह, आदमीनामा (1978), प्रकाशन संस्थान, 4715/21 दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली।
4. काशीनाथ सिंह, नयी तारीख (1979), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
5. काशीनाथ सिंह, कल की फटेहाल कहानियाँ (1980), प्रतिमान प्रकाशन, शाहजहांपुर, इलाहाबाद।
6. काशीनाथ सिंह, प्रतिनिधि कहानियाँ (पेपर बैक 1984), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली ।
7. काशीनाथ सिंह, सदी का सबसे बड़ा आदमी (1986), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली ।
8. काशीनाथ सिंह, दस प्रतिनिधि कहानियाँ (1994), किताब घर, 24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।
9. काशीनाथ सिंह, कहनी उपखान (समग्र कहानियाँ) (2003), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।

10. काशीनाथ सिंह, संकलित कहानियाँ (2008), नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, एन?--5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली।
11. काशीनाथ सिंह, कविता की नई तारीख (2010) हार्पर कॉलिंस हिन्दी, नई दिल्ली।
12. काशीनाथ सिंह, मेरी प्रिय कहानियाँ (2011), राजपाल एंड संस, दिल्ली।
13. काशीनाथ सिंह, खरोंच (2014) साहित्य भंडार, इलाहाबाद।
14. काशीनाथ सिंह, पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा (2016) राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
15. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा (1972), रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद इलाहाबाद फिर संभावना प्रकाशन, हापुड़ और राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से पेपर बैंक संस्करण 1985 में और सजिल्द संस्करण 2007 में।
16. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी (2002), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
17. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू (2008), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
18. काशीनाथ सिंह, महुआ चरित्र (2012), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
19. काशीनाथ सिंह, उपसंहार (2014) : राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
20. काशीनाथ सिंह, याद हो कि न याद हो (1992), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
21. काशीनाथ सिंह, आछे दिन पाछे गए (2004), वाणी प्रकाशन, 21--ए, दरियागंज नई दिल्ली।

22. काशीनाथ सिंह, घर का जोगी जोगड़ा (2007), राजमकल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।

सहायक ग्रंथ सूची

1. अखिलेश मिश्र, धर्म का मर्म (2003), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. आनंद श्रीवास्तव, काशी का अस्सी: एक मूल्यांकन (2013), आनंद प्रकाशन, कोलकाता।
3. सं. आशुतोष मोहन, काशी का अस्सी पाठ-पुनः पाठ (2015), साहित्य भंडार, इलाहाबाद।
4. सं. डॉ. ओम प्रकाश झंवर, डॉ. ललिता राठौड़, भारतीय संस्कृति के विविध आयाम(2016), विद्या प्रकाशन, गुजैनी, कानपुर।
5. काशीनाथ सिंह, गपोड़ी से गपशप (2013), संपादक-पल्लव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है (1996), किताबघर, 24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।
7. काशीनाथ सिंह, लेखक की छेड़छाड़ (2013), किताबघर, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
8. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, कथा शिखर काशीनाथ सिंह (2021), कौटिल्य बुक्स प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली।
9. गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास-2 (2011), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास-3 (2014), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास (2002), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

12. डॉ. नरेंद्रनाथ सिंह, समकालीन हिन्दी कहानी का सामाजिक सरोकार (2010), आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्टीब्यूटर, गाजियाबाद।
13. नामवर सिंह, कहानी नई कहानी(1973), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
14. प्रभाष जोशी, हिंदू होने का धर्म (2003), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
15. डॉ. पुष्पपाल सिंह, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास (2012), राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
16. मैनेजर पांडेय, साहित्य और समाज शास्त्रीय दृष्टि (2016), आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा।
17. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास (2000), राधाकृष्ण प्रकाशन, जगतपुरी, दिल्ली।
18. डॉ. योगेश देसाई, गरबीली गरीबी के कथाकार काशीनाथ सिंह (2012), विकास प्रकाशन, कानपुर।
19. डॉ. रमेश जगताप, काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य (2006) चंद्रलोक प्रकाशन, बसंत विहार, कानपुर।
20. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय (1956), साहित्य अकादमी, दिल्ली।
21. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति, भाषा और राष्ट्र (2008), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
22. सं. विजय विजन, भारतीय संस्कृति, श्री नटराज प्रकाशन(2005), साउथ गांवड़ी एक्सटेंशन, दिल्ली।
23. सं. विभूति नारायण राय, कथा साहित्य के सौ बरस (2008), शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।

24. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति (1993), राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
25. श्यामाचरण दुबे, समय और संस्कृति (2005), वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
26. श्यामाचरण दुबे, भारतीय समाज (1985), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नेहरू भवन, नई दिल्ली।
27. सं. डॉ. सदानंद भोसले इक्कीसवीं सदी के शिखर उपन्यासों में संवेदना (2015), विकास प्रकाशन, कानपुर।
28. सुधीश पचौरी, इक्कीसवीं सदी का पूर्वरंग (2000), आत्माराम एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
29. डॉ. सुनीता कुमारी, नरेश मेहता का काव्य सांस्कृतिक मूल्यांकन (2007), अनंग प्रकाशन, दिल्ली।
30. सुनीता देवी, विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन (2007), लता साहित्य सदन, गाजियाबाद।
31. सुरेश पंडित, भूमंडलीकरण के दौर में समाज और संस्कृति,(2010), शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।

पत्र-पत्रिकाएं

1. सं. मनीष दुबे, कहन, अंक 4, 2000
2. सं. पल्लव, बनास, अंक-2, 2009
3. सं. कामेश्वर प्रसाद सिंह, चौपाल, अंक-1, 2014

कोश

1. रामचंद्र वर्मा, प्रामाणिक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य कुटिल, बनारस।
2. कालिका प्रसाद, बृहत् हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।
3. श्री नवल जी, नालंदा विशाल शब्द सागर, न्यू इंपीरियल बुकडिपो, नई सड़क, दिल्ली।
4. धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।
5. लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय', भारतीय संस्कृति कोश, राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
6. अरविंद कुमार और कुसुम कुमार, समांतर कोश, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली।